ज्वर

संदर्भ : -

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
नि. ,१ चि. ३	उ. तं. ३९	नि. २	२

ज्वर के सामान्य प्रश्न :-

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली ।
ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ।।
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये ।
प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च ।।
पूर्वरुपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम् ।
व्यासतो विधिभेदाच्च पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ।।
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम् ।
विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक्-पृथक् ।।
ज्वरावसृष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः।
प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः।।
याश्चापि पुनरावृत्तं क्रियाः प्रशमयन्ति तम् ।
जगद्धितार्थं तत् सर्व भगवन् ! वक्तुमर्हसि ।।

(च. चि. ३/ ४-९)

गुरु आत्रेय पुनर्वसु से अग्निवेश ज्वर का विस्तृत ज्ञान ग्रहण करना चाहते है । उन्होंने गुरु के सामने ज्वर संबंधीत जो प्रश्न उपस्थित किए है, उन प्रश्नों की व्याप्ति को देखकर यह समझ में आता है कि ज्वर के अलावा अन्य रोगों का अभ्यास करने के लिए भी ज्वर का अभ्यास सब से पहले करना नितांत आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है ।

शिष्य अग्निवेश ने गुरु आत्रेय पुनर्वसु के सामने ज्वर के संबंधित निम्न प्रश्न उपस्थित किए है ।

- ज्वर की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं प्रभाव क्या है ?
- कौन से कारणों से ज्वर उत्पन्न होता है ?
- ज्वर के पूर्वरुप कौनसे है ?
- किसके अधिष्ठान से ज्वर उत्पन्न होता है ?
- ज्वर के दोष-दूष्यों का बल कैसे होता है ?
- काल का ज्वर पर क्या प्रभाव होता है ?
- कौन से आत्मलक्षणों से ज्वर पहचाना जा सकता है ?
- विधी भेदों से ज्वर के विस्तार पूर्वक पृथक्-पृथक् कौन से लक्षण उत्पन्न होते है ?
- ज्वर की आमावस्था में कौन से लक्षण उत्पन्न होते है ?
- ज्वर की जीर्णावस्था में कौन से लक्षण उत्पन्न होते है ?
- ज्वर मुक्त होते समय कौन से लक्षण उत्पन्न होते है ?
- ज्वर मुक्ति के बाद कौन से पृथक्-पृथक् लक्षण उत्पन्न होते है ?
- ज्वरमुक्त पुरुष की कुछ काल के लिए कौन-कौन से विशिष्ट विषयों से रक्षा करनी चाहिए ?
- कौन-कौन से कारणों से फिर से ज्वर उत्पन्न हो सकता है ?
- पुनरावर्तक ज्वर के उपचार कौन से है ?

उपरोक्त प्रश्नों से यह स्पष्ट होता है कि ज्वर का अभ्यास व्यापक और सुक्ष्म स्वरुप में करना चाहिए । ज्वर के माध्यम से ही अन्य रोगों के अभ्यास के मार्गदर्शक ऐसे निदान एवं चिकित्सा के सिद्धांत प्रस्थापित किए है।

ज्वर की प्रकृति :-

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः।
देहिनं हि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ।।

(च. चि. ३/ १२)

शारीरिक-वात, पित्त, कफ और मानसिक-रज एवं तम दोष इन्हें ज्वर की प्रकृति कहा है । इनके दुष्ट होने पर ज्वर उत्पन्न होता है।

ज्वर का स्वभाव :-

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः ।
पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेनं कर्मणा ।।
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता.............।

(च. चि. ३/ १३)

ज्वर, क्षय, तम, पाप्मा इन सभी को यम स्वरुप कहा गया है । अपने-अपने दुष्कर्मो से कष्ट पानेवाले मनुष्यों के मृत्यु (पंचत्व) का कारण होने से ज्वर को “यम” स्वरुप कहा गया है।

ज्वर की प्रवृत्ति :-

.....प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात् ।
निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ।।

(च. चि. ३/ १४)

ज्वर के प्रथम उत्पत्ति को ज्वर की “प्रवृत्ति” कहते है। **“परिग्रह”** से

ज्वर की प्रवृत्ति होती है।

रुद्र के प्रंचड प्रकोप से ज्वर के प्रथम उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है।

ज्वर की पौराणिक कथा :-

द्वितीये हि युगे शर्वक्रोधव्रतमास्थितम् ।
दिव्यं सहस्त्रं वर्षाणामुसा अभिदुद्रुवुः ।।
तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनः ।
पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः।
पुनर्माहेश्वरं बागं ध्रुवं दक्षः प्रजापति : ।
यज्ञे न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ।।
ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्य आहुतयश्च याः ।
यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ।।
अधोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम् ।
रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ।।
सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानुसुरान् प्रभुः ।
बालं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम् ।।
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः ।
दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ।।
अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम् ।
तमृग्भिरस्तुवन् यावच्छैवे भवो शिवः स्थितः ।।
शिवं शिवाय भुतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः ।
भियाः भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः ।
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात् ।
क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ।।
तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि ।
जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तेषु च ।।

(च. चि. ३/ १५-२५)

ज्वर के उत्पत्ति का पौराणिक कथा संदर्भ चरक में वर्णन किया है। दुसरे (त्रेता) युग में भगवान् शिवजी ने अक्रोध अर्थात शांत रहने का व्रत लिया था । इस कारण वे ध्यान मग्न हो गये थे । इस ध्यान में विघ्न करने के लिए असुर चारों ओर दौडने लगे थे। इन्हें रोकने का प्रयास दक्ष प्रजापति ने नहीं किया । तद्नंतर दक्ष प्रजापित द्वारा एक यज्ञ का अनुष्ठान किया गया । देवताओं के कहने पर भी शिवजी को इस यज्ञ में आमंत्रित नहीं किया। शिवजी संबंधीत शैव ऋचाएँ, और आहुतीयाँ के बिना ही यज्ञ किया गया। शिवजी को समाधिकाल व्यतित होने के बाद यह बात समझ गयी । यह शास्त्र मर्यादों का उल्लंघन था। इस से शिवजी क्रोधीत हो गये। अपने तिसरे नेत्र द्वारा उन्होंने सर्व प्रथम असुरों को नष्ट किया। तद्नंतर क्रोधाग्नि से संतप्त तथा विनाशकारी विरभद्र नामक बालक को पैदा किया। इस बालक ने दक्षप्रजापति के यज्ञ का विनास किया। तिसरे नेत्र से उत्पन्न अग्निज्वाला देवता भी पिडित हुए। अग्निज्वाला से उस समय के सभी प्राणी जलने लगे और अपने प्राण रक्षा के लिए चारों दिशायों में दौडने लगे। तब डरकर सभी देवता एवं सप्तऋषी शिवजी के शरण में आकर उनके वेदोक्त मन्त्रों से हाथ जोडकर स्तुति करते रहे । शिवजी की उपासना करने से वे शान्त हो गये और उन्होंने कल्याणकारी रुप धारण कर लिया।

यज्ञ संहार के लिए उत्पन्न किए क्रोधाग्नि, जिसका भस्म ही शस्त्र था, तीन शिर थे, नौ नेत्र थे, सम्पूर्ण शरीर आग की लपटों की मालाओं से व्याप्त था, देखने को रौद्र स्वरुप था, जिसकी छोटी जाँघें और छोटा पेट था, ऐसा शरीरधारी क्रोध डरकर बोला की हे! देव अब में क्या करुँ? तब शिवजी ने उसे कहा की, तुम प्राणियों के **जन्मकाल में, मृत्यु के समय में तथा अपथ्य सेवन करने वाले प्राणियों में ज्वररुप में रहोगे।** इस तरह पृथ्वी लोक में ज्वर उत्पन्न हो गया।

माधव निदान में सति के संबंधित कथा का उल्लेख आया है । इस कथा में दक्षप्रजापति की बेटी सति ने शिवजी के साथ उनके इच्छा विरुद्ध विवाह किया था। इस कारण शिवजी से दक्षप्रजापति नाराज थे। जब यज्ञ में बिना बुलाये बेटी आयी तो उसका सन्मान किए बिना निर्भत्सना की गयी तो अपमानित सति ने यज्ञ में प्राण त्याग दिये। इसे भी शिवजी के क्रोध का कारण बताया गया है।

ज्वर का प्रभाव :-

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा ।
ज्वरप्रभावो, जन्मादौ निधने च महत्तमः ।।
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः ।

(च. चि. ३/ २६)

- ज्वर से संताप, अरुचि, तृष्णा, अंगमर्द एवं हृत्शुल उत्पन्न होता है।
- जन्म और मृत्यु समय में निश्चित स्वरुप से ज्वर उत्पन्न होता है ।

ज्वर की व्याख्या :-

ज्वरतीति ज्वरः, ज्वर रोगे ।
ज्वरशब्दः ज्या वयोहानावित्यस्य धातोरौणादिके
वर प्रत्यये सति ज्वराब्दस्यार्थान्तरत्वमाप्यापयति ।

अरुणदत्त

दक्षापमानदङ्क्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भवः ।

- "ज्या" धातू से **आयु ऱ्हास** को बोध होता है।
- जिस रोग में आयु नाश होता है, उसे ज्वर कहते है।

- देह, मन और इन्द्रियों का संताप होना इसे भी ज्वर कहते है।
- जिस रोग में ज्वर निर्माण होता है, उसे ज्वर कहते है ।
- ज्वर में **संताप** लक्षण अधिक महत्वपूर्ण है ।

ज्वर की प्रधानता :-

- **सर्व शारीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात् :-**

सभी शारीरिक रोगो में ज्वर प्रथम उत्पन्न हुआ है ।

- **बलवत्वात्:-**

सभी रोगों में ज्वर अधिक बलवान होता है।

ज्वर में दोष-दुष्य संमुर्छना अधिक गंभीर स्वरुप में रहती है ।

- **देहन्द्रियमनस्तापित्वात् :-**

कुछ व्याधी शरीर को और कुछ व्याधी मन को पिडा देते है, परंतु ज्वर देह, मन और इन्द्रिय इन सभी को पीडा देता है ।

- **जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम् ।**
  अतः सर्वविकाराणामयं राजा ।।
  जन्मनिधनयोरवश्यम्भावित्वात् :-

जन्म और मृत्यु इन दोनों काल में शरीर में ज्वर अवश्य रहता है।

- **स्थावरजङ्गमरुपसर्वभूतव्यापित्वाच्च : -**

स्थावर, जंगम अर्थात पशु, पक्षी, प्राणी, जमीन, वनस्पति आदि इन सभी में ज्वर अवश्य उत्पन्न होता है।

- **रोगानिकराट् स्मृतः-**

रोग समुह का ज्वर राजा होता है ।

ज्वर के पर्याय :-

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च ।
एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ।।

(च. चि. ३/ ११)

ज्वरो रोगपति पाप्मा मृत्युरोजोऽशनोऽन्तकः ।
क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः ।।
जन्ममन्तयोर्मोहमयः सन्तापात्माऽपचारजः ।
विविधैर्नामभिः क्रुरो नानायोनिषु वर्तते ।।

(अ. हृ. नि. २/ १-२)

ज्वर के निम्न पर्यायी नाम है।

पर्यायी नाम	अर्थ
ज्वर	आयुष्य का नाश करनेवाला।
रोगपति	सभी रोगों का राजा होना।
पाप्मा	पापकर्मों से उत्पन्न होनेवाला ।
मृत्यु	मृत्यु को उत्पन्न करनेवाला ।
ओजोऽशन	ओज का क्षय करनेवाला ।
अन्तक	आयु का अन्त करनेवाला ।
क्रोध	क्रोध (मानसिक) के कारण उत्पन्न होनेवाला।
दक्षाध्वरध्वंसी	दक्षप्रजापति के यज्ञ का विध्वंस करने से उत्पन्न हुआ ।
रुद्रोर्ध्वनयनोद्भव	शिवजी (रुद्र) प्रकोप से उत्पन्न हुआ ।
जन्ममन्त	जन्म तथा मृत्यु के समय आवश्य रहनेवाला।
मोहमय	इन्द्रियों में मोह उत्पन्न होने के कारण इसे मोहमय कहा है ।
सन्ताप	सन्ताप यह ज्वर का वास्तव रुप है ।
अपचारज	अनेक हेतू से निर्माण होता है ।
व्याधि	पीड़ा उत्पन्न करता है ।
आमय	आम के प्रभाव से उत्पन्न होता है ।
गद	विषज कारणों से उत्पन्न होता है ।
आतंक	भय उत्पन्न करता है ।
यक्ष्मा	शरीरबल (धातु) का क्षय उत्पन्न करनेवाला।
विकार	शरीर और मन में विकृति उत्पन्न करनेवाला।
रोग	रुजा (वेदना) उत्पन्न करनेवाला।

ज्वर के प्रकार :-

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः ।
पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव वा ।।
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते ।
प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ।।
पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात् ।
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ।।
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः ।
भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ।।

(च. चि. ३/३२- ३५)

स जायतेऽष्टधा दोषैः पृथङ्मिश्रैः समागतेः ।
आगन्तुश्च ...... ।।

(अ. हृ. नि. २/ ३)

ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसङ्घातागन्तुजः स्मृतः ।।
रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापन् ।

(सु.उ. ३९/८)

दक्षप्रजापति से अपमानित हुए भगवान शंकरजी के निःश्वास से

आठ प्रकार के ज्वर की उत्पत्ति हुई । चरकाचार्य ने भी ज्वर की संख्या संप्राप्ति अष्टविध कही है।

अथ खल्वाष्टाभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते
मनुष्याणां; तद्यथा - वातात्, पित्तात्, कफात्,
वातपित्ताभ्यां वातकफाभ्यां, पित्तकफाभ्यां,
वातपित्तकफेभ्य; आगन्तोरष्टमात् कारणात् ।।

(च. नि. १/१७)

ज्वर प्रकारों का विभिन्न तरह से वर्गीकरण किया है।

१) द्विविध	
१) शारीर	२) मानस
१) सौम्य	२) आग्नेय
१) अन्तर्वेगी	२) बहिर्वेगी
१) प्राकृत	२) वैकृत
१) साध्य	२) असाध्य

	२)पंचविध (दोष काल बल-अबलानुसार)	३) सप्तविध (धातूओं के आश्रय भेद से)	४) अष्टविध (हेतू अनुसार)
१	सन्तत	रसगत	वात
२	सतत	रक्तगत	पित्त
३	अन्येद्युष्क	मांसगत	कफ
४	तृतीयक	मेदगत	वातपित्तज
५	चतुर्थक	मज्जागत	वातकफज
६		अस्थिगत	पित्तकफज
७		शुक्रगत	सन्निपातज
८			आगन्तुज

ज्वर की सम्प्राप्ति :-

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः ।।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिस्थानान्निरस्य च ।
स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् ।।
स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः ।
सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा ।।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ।

(च. चि. ३/१२९-१३२)

.....मलास्तत्र स्वैः स्वैर्दुष्टाः प्रदुषणैः ।।
आमाशयं प्रविश्याममनुगम्य पिधाय च ।
स्रोतांसि पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलनं बहिः ।।
सह तेनाभिसर्पन्तस्तपन्तः सकलं वपुः ।
कुर्वन्तो गात्रमत्युष्णं ज्वरं निर्वर्तयन्ति ते ।।

(अ. ह्व. नि. २/ ३-५)

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः ।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ।।

(मा. नि. ज्वर/२)

व्याधी नाम	**ज्वर**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान, समान	पाचक	क्लेदक
दूष्य	रसधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
मल	स्वेद		
दुष्ट स्रोतस	अन्नवह		
स्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	आमाशय		
उद्भवस्थान	आमाशय		
अधिष्ठान	शरीर एवं मानस		
संचरण स्थान	अन्नवह		
रोगमार्ग	अभ्यन्तर		
व्यक्ति	ज्वर		
भेद (८)	वात, पित, कफ, सन्निपातज, द्वंद्वज, आगन्तुज		
स्वभाव	आशुकारी एवं चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एकदोषज	
कष्टसाध्य	द्वंद्वज		
असाध्य	सन्निपातज, उपद्रवयुक्त		
अवस्था	आम, पच्यमान, निराम, धातुगतावस्था, अन्तर्वेगी/बहिर्वेगी		

रोगोत्तपत्ति के हेतुओं को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम इन तीन प्रकारों में से वर्गीकृत किया है। इनका हिन, मिथ्या और अतियोग होना रोग की उत्पत्ति का प्रमुख कारण है । ज्वर के संप्राप्ति में मिथ्या शब्द से इन सभी हेतुओं का ग्रहण करना अपेक्षित है। माधव निदानकर ने मिथ्या आहार और विहार कह कर इन सभी हेतूओं का उल्लेख संक्षिप्त स्वरुप में परंतु व्यापक अर्थ से किया है । इन हेतुओं के सेवन करने से दोषों का प्रकोप होता है । प्रकोपित हुए दोष, आमाशयस्थ जाठराग्नि को दुषित करके अग्निमांद्य निर्माण करते

है। इससे भुक्त आहार का परिपाक सम्यक् न होने से आम रस निर्माण होता है । उत्पन्न हुआ आम रस कोष्ठ से सर्व शरीर में वायु द्वारा रसवाहिनी से संचारित किया जाता है । सामता के कारण रसवह एवं स्वेदवह स्त्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होता है। प्रकोपित दोष जाठराग्नि को कोष्ठ से बाहर लाकर सार्वदैहिक कर देते है। सार्वदैहिक हुआ आमाशयस्थ कोष्ठाग्नि और शरीर के शाखादि स्थानों में स्थित पित्त ये दोनों साथ में आकर संतापादि लक्षण उत्पन्न करते है। इस तरह से देहोष्मा में वृद्धि होकर ज्वर उत्पन्न होता है ।
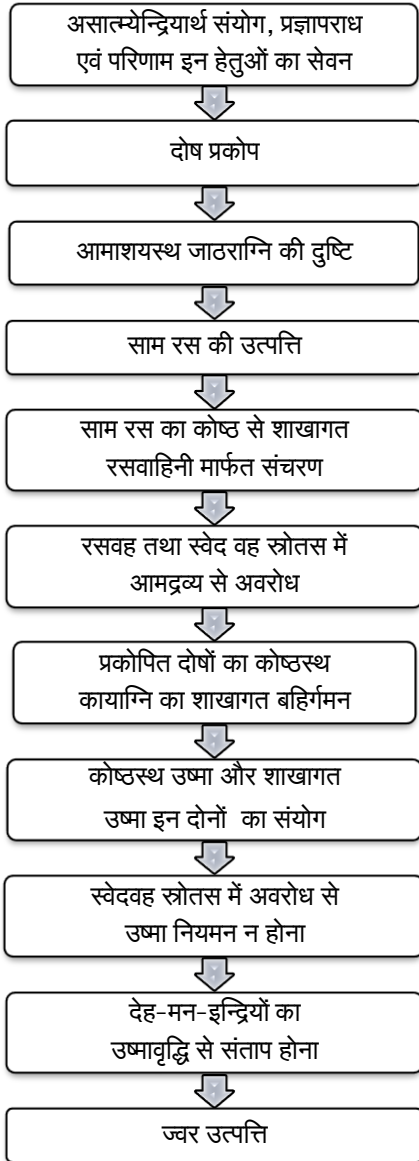
ज्वर के प्रत्यात्मिक लक्षण :-

ज्वर प्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः ।
ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते ।।

(च. चि. ३/ ३१)

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ।
युगपद्यत्र रोगे ज्वरो व्यपदिश्यते ।।

(सु.उ. ३९/१३)

निम्न तीन ज्वर के व्याधी प्रत्यात्मिक लक्षण है । इन तीनों लक्षणों के एकत्रित उत्पन्न होने को ज्वर समझना चाहिए ।

१	स्वेदावरोध
२	देह तथा मन का संताप होना
३	सर्वांग ग्रहण

स्त्रोतोविबन्धात्प्रायेण ततः स्वेदो न जायते ।

(अ. हृ. नि. २/ ६)

स्वेदवह स्त्रोतस में आम से अवरोध निर्माण होने के कारण स्वेद प्रवृत्ती नहीं होती ।

ज्वर के सामान्य पुर्वरुप :-

आलस्यं नयने सास्त्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः ।
ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ।।
अविपाकास्यवैरस्य हानिश्च बलवर्णयोः ।
शीलवैकृत्यं च ज्वरलक्षणमग्रजम् ।।

(च. चि. ३/ २८-२९)

श्रमोऽरतिविवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः ।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ।।
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्यस्यति ज्वरे ।।

(अ. हृ. नि. २/ ७-८)

तस्य प्राग्रूपमालस्यमरतिर्गात्रगौरवम् ।।
आस्यवैरस्यमरुचिजृम्भा सास्त्राकुलाक्षिता ।
अङ्गमर्दोऽविपाकोऽल्पप्राणता बहुनिद्रता ।।
रोमहर्षो विनमनं पिण्डिकोद्वेष्टनं क्लमः ।
हितोपदेशेष्वक्षान्तिः प्रीतिरम्लपटूषणे ।।
द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येषु तथा बालेषु तृड्भृशम् ।
शब्दाग्निशीतवाताम्बुच्छायोष्णेष्वनिमित्ततः ।।
इच्छा द्वेष श्च तदनु ज्वरस्य व्यक्तता भवेत् ।

(अ. सं . नि. २/ ७-९)

ज्वर में निम्न पूर्वरुप उत्पन्न होते है ।

- जृम्भा, आलस्य, एवं जादा निंद आने लगती है ।
- अंगगौरव एवं सर्वांग में साम वायु के संचार से अङ्गमर्द उत्पन्न होता है ।

- साम रस धातु के कारण मन का प्रीणन न होने से अरति, अल्पप्राण या शक्तिऱ्हास उत्पन्न होता है ।
- अग्निमांद्य के कारण आस्यवैरस्य, अरुचि, अविपाक एवं तृष्णाधिक्य ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
  - अम्ल-लवण रस प्रधान आहार सेवन की इच्छा उत्पन्न होती है तथा मधुर आहार सेवन की अनिच्छा होती है ।
  - पित्त वृद्धि के कारण नेत्र से अश्रुस्त्राव (**नयनप्लव**) उत्पन्न होता है । दृष्टि व्याकुल हो जाती है ।
  - वात प्रकोप के कारण रोमहर्ष उत्पन्न होता है ।
  - विनमन अर्थात शरीर संकोचित हो जाता है ।
  - पिण्डिकोद्वेष्टन:- जंघा पिण्ड़िका मांसपेशी में ऐंठन पैदा होती है ।
  - रसादि धातु के पोषण अभाव एवं मन के प्रीणन के अभाव के कारण शरीर में थकान (क्लम/**श्रम**) उत्पन्न होती है ।
  - हितोपदेशों के प्रति घृणा पैदा होती है ।
  - बालक के क्रिडा के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है । खेलता हुआ बच्चा सबके मन को भाँता है, लेकिन ज्वर से पीडित व्यक्ति को रमनिय नहीं लगता ।
  - शब्दासहिष्णूता अर्थात संभाषण न सुनना या करना अच्छा नहीं लगता ।
  - कभी अग्नि, शीतवात, जल, छाया, ऊष्णता (सुर्य की गर्मी), इनके सेवन इच्छा होती है तथा कभी इनके प्रति द्वेष निर्माण होता है ।
  - पूर्वरुपावस्था में **संताप** यह लक्षण उत्पन्न नहीं होता।
  - **विवर्णता:-** म्लान गात्रता अर्थात शरीर की सतेजता कम होती है ।
  - **इच्छाद्वेष मुहुश्चापि शीत वात आतपादि:-** शीत, वायु, एवं अग्नि (आतप) और आदि शब्द से शयन, जल इनका ग्रहण करना चाहिए। इनके सेवन करने की इच्छा या द्वेष होता है ।
  - जृम्भा, अङ्गमर्द, अंगगौरव, रोमहर्ष, अरुचि, तम:प्रवेश, अप्रहर्ष (आनंद अनुभूति का अभाव) शीतानुभूति होना ये ज्वर के पूर्वरुप है।

ज्वर के विशेष पुर्वरुप :-

(सामान्यातो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ।।)
रुपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ।
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोष प्रकोपजे।।

(सु.उ. ३९/२५-२७)

जृम्भा – वातज ज्वर
अरुचि- कफज ज्वर
नेत्रदाह- पित्तज ज्वर
संमिश्र- सान्निपातिक

इस प्रकार से ज्वर के विशेष पूर्वरुप होते है ।

वातज ज्वर के हेतू :-

रुक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोग व्यायामवेगसन्धारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकशोणितातिषेक जागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्योवायु:प्रकोपमापद्यते।

(च.नि.१/१९)

निम्न हेतूओं के सेवन से वातज ज्वर उत्पन्न होता है ।

- रुक्ष, लघु, शीत इन गुणों से युक्त द्रव्यों का सेवन करना ।
- पंचकर्म- वमन, विरेचन, आस्थापन बस्ति, शिरोविरेचन (नस्य) आदि तथा व्यायाम आदि कर्मों का अतियोग करना ।
- अधारणीय (मल, मुत्र, पुरीष, शुक्र इ.) वेगों का धारण करना ।
- धारणीय (काम, क्रोध, द्वेष, भय, इ.) वेगों का अधारण करना ।
- अनशन, अभिघात, व्यवाय, उद्वेग, शोक, अति रक्तस्त्राव, रात्री जागरण, विषम शरीरन्यास आदि कारणों से वातज ज्वर उत्पन्न होता है ।

वातज ज्वर की संप्राप्ति :-

स यदाप्रकुपितः प्रविश्यामाशयमुष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानन्ववेत्यरस स्वेदवहानिस्त्रोतांसि पिधायग्निमुहत्य पक्तिस्थानादुष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते,तदा ज्वरभिनिर्वर्तयति ।।

(च.नि.१/२०)

प्रकोपित वात आमाशय में प्रवेशीत होकर आहार परिणमन से उत्पन्न आद्य आहाररस धातु से मिश्रिभुत होता है। इसके परिणाम से आद्य आहाररस अपाचित निर्माण होता है, जिसे **आम** कहते है । प्रकोपित वायु इस साम आहाररस को रसवह एवं स्वेदवह स्त्रोतसों में लेकर आता है । इन स्त्रोतसों में आम संचित होने से अवरोध (**पिधाय**) निर्माण होता है । कोष्ठगत पक्तिस्थान अर्थात पच्यमानाशय से उष्मा निकलकर शाखागत होने से वातज ज्वर निर्माण होता है ।

वातज ज्वर के लक्षण :-

विषमारम्भविसर्गित्वम् , ऊष्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा, विशेषेणपरुषारुणवर्णत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीष त्वचामत्यर्थं क्लृप्तीभावश्च; जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणम्, ऊर्वोः सादः,कटिपार्श्वपृष्ठस्कन्ध बाहुंसोरसां च भग्नरुग्णमृदितमथित चटितावपाटितावनुन्नत्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायस्यता, आस्यवैरस्यं वा, मुखकण्ठतालुशोषः,पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहः, अन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषाद जृम्भाविनामवेपथु श्रमभ्रमप्रलाप प्रजागररोमहर्षदन्तहर्षाः,ऊष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति वातज्वरस्य लिङ्गानि भवन्ति ।।

(च.नि.१/२१)

वेपथुर्विषमोवेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च् ।।
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ।।

(सु.उ. ३९/२९-३०)

आगमापगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम् ।।
वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः ।
पादयोः सुप्तता स्तम्भः पिण्डिकोद्वेष्टनं श्रमः ।।
विश्लेष इव सन्धीना साद ऊर्वोः कटीग्रहः ।
पृष्ठं क्षोदमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम् ।।
छिद्यन्त इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः ।
हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः ।।
स्कन्धयोर्मथनं बाह्वोभेदः पीडनमंसयोः ।
अशक्तिर्भक्षणे हन्वोजृम्भणं कर्णयोः स्वनः ।।
निस्तोदः शङ्खयोर्मूर्ध्नि वेदना विरसास्यता ।
कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम् ।।
रुक्षारुणत्वगास्याक्षिनखमूत्रपुरीषता ।
प्रसेकारोचकाश्रद्धाविपाकास्वेदजागराः ।।
कण्ठौष्ठशोषस्तृट्शुष्कौ छर्दिकासौ विषादिता ।
हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोग्रहः ।।
भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे ।

(अ. हृ. नि. २/१०-१७)

वातज ज्वर के निम्न लक्षण है ।

- ज्वर के वेग की उत्पत्ति और विसर्ग, वेदना एवं तापमान इनमें विषमता रहती है । यह वैषम्य अवयव सापेक्ष भी रहता है। (जैसे कभी सर्वांगज्वर एवं वेदना रहती है या कभी हस्तपाद स्थान में ज्वर एवं वेदना रहती है या कभी मध्यांग शीत एवं वेदनारहित रहता है या इसके विपरीत स्थिती हो सकती है।)
- पादसुप्तता, पादस्तम्भ, पिण्डिकोद्वेष्टन उत्पन्न होता है ।
- श्रम, संधिविश्लेष, ऊरुसाद, कटीग्रह, पृष्ठग्रह, उदरशूल, पार्श्वास्थिगत (पर्शुका) छेदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- हृद्ग्रह, हृद्तोद, स्कंदगत मंथनवत वेदना, बाहुगत भेदवत वेदना, अंसफलकगत पिडनवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- हनुसंधि में चर्वन असामर्थ्यता, जृम्भा, कर्णक्ष्वेड, शंखभूमि निस्तोद, एवं शिरः शुल (मूर्ध्निवेदना)उत्पन्न होता है ।
- आस्यवैरस्य, कषायास्यता, लालाप्रसेक, अरोचक, अश्रद्धा एवं अविपाक उत्पन्न होता है।
- मल-मूत्र तथा अधो वात का अवरोध होता है ।
- त्वचा, मुख, नेत्र, मूत्र, पुरीष, आदि स्थानों में रुक्षता एवं अरुण वर्ण उत्पन्न होता है ।
- अस्वेद :- पसीना नहीं आता ।
- जागरण:- नींद नहीं आती ।
- शोषः-कण्ठ एवं ओष्ठ शुष्क हो जाते है ।
- तृष्णाः-बार-बार प्यास लगती है।
- शुष्क कास और च्छर्दि उत्पन्न होती है ।
- विषादः- मन खिन्न रहता है ।
- रोमहर्ष :- रोंगटे खड़े हो जाते है ।
- दन्तहर्ष :-दाँत किटकिटाने लगते है ।
- वेपनः- शरीर में कम्प उत्पन्न होता है ।
- क्षवस्तम्भ :- छींक नहीं आती ।
- भ्रमः- चक्कर आने लगती है ।
- प्रलाप :- असंबंध बातें करते रहता है ।
- घर्मेच्छा :- आतप (धूप सेंकना) सेवन करना चाहता है ।
- विनाम :-हस्तपाद संकोचित करके शरीर को सिकोड़ लेता है ।

पित्तज ज्वर के हेतू :-

ऊष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथा तीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते।।

(च.नि.१/२२)

निम्न कारणों से पित्तज ज्वर उत्पन्न होता है ।

- ऊष्ण, अम्ल, लवण, क्षार, कटु इन द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करना ।

- अजीर्ण रहते हुए भी भोजन करना ।
- अत्याधिक मात्रा में आहार सेवन करना ।
- विषम आहार का सेवन करना ।
- तीक्ष्ण आतप एवं अग्निसन्ताप का सेवन करना ।
- अतिश्रम करना ।
- अतिक्रोध करना।

पित्तज ज्वर की संप्राप्ति :-

तद्यदा प्रकुपितमाशयादूष्माणमुपसृज्याद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्यरसस्वेदवहानि स्त्रोतांसि पिधायद्रवात्वाद् अग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयत् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ।।

(च.नि.१/२३)

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति; तद्यथा - युगपदेवकेवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनभिवृद्धिर्वा भुक्तस्यविदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषण, कटुकास्यता, घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकः, तृष्णा, मदो, भ्रमो, मुर्च्छा, पित्तच्छदर्नम्, अतिसारः, अन्नद्वेषः, सदनं, स्वेदः, प्रलापः, रक्तकोठाभिनिवृत्तिः शरीरे, हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचाम्, अत्यर्थमुष्मणस्तीव्रभावः अतिमात्रं दाहः, शीताभिप्रायता निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति पित्तज्वरस्य लिङ्गानि भवन्ति ।।

(च.नि.१/२४)

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः ।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ।।
प्रलापे वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ।।

(सु.उ. ३९/३१-३२)

युगपद्व्याप्तिरङ्गानां प्रलापः कटुवक्त्रता ।।
नासास्यपाकः शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा मदोऽरतिः ।
विट्स्रंसः पित्तवमनं रक्तष्ठिवनमम्लकः ।।
रक्तकोठोद्गमः पीतहरितत्वं त्वगादिषु ।
स्वेदो निःश्वासवेगवैगन्ध्यमतितृष्णा च पित्तजे ।।

(अ. हृ. नि. २ /१८- २०)

पित्तज ज्वर में निम्न लक्षण दिखलाई देते है ।

- सर्वांग में तीक्ष्णवेगी ज्वर उत्पन्न होता है ।
- अतिसारः- द्रवमल प्रवृत्ती उत्पन्न होती है ।
- अल्पनिद्राः- नींद कम आती है ।
- च्छर्दि उत्पन्न होती है ।
- कण्ठ-ओष्ठ-मुख-नासा-तालु इन स्थानों में पाक उत्पन्न होता है ।
- स्वेदगमन :- अल्प प्रमाण में स्वेद प्रवृत्ती होती है । ज्वर में स्वेदावरोध रहता है परंतु पित्तज ज्वर में तीक्ष्ण-उष्ण गुण से अल्प प्रमाण में स्वेद प्रवृत्ती होती है ।
- प्रलाप उत्पन्न होता है ।
- वक्त्रकटुताः- मुख में कटु स्वाद उत्पन्न होता है ।
- शीत कामनाः- शीत जल-हवा आदि शीत पदार्थों के सेवन करने की इच्छा होती है ।
- बेहोशी (मूर्च्छा), मद, और भ्रम उत्पन्न होती है ।
- सर्वांग में दाह होने लगता है ।
- तृष्णाधिक्य उत्पन्न होता है ।
- पित्त की च्छर्दि उत्पन्न होती है ।
- सरक्त ष्ठिवन प्रवृत्ती होती है ।
- अम्लिका :- अम्लोद्गार उत्पन्न होते है ।
- त्वचा पर आरक्तवर्ण के कोठ उत्पन्न होते है ।
- मल, मूत्र, नेत्र, नख, त्वचा आदि स्थान पीत व हरित वर्ण के हो जाते है ।
- निःश्वास से दुर्गन्ध आने लगती है ।

कफज ज्वर के लक्षण :-

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता ।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ।।
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।
(स्त्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता ।।
नात्युष्णगात्रता च्छर्दिर्लालास्त्रावोऽविपाकता ।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ।।

(सु.उ. ३९/३३-३४)

विशेषादरुचिर्जाडयं स्त्रोतोरोधोऽल्पवेगता ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेपश्वासपीनसाः ।।
हृल्लासश्छर्दनं कासः स्तम्भः श्वेत्यं त्वगादिषु ।
अङ्गेषु शीतपिटिकास्तन्द्रोदर्दः कफोद्भवे ।।

(अ. हृ. नि. २/ २१- २२)

कफज ज्वर के निम्न लक्षण है ।

- अरुचि :- अन्न सेवन करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती है ।
- अविपाक :- भुक्त अन्न का पाचन ठिक तरह से नहीं होता ।
- अंगगौरवः- शरीर में जड़ता पैदा होती है ।
- स्त्रोतोरोध :- आमोत्पत्ति के कारण स्त्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होता है ।

- अल्प तथा मंद वेग का ज्वर आता है ।
- देह में तापमान में हलका सा रहता है ।
- स्तैमित्यः -शरीर को गिले कपड़े से लपेट दिया है, ऐसा महसुस होता है।
- नेत्र सफेद हो जाते है ।
- तृप्ति :- क्षुधाबोध की संवेदना नहीं रहती ।
- उत्क्लेद : जी- मचलता है ।
- आलस्य :- किसी भी कार्य करने में तत्परता नहीं रहती ।
- तन्द्रा :- कफ के तम गुण में वृद्धी होने से तन्द्रा उत्पन्न होती है ।
- मधुरा तथा लवणास्यता : - मुख का स्वाद मिठ़ा या नमकीन हो जाता है ।
- लालाप्रसेकः-मुख से लार टपकने लगती है ।
- ह्रदयोपलेपः- कफ से ह्रदय पर उपलेप कर दिया है ऐसी संवेदना महसुस होती है ।
- श्वासः- साँस लेने में कठिनाई होती है ।
- पीनसः- नाक से पानी बहने लगता है ।
- ह्रल्लास, च्छर्दि एवं कास ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- सर्वांग स्तम्भः- अंग जकड़ जाता है। स्त्रोतसों में आम संचिती से सर्वांग स्तम्भ उत्पन्न होता है ।
- शीतानुभूतिः- थंड़ लगना । कफ के कारण शीत अनुभूति होने लगती है ।
- सर्वांग शीत पिटका :-त्वचा पर पाक न होनेवाली पिटिकायें उत्पन्न होती है ।
- उदर्दः- त्वचा पर पित्त उभड़ आता है ।
- मल-मूत्रादि का वर्ण सफेद रहता है ।

द्वन्द्वज ज्वर :-

१) वातपित्त ज्वर :-

शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम् ।
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः ।।
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराऽऽकृतिः ।

(च. चि. ३/ ८५-८६)

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।।
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ।

(सु.उ. ३९/४७)

शिरोऽर्तिमूर्च्छावमिदाहमोहकण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदाः ।
उन्निद्रतातृड्भ्रमरोमहर्षा जृम्भातिवाक्त्वं च चलात्सपित्तात् ।।

(अ. ह्र. नि. २/ २३-२४)

शिरःशूल, मूर्च्छा, च्छर्दि, दाह, मोह, कण्ठशोष, मुखशोष, **अरुचि,** अरति, पर्वभेद, निद्रानाश (उन्निद्रा), तृष्णा, भ्रम, रोमहर्ष, जृम्भा एवं प्रलाप ये वातपित्तज ज्वर के लक्षण है ।

२) वातकफ ज्वरः-

शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक् ।।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ।।

(च. चि. ३/ ८६-८७)

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ।।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ।
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ।।

(सु.उ. ३९/४८-५०)

तापहान्यरुचिपर्वशिरोरुक् पीनसश्वसनकासविबन्धाः ।
शीतजाड्यतिमिरभ्रमतन्द्राः श्लेष्मावातजनितज्वरलिङ्गम् ।।

(अ. ह्र. नि. २/ २५)

कभी दाह और कभी शीतानुभुती होना, अंगगौरव, तन्द्रा, मोह, प्रतिश्याय, श्वास, कास, अरुचि, स्तैमित्य, पर्वशुल, शिरोग्रह, मलविबंध, **स्वेदाप्रवर्तन** और मध्यम वेग का ज्वर उत्पन्न होना ये वात कफज ज्वर के लक्षण है।

३) पित्त कफज ज्वर :-

मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः ।
मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ।।
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ।
इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः .....।। (च. चि. ३/ ८८-८९)
शीतस्तम्भस्वेददाहाव्यवस्थातृष्णाकासश्लेष्मपित्त प्रवृत्तिः ।
मोहस्तन्द्रालिप्ततिक्तास्यता च ज्ञेयं रुपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य ।।

(अ. ह्र. नि. २/ २६)

- कभी दाह पूर्वक या कभी शीतपूर्वक ज्वर उत्पन्न होता है ।
- अल्प प्रमाण में स्वेद प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- कफ एवं पित्त के स्त्राव से मुख उपलिप्त हो जाता है और मुख में तिक्त स्वाद उत्पन्न होता है ।
- कफ या पित्त युक्त च्छर्दि उत्पन्न होती है ।
- तृष्णा, कास, मोह और तंद्रा ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- शीत एवं दाह की अनुभूति, स्तम्भ और स्वेद इन लक्षणों में अव्यवस्था अर्थात ये लक्षण कभी कम या कभी जादा हो जाते है ।

प्रकृति सम समवायरब्ध एवं

विकृति विषम समवायरब्ध लक्षण :-

रोगों के उत्पन्न होने वाले दृंद्वज प्रकारों के बारें में प्रकृतिसम समवायरब्ध एवं विकृतिविषम समवायरब्ध इन दो प्रकारों के लक्षणों का नियम मधूकोष टिका से प्राप्त होता है ।

दोषों के संसर्ग के कारण उनके गुणों के अनुसार लक्षणों के उत्पत्ति को प्रकृतिसम समवायरब्ध लक्षण कहते है । जैसे पित्त और कफ के द्रव गुणों से द्रवमलप्रवृत्ति उत्पन्न होना । लेकिन जब दो दोषों के गुणों के विपरित लक्षण उत्पन्न होते है तो उसे विकृतिविषम समवायरब्ध लक्षण कहते है । इसमें द्वन्द्वज दोषों में जो दोष उपस्थित नहीं होता है उसके कुछ लक्षण उत्पन्न हो जाते है । ज्वर के दृंद्वज प्रकारों में इस प्रकार के विकृतिविषम समवायरब्ध लक्षण निम्न तरह के होते है ।

१) वातपित्त ज्वर :-

अरुचि यह कफ दोष का लक्षण वातपित्तज ज्वर में उत्पन्न होता है।

२) वातकफ ज्वर:-

स्वेदाप्रवर्तनम् - स्वेदस्य आसमन्तादकारणेन प्रवृत्तिः। इसका अर्थ मधुकोष टिका में स्पष्ट किया है की, स्वेद की प्रवृत्ति होना । वात और कफ के विरुद्ध गुण वाले पित्त दोष के उष्ण और तीक्ष्ण गुण का यह स्वेदाप्रवर्तनम् यह **विकृति विषमसमवायजन्य** लक्षण है।

३) पित्त कफज ज्वर :-

कभी दाह पूर्वक या कभी शीतपूर्वक ज्वर उत्पन्न होना यह वात दोष का लक्षण पित्त कफज ज्वर में उत्पन्न होता है ।

दृंद्वज ज्वर	विकृतिविषम समवायरब्ध लक्षण
वातपित्त ज्वर	अरुचि
वातकफ ज्वर	स्वेदाप्रवर्तन
पित्त कफज ज्वर	मुहुर्दाहो मुहु शीतं

सान्निपात ज्वर के लक्षण :-

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्त्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ।।
सस्वनौ सरुजौ कर्णौकण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रम : ।।
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ।।
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनल्पशः ।।
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ।।
मुकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ।।

(च.चि. ३/ १०३-१०८)

सर्वजो लक्षणैः सर्वैदाहोऽत्रच मुहुर्मुहुः।
तद्वच्छीतं महानिद्रा, दिवा जागरणं निशि ।।
सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा ।
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ।।
साश्रुणी कलुषे रक्ते भुग्ने लुलितपक्ष्मणी ।
अक्षिणी पिण्डिकापार्श्वमूर्द्धपर्वास्थिरुग्भ्रमः ।।
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शुकैरिवाचितः ।
परिदग्धा खरा जिह्वा गुरुः स्रस्ताङ्गसन्धिता ।।
रक्तपित्तकफष्ठीवो लोलनं शिरसोऽतिरुक् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ।।
हृद्व्यथा मलसंसङ्गः प्रवृत्तिर्वाऽल्पशोऽति वा ।
स्निग्धास्यता बलभ्रंशः स्वरसादः प्रलापिता।।
दोषपाकश्चिरात्तन्द्रा प्रततं कण्ठकूजनम् ।

(अ. हृ. नि. २/ २७ - ३२)

सान्निपातज ज्वर में निम्न उत्पन्न होते है ।

- कभी दाह होता है, तो कभी शीत अनुभूति होती है ।
- तन्द्रा उत्पन्न होती है ।
- दिन में निद्रा आती है लेकिन रात में निद्रा नहीं आती ।
- दिन तथा रात के समय में जादा नींद आने लगती है या कभी-कभी नींद ही नहीं आती ।
- अत्याधिक प्रमाण में स्वेदप्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- अकारण गायन, नृत्य, हास्य, नग्नता आदि विकृत चेष्टा करता है ।
- आँखों से अश्रुस्त्राव बहने लगता है ।
- आँखें आविल (मैली या धूसर) हो जाती है ।
- आँखों में आरक्त वर्ण उत्पन्न होता है ।
- भुग्न नेत्रता:- आँखों की विकृत चेष्टाएँ उत्पन्न होने लगती है।
- लुलित पक्ष्म :- आँखों के पक्ष्म झड़ जाते है ।
- निरंतर कण्ठ कुजनवत ध्वनि, स्निग्धास्यता, बलभ्रंश, स्वरसाद एवं प्रलाप ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- हृदय, नेत्र, जंघा पिण्डिका, उर, पार्श्व, शिर, पर्वसंधि, अस्थि आदि स्थानों में वेदना होती है ।
- भ्रम, कर्णनाद एवं कर्णशुल उत्पन्न होता है ।

- शुकपुर्ण गलास्यता :- मुख में तुस से भर जाने पर उत्पन्न होनेवाली चुभन जैसी वेदना होती है ।
- जिह्वा दग्धता /खरता :- पित्त के कारण जिह्वा पाक होने से जिह्वा आरक्त वर्ण की दिखती है ।
- कफ के कारण अंग गौरव उत्पन्न होता है ।
- वात प्रकोप के कारण संधियों में शिथिलता उत्पन्न होने से संधिसंस्त्र उत्पन्न होता है।
- रक्त, पित्त और कफ इनसे संमिश्र ष्ठिवन की प्रवृत्ति होने लगती है।
- शिर लोलनः- मन्यासंकोच उत्पन्न होता है।
- कोठः- त्वचा के उपर श्याव-रक्तवर्ण के मंडल उत्पन्न होते है।
- मलावष्टम्भ, द्रवमल प्रवृत्ती, अल्पमल प्रवृत्ती एवं अतिमल प्रवृत्ती उत्पन्न होती है ।
- सामावस्था के कारण दोषों का पाक चिरकाल से होता है ।

सान्निपातिक ज्वर (१३ प्रकार) :-

........सन्निपातज उच्यते ।
सन्निपातज्वरस्योर्ध्व त्रयोदशविधस्य हि ।
प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक्-पृथक् ।।

(च. चि. ३/ ९०)

सान्निपातिक ज्वर के तेरह प्रकार है । इनके लक्षण निम्न प्रकार से कहे है।

१. वातपित्त-प्रधान, कफ-मन्द :-

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् ।
वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ।।

(च. चि. ३/ ९१)

भ्रम, पिपासा, दाह, अंगगौरव, शिरःशुल, तथा मन्द ज्वर ये कफ हीन और वातपित्त प्रधान ज्वर के लक्षण है।

२. वातकफ-प्रधान, पित्त-हीन :-

शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहरुग्व्यथाः ।
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ।।

(च. चि. ३/ ९२)

शीतानुभूति, कास, अरुचि, तन्द्रा, तृष्णाधिक्य, दाह और वेदना ये पित्त हीन और वातकफ प्रधान ज्वर के लक्षण है।

३. पित्तकफ-प्रधान वात-हीन :-

छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना ।
मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ।।

(च. चि. ३/ ९३)

कभी दाह या कभी शीत का अनुभव होना, छर्दि, तृष्णा, अस्थिवेदना, मोह और मंदवेगी ज्वर ये हीन वात और पित्तकफ प्रधान ज्वर के लक्षण है।

४. वात प्रधान पित्तकफ हिन :-

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः ।
वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ।।

(च. चि. ३/ ९४)

संधि-अस्थि-शिर इन स्थानों में वेदना, प्रलाप, गौरव, भ्रम और कण्ठ-आस्य शुष्कता ये हीन कफ पित्त और वात प्रधान ज्वर के लक्षण है।

५. पित्त-प्रधान, वातकफ-हिन :-

रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड् बलसङ्क्षयः ।
मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्ग पित्ते गरीयसि ।।

(च. चि. ३/ ९५)

सरक्त मल और मूत्र की प्रवृत्ती होना, दाह, स्वेदाधिक्य, तृष्णाधिक्य, बल क्षय होना और मूर्च्छा ये हीन कफ वात और पित्त प्रधान ज्वर के लक्षण है।

६. कफ-प्रधान, वातपित्त-हिन :-

आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः ।
कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्रा कासेन चादिशेत् ।।

(च. चि. ३/ ९६)

आलस्य, अरुचि, हृल्लास, दाह, छर्दि, अरति, भ्रम, तन्द्रा और कास ये वात पित्त हीन और कफ प्रधान ज्वर के लक्षण है।

७. कफ-प्रधान, पित्त-मध्य, वात-हिन :-

प्रतिश्यायछर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम् ।
हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ।।

(च. चि. ३/ ९७)

प्रतिश्याय, छर्दि, आलस्य, तन्द्रा, आलस्य, अरुचि और अग्निमान्द्य ये पित्त मध्य, वात हीन और कफ प्रधान ज्वर के लक्षण है।

८. पित्त-प्रधान, कफ-मध्य, वात-हीन :-

हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः ।
हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ।।

(च. चि. ३/ ९८)

मूत्र-नेत्र आदि स्थानों में हारिद्रवर्ण उत्पन्न होना, दाह, तृष्णा, भ्रम और अरुचि ये कफ मध्य, हीन वात और पित्त प्रधान ज्वर के लक्षण है।

९. वात-प्रधान, कफ-मध्य, पित्त-हीन :-

शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ ।
हीणपित्ते मध्यकफे लिङ्गं स्यान्मारुताधिके ।।

(च. चि. ३/ ९९)

शिरःशुल, कंप, श्वास, प्रलाप, छर्दि और अरुचि ये हीन पित्त, मध्य कफ और वात प्रधान ज्वर के लक्षण है।

१०.कफ-प्रधान, वात-मध्य, पित्त-हीन :-

शीतकौ गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक् ।
हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः ।।

(च. चि. ३/१००)

शीतानुभुती, गौरव, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थि और शिरः शुल ये वात मध्य, पित्त हीन और कफ प्रधान ज्वर के लक्षण है।

११.वात-प्रधान, पित्त-मध्य, कफ-हीन :-

श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिरुक् ।
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके महत् ।।

(च. चि. ३/१०१)

श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुखशोष और वेदना, ये कफ हीन, पित्त मध्य और वात प्रधान ज्वर के लक्षण है।

१२.पित्त-प्रधान, वात-मध्य, कफ-हीन :-

वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः ।
कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ।।

(च. चि. ३/१०२)

अतिसार, अग्निमांद्य, दौर्बल्य, तृष्णा, दाह, अरुचि और भ्रम ये कफ हीन, कफ प्रधान ज्वर के लक्षण है।

१३.समदोषज (सन्निपातज) :-

सन्निपातज ज्वर में समदोषज के लक्षण वर्णन किए है ।

सन्निपातज ज्वर की साध्यासाध्यता :-

दोषे विबद्धे नष्टेग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ।।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्त्वतोऽन्यथा ।
दोषे विबद्दे नष्टेग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः, कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ।।

(च. चि.३/१०९-११०)

सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ।।

(सु. उ. ३९/४५)

सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकाशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ।।

(भालुकी तंत्र)

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ।
असाध्यः सोन्यथा कृच्छ्रो भवेद्वैकल्यदोऽपि वा ।।

(अ. हृ. नि. २ / ३४)

सन्निपातज ज्वर के **कष्टसाध्य** लक्षण निम्न प्रकार से है ।

- वातादि दोष परस्पर विबद्ध हो जाना ।
- अग्निमांद्य रहना ।
- सन्निपातज ज्वर के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट होना ।

सन्निपातज ज्वर के **असाध्य लक्षण** निम्न प्रकार से है ।

- वातादि दोषों का अवरोध होने से प्रवृत्ति न होना ।
- जाठराग्नि, धात्वाग्नि एवं पंचमहाभुताग्नि ये सभी प्रकार के अग्नि मन्द होना ।
- सभी लक्षणों से युक्त सन्निपातज ज्वर असाध्य होता है ।

इन लक्षणों के विपरित सन्निपातज ज्वर कष्टसाध्य रहता है या यह विकलांगता निर्माण करता है ।

सन्निपातज ज्वर के उपद्रव :-

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारणः ।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ।।

(च. चि.३/२८७)

सन्निपातज ज्वर के अन्त में कर्णमूल में शोथ अथवा व्रणशोथ उत्पन्न हो जाता है। इस उपद्रव स्वरुप शोथ से कोई भाग्यवान व्यक्ति ही बच पाता है।

अभिन्यास ज्वर की सम्प्राप्ति एवं लक्षण :-

त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्त्रोतोऽनुगामिनः ।
आमाभिवृद्ध्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ।।
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम् ।
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रुपदर्शने ।।
न प्राणं न च संस्पर्श शब्द वा नैव बुद्ध्यते ।
शिरोलोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति ।।
कूजति तूद्यते चैव परिवर्तनमीहते ।
अल्पं प्रभाषते किञ्चिादभिन्यासः स उच्यते ।।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिद्ध्यति ।

(मा. नि. २. ज्वर निदानम्)

सन्निपातभिन्यासं तं ब्रुयाच्च हृतौजसम् ।।

(अ. हृ. नि. २/ ३३)

प्रकोपित दोष उरःस्थानस्थ प्राणवह तथा रसवह स्त्रोतसों में अनुबद्ध होते है । प्रभुत आम वृद्धि के कारण दोष बुद्धि, मन और इन्द्रियों में स्थानसंश्रय करके दारुण स्वरुप का अभिन्यास ज्वर उत्पन्न करते है ।

- अभिन्यास ज्वर में सन्निपातज दोषों के लक्षण उत्पन्न होते है।
- इसमें ओज क्षय रहता है ।
- यह ज्वर दृष्टि, प्राण, स्पर्श, शब्द तथा बुद्धि का नाश करता है।
- आँखो से कुछ भी दिखाई नहीं देता है।

- कानों से सुनाई नहीं देता है।
- शारीरिक चेष्टाओं की हानि उत्पन्न होती है ।
- अग्निमान्द्य के कारण अन्न सेवन की इच्छा (अन्ननाभिलाषा) नहीं होती ।
- नियंत्रण खो जाने से शिर बार-बार लुढ़क जाता है ।
- कण्ठ से कूजनवत ध्वनि उत्पन्न होती है ।
- शरीर में सुचितोदवत वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।
- रोगी बिस्तर पर एक अंग से दूसरे अंग तक करवटे बदलते रहता है ।
- यह ज्वर असाध्य होता है तथा कोई भाग्यवान ही इससे बच सकता है ।

आगन्तुज ज्वर की विशेषता :-

ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैव्यामिश्रलक्षणाः ।।
हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः ।

(च. चि. ३/१२८)

अपने-अपने कारणों के अनुसार आगन्तुज ज्वर उत्पन्न होते है । उदा. काम से कामज ज्वर, भय से भयज ज्वर आदि । तद्नंतर उनमें वातादि दोषों के अनुसार लक्षण उत्पन्न होते है । इन ज्वरों की चिकित्सा हेतू विशेषता के कारण वातादि ज्वरों से भिन्न होती है।

आगन्तुज ज्वर के प्रकार :-

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः ।।
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः ।

(च. चि. ३/१११)

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः ।
आगन्तुर्जायते दोषेयथास्वं तं विभावयेत् ।।

(मा. नि. २. ज्वर निदानम्)

आगन्तुरभिघाताभिषङ्गशापाभिचारतः ।
चतुर्धाऽत्रक्षतच्छेददाहाद्यैरभिघातजः ।।
तस्मिन् पवनः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्य, सरुजं कुरुते ज्वरम् ।।

(अ. हृ. नि. २/ ३८-३९)

आगन्तुज ज्वर के निम्न चार भेद होते है।

१) अभिघात	२)अभिषंग	३) अभिचार	४) अभिश्याप

१) अभिघातजः-

शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलद्विजैः ।।
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः ।

(च. चि. ३/११२)

शस्त्र, लोष्ट्र (ईट या पत्थर या मिट्टी का ढ़ेला), कशा (कोड़ा, चाबुक या लाठी आदि), काष्ठ (लाठी), मुट्ठी (मुक्का), अरत्नितल (थपड या लात मारना), द्विज (दाँत) इनके आघात से या किसी अन्य आकस्मिक दुर्घटना से शरीर पर चोट आदि लगने से अभिघातज ज्वर निर्माण होता है।

तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदुषयन् ।।
सव्यथाशोफवैवर्ण्य करोति सरुजं ज्वरम् ।

(च. चि. ३/११३)

- क्षत, छेद, भेद, दग्ध एवं क्षार आदि कारणों से आघात होने से उत्पन्न होनेवाले ज्वर को आगन्तुज ज्वर कहते है।
- इस ज्वर में प्रधानता से वात प्रकोप रहता है।
- प्रायः आघातज स्थान के रक्त, मांस, इ. धातुओं की दुष्टि होकर वेदना, शोथ, वैवर्ण्य इन लक्षणों के साथ ज्वर होता है।

२) अभिषंगज ज्वर :-

कामशोकभयक्रोधैरभिहक्तस्य यो ज्वरः ।
सोऽभिषङ्गाज्ज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ।।

(च. चि. ३/११४)

विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथाऽग्नैर्विषसम्भवैः ।
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् ।।

(च. चि. ३/११७)

ग्रहावेशौषधिविषक्रोधभीशोककामजः ।
अभिषङ्गात् ....।।

(अ. हृ. नि. २/ ४०)

निम्न कारणों से अभिषंगज ज्वर उत्पन्न होता है ।

- देवता, दानव, यक्ष आदि ग्रहों का शरीर में प्रवेश (आवेश) करना।
- विशिष्ट औषधी गंध सेवन करना ।
- अभ्यन्तरतः विष प्रयोग करना ।
- क्रोध, भय, शोक, कामुकता आदि भावों से ग्रस्त होना ।

a) ग्रहावेशजन्य अभिषंगज ज्वरः-

....ग्रहेणास्मिन्नकस्माद्धासरोदन ।। (अ. हृ. नि. २/ ४०)
भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्य-रोदन-कम्पनम् ।। (सु . उ. ३९/८०)

ग्रहावेश जन्य अभिषंगज ज्वर में रुग्ण अकारण हँसने, रोने लगता है । भयभीत होने से कांपने लगता है ।

b) ओषधीगन्धज अभिषंगज ज्वर :-

ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः ।

(अ. हृ. नि. २/ ४१)

ओषधी गन्धज प्रकार के अभिषंगज ज्वर में मूर्च्छा, शिरःशुल, च्छर्दि, श्वयथु आदि लक्षण निर्माण होते है।

c) विषज अभिषंगज ज्वर :-

मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसम्भवे ।

(च. चि. ३/१२४)

विषान्मूर्च्छातिसारास्यश्यावतादाहहृद्द्रवा : ।।

(अ. हृ. नि. २/ ४१)

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च ।

भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ।।

(मा. नि. २. ज्वर निदानम्)

- विष प्रयोग से उत्पन्न अभिषंगज ज्वर में अरुचि, पिपासा, मद, मोह, मूर्च्छा, ग्लानि, अतिसार, मुख श्यावता, सर्वांगदाह आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।
- हृद्गति में वृद्धि होती है ।
- गात्रस्तंभ उत्पन्न हो जाता है ।

d) मानसिक ज्वर :-

i), ii), iii) **क्रोध, भय व शोकज अभिषंगज ज्वर :-**

शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे ।

क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ।।

(च. चि. ३/१२३)

क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजे ।

(अ. हृ. नि. २/ ४२)

- क्रोधजन्य अभिषंगज ज्वर में कम्प, शिरःशुल उत्पन्न होता है।
- शोकज ज्वर में प्रलाप, अत्याधिक अश्रुस्त्राव (रोदन से) इ. लक्षण निर्माण होते है।
- भयज ज्वर में त्रासन (घबराहट), प्रलाप यह लक्षण निर्माण होता है।

iv) **कामज अभिषंगज ज्वर :-**

ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ।।

(च. चि. ३/१२२)

कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः ।

(अ. हृ. नि. २/ ४२)

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ।

हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति ।

- चित्त का विभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, अरुचि, हृद्शूल, गात्ररुक्षता आदि लक्षण उत्पन्न होते है।
- कामज ज्वर से पीडित रुग्ण चिंता में मग्न रहता है ।
- उसके श्वास गति का बढ़ जाती है ।
- भ्रम, दाह, लज्जा तथा निद्रानाश ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- धी (बुद्धि), धृति (बुद्धि की धारण क्षमता) इनका क्षय हो जाता है।

आगन्तुज ज्वर	लक्षण
१) अभिघातज	वेदना, शोथ, वैवर्ण्य
२), ३) अभिचार और अभिशापज	विस्फोट, तृष्णा, भ्रम, दाह, मोह, मूर्च्छा
४) अभिषंगज	
• ग्रह/भूताभिषंगज	उद्वेग, हास्य, रोदन और कंप
• ओषधीगन्धज	मूर्च्छा, शिरःशुल, च्छर्दि, श्वयथु
• विषज	अरुचि, पिपासा, मद, मोह, मूर्च्छा, ग्लानि, अतिसार, मुख श्यावता, सर्वांगदाह, हृद्गति वृद्धि, गात्रस्तंभ
• क्रोधज	कम्प, शिरःशुल
• शोकज	प्रलाप, अत्याधिक अश्रुस्त्राव
• भयज	त्रासन (घबराहट), प्रलाप
• कामज	चित्तविभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, अरुचि, हृद्शूल, गात्ररुक्षता, श्वास, भ्रम, दाह, लज्जा, तथा धी- धृति –निद्रा इनका नाश

३) अभिश्याप एवं

४) अभिचारज ज्वर :-

…………………यौ शापाभिचारजौ ।।

तत्राभिचाररिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते ।।

पूर्व चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः ।

सदाहमूर्च्छैग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्द्धते ज्वरः ।।

(अ. हृ. नि. २/४३-४५)

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते ।।

सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः ।

सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम् ।।

चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः ।

(च. चि. ३/११८-१२०)

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहतृष्णा च जायते ।

(सु . उ. ३९/८०)

सिद्ध पुरुषों के अभिशाप या अभिचार (मारण, जारण या उच्चाटन आदि तांत्रिक या मांत्रिक प्रयोग करने से) कर्म द्वारा जब ज्वर उत्पन्न होता है, तो वह सान्निपातिक स्वरुप का अत्यंत घातक

और कष्टकारक होता है ।

मन्त्रों का उच्चारण किसी व्यक्ति के विरुद्ध करने पर उसका मन उपतप्त होकर भयभीत हो जाता है । प्रथम मानसिक और बाद में शारीरिक विकृती उत्पन्न होने लगती है ।

- इसमें त्वचापर विस्फोट उत्पन्न होते है।
- तृष्णा, भ्रम, दाह, मोह, मूर्च्छा इ. लक्षणों के साथ ज्वर वेग में प्रति दिन वृद्धि होते रहती है।
- इन लक्षणों के अतिरिक्त चित्त (हृदय), इन्द्रियों तथा शरीर के अनेक अवयवों में पीडा उत्पन्न हो जाती है।

सान्निपातज ज्वर में जो लक्षण कहे है, वही लक्षण इन अभिचारज और अभिशापज ज्वर में उत्पन्न होते है।

आगन्तुज ज्वर में दोषों के प्रकोप का क्रम :-

कामशोकभयाद् वायुः क्रोधात् पित्तं, त्रयो मलाः ।।
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ।

(च. चि. ३/११५)

ग्रहादौ सन्निपातस्य भयादौ मरुतस्त्रये ।
कोपः कोपऽपि पित्तस्य ..... ।।

(अ. हृ. नि. २/ ४३)

आगन्तुज ज्वर के अनुषंग से चरकाचार्य ने काम- क्रोध- भय आदि मानसिक भावों से शारीरिक दोंषों पर होने वाला प्रभाव स्पष्ट किया है। भूताभिषंगज ज्वर में जिस प्रकार और जिस जिस प्रकृति के भूत रहते है उसी प्रकार के अनुसार ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

काम, शोक, भय	वात दोष
क्रोध	पित्त दोष
भूताभिषंग	वात दोष
ग्रह, ओषध एवं विष	त्रिदोष प्राधान्य

विषम ज्वर

विषम ज्वर की व्याख्या :-

विषमो विषमारम्भाक्रियाकालोऽनुषङ्गुवान् ।

(अ. हृ. नि. २/ ६९)

- ज्वर का आरम्भ अर्थात ज्वर वेग आने का काल विषम होता है ।
- शरीर में ज्वर के स्थित रहने का कालावधी विषम होता है ।
- ज्वर के विसर्ग का काल विषम होता है ।

इस तरह उत्पत्ति, स्थिती और अस्त इन तीनों अवस्थाओं में ज्वर में अनियमितता उत्पन्न होने कारण इसे विषमज्वर कहते है।

मुक्तानुबंधत्वम् विषमत्वम् ।

ज्वर मुक्ति अर्थात अस्त हो जाना और अनुबंध अर्थात फिर से प्रादुर्भाव होना इसमें विषमता रहने से इसे विषम ज्वर कहते है।

विषमज्वर के कारण:-

बलाबलेन दोषाणामन्नचेष्टादिजन्मना ।।
ज्वरः स्यान्मनसस्तद्वत्कर्मणश्च तदा तदा ।
दोषदूष्यर्त्वहोरात्रप्रभृतीनां बलाज्ज्वरः ।।
मनसो विषयाणां च कालं तं तं प्रपद्यते ।

(अ. हृ. नि. २/७४-७६)

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः ।
पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ।।

(च. चि. ३/ ७०)

- अहितकर आहार-विहार का सेवन करना ।
- मन में रज एवं तम दोषों की वृद्धि होना ।
- पूर्वजन्मकृत पापकर्मों का शरीर पर प्रभाव होना ।
- वसन्तादि ऋतु, दिन एवं रात आदि के कारण दोषों का संचयादि अवस्था के कारण प्रकोप होना ।

इन हेतूओं के कारण विषमज्वर में ज्वर की वेगावस्था बनी रहती है और जब इन हेतूओं का बल कम हो जाता है, तब ज्वर की वेगावास्था कम हो जाती है।

विषमज्वर सम्प्राप्ति :-

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ।।

(सु . उ. ३९/६६)

कृशानां व्याधिमुक्तानां मिथ्याहारादिसेविनाम् ।
अल्पोऽपि दोषो दूष्यादेर्लब्ध्वाऽन्यतमतो बलम् ।।
सविपक्षो ज्वरं कुर्याद्विषमं क्षयवृद्धिभाक् ।
दोषः प्रवर्तते तेषां स्वे काले ज्वरयन् बली ।।
निवर्तते पुनश्चैष प्रत्यनीकबलाबलः ।

(अ. हृ. नि. २/ ६४- ६५)

- कृश, व्याधीमुक्त और मिथ्या आहार-विहार सेवन करनेवाले व्यक्ति में, अगर अल्प प्रमाण में भी दोष प्रकोप हो जाता है ।
- अल्प बलवाले दोषों को देश, काल, प्रकृति इनमें से किसी एक का बल प्राप्त होता है ।
- दोषों का बल फिर से रस, रक्तादि दूष्यों के विरुद्ध गुणों के कारण कम हो जाता है ।

इस तरह से दोष और दुष्यों में बल-अबल अवस्था उत्पन्न होने के

कारण विषमज्वर उत्पन्न होता है। इस स्थिती में वातादि दोष स्वप्रकोपक काल में बलवान होकर पुनः पुनः ज्वर उत्पन्न करते है ।

जब इन दोषों के प्रबलता काल गुजर जाता है, तब दोषों के विरुद्ध गुणों के घटकों की बल वृद्धि होने से दोष प्रकोप में कमी आ जाती है और ज्वर का वेग कम हो जाता है। इस तरह जब दोष बलवान होते है तब ज्वर वेग आता है और जब दूष्य बलवान हो जाते है तब ज्वर के वेग नष्ट या कम हो जाते है ।

प्रकोपित दोष रस रक्तादि दुष्यों में से किसी एक के साथ स्थानसंश्रय करके विषमज्वर उत्पन्न करता है। इस तरह की संकल्पना सुश्रुताचार्य ने प्रतिपादित की है।

ज्वरः पञ्चविधः प्रोक्तो मलकालबलबलात् ।।
प्रायशः सन्निपातेन भूयसातूपदिश्यते ।
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ।।

(अ. हृ. नि. २/५६-५७)

इन सुत्रों में दोषों को **मल** ऐसा संबोधित किया है। तीन दोष अपने-अपने काल में प्रकोपित हो जाते है, या अपने वृद्धिकाल में बलवान हो जाते है और इतर काल में बलहिन हो जाते है । इस कारण कम या अधिक वेग निर्माण होनेवाले पाँच प्रकार के विषमज्वर उत्पन्न हो जाते है । प्रायः ये सन्निपातिक होते है ।

विषम ज्वर के निम्न पाँच प्रकार होते है ।

१)सन्तत	४) तृतियक
२) सतत	५) चतुर्थक
३) अन्येद्युष्क	

विषम ज्वर में वेगोत्पत्ति का कारण :-

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिवित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधि समुच्छ्रयः ।।
अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति ।
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ।।
स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम् ।
चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ।।

(च.चि.३/६८-६९)

बोया गया बीज कुछ समय भूमि को धारण किए हुए रहता है। विशिष्ट काल आने पर ही प्ररोहित हो जाता है। इस प्रकार से धातुओं को भी दोष धारण किए हुए रहते है और वे अपने विशिष्ट काल में प्रकोपित होकर बल प्राप्त करके विषमज्वर उत्पन्न करते है।

इसके विपरित जब दोषों का कालबल क्षीण हो जाता है तब ज्वर की वेगावस्था शांत हो जाती है।

इस तरह की संप्राप्ति तृतीयक और चतुर्थक ज्वर में उत्पन्न होती है।

विषम ज्वर में लिन दोषजन्य परिणाम :-

क्षीणे दोषे ज्वरः सूक्ष्मो रसादिष्वेव लीयते ।।
लीनत्वत्कार्श्यवैवर्ण्यजाड्यादीनादधाति सः ।

(अ. हृ. नि. २/६६)

दोष क्षीण होने पर शरीर में सुक्ष्म स्वरुप संचित रहते है । इस अवस्था में उत्पन्न हुआ मंद स्वरुप का ज्वर रसादि धातुओं में विलिन हो जाता है। ज्वर रसादि धातुओं में विलिन हो जाने से कृशता, दौर्बल्य, विवर्णता, गौरवता आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

विषम ज्वर के अन्य परिणाम :-

आसन्नविवृतास्यत्वात्स्रोतसां रसवाहिनाम् ।
आशु सर्वस्य वपुषो व्याप्तिर्दोषेण जायते ।
सन्ततः सततस्तेन, विपरीतो विपर्ययात् ।।
विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान् ।

(अ. हृ. नि. २/६७- ६९)

रसवह स्त्रोतस का मुख विवृत्त और इतर धातुओं के सापेक्षता से समिप रहने के कारण वातादि दोष शीघ्र गति से रसवह स्त्रोतस में व्याप्त हो जाते है । इसके परिणाम स्वरुप में सन्तत ज्वर सदा काल बना रहता है। यह केवल काल के (ऋतु एवं पूर्वान्ह इ.) बलवान अथवा बलहिन होने के परिणाम से अल्प प्रमाण में कम या अधिक हो जाता है।

सन्तत ज्वर के विपरित स्थिती में रहने से और रक्तवह स्त्रोतस का मुख सुक्ष्मतर होने के परिणाम से सततादि ज्वर, सन्तत ज्वर के विपरित रहते है। सन्तत ज्वर के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि, सततादि ज्वर निरन्तर कालावधी के लिए शरीर में स्थित न रहने के कारण इन्हें विषमज्वर कहते है।

निम्न कारणों से इन्हें विषमज्वर कहा जाता है ।

- विषमज्वरों का प्रारंभ विषमता से होता है ।
- इनका क्रियाकाल (लक्षण एवं संप्राप्ति) विषम रहता है।
- शरीर में स्थित रहने का अनुबंध कालावधी भी विषम रहता है।
- दीर्घकाल के लिए विषमज्वर शरीर में स्थित रहता है ।

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति :-

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः।
तापयन्तस्तनुं सर्वा तुल्यदूष्यादिवर्द्धिताः ।।
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः ।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वा ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम् ।।

(अ. हृ. नि. २/५८-५९)

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ।।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ।

(च. चि. ३/५३)

वातादि दोष रसादि सात धातु, मल, मूत्रादि का वहन करनेवाले स्रोतसों को व्याप्त करके सम्पुर्ण शरीर में संताप पैदा करते है। समान गुणयुक्त रसादि धातु और अपने अनुकूल देश-कालानुसार बल प्राप्त करके अंततः बलवान हुए दोष गुरु (आमयुक्त) एवं स्तब्ध (स्थिर) होकर रस से आश्रित होते है। इस तरह से अन्य किसी भी दोष और काल इनके साथ निष्प्रतिद्वन्द्वी होकर सन्तत ज्वर की उत्पत्ति करते है। यह अत्यन्त कष्टदायक होता है।

सन्ततादि विषमज्वर के दूष्य : -

सन्ततं रसरक्तस्थः, सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगङ्गरम् ।।

(सु.उ. ३९/ ६७)

विषमज्वर के दूष्य निम्न प्रकार से होते है ।

	विषमज्वर	दूष्य
१	सन्तत	रस
२	सतत	रक्त
३	अन्येद्युष्क	मांस
४	तृतीयक	मेद
५	चतुर्थक	अस्थि, मज्जा

सन्ततज्वर लक्षण और काल मर्यादा : -

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते ।।
मलं ज्वरोष्मा धातून्वा स शीघ्रं क्षपयेत्ततः ।
सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याऽशुद्ध्याऽपि वा क्रमात् ।।
वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादश वासरान् ।
प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च ।।
इत्यग्निवेशस्य मतं हारीतस्य पुनः स्मृतिः ।
द्विगुणा सप्तमी यावन्नवम्येकादशी तथा ।।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ।
शुद्ध्यशुद्धौ ज्वरः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ।।

(अ. हृ. नि. २/६०-६३)

दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः ।।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा ।

(च. चि. ३/ ५४)

स शुद्ध्य वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः ।।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ।

(च. चि. ३/ ५७)

सन्तत ज्वर से उत्पन्न हुए उष्मा से मल, मूत्र इ. मलों और रसादि सप्तधातुओं का अतिशिघ्रता से शोष हो जाता है । अंततः रसादि धातुंओं की सभी प्रकार की शुद्धि हो जाने पर निम्न दिनों का कालावधी गुजर जाने के बाद सन्तत ज्वर विसर्ग का हो जाता है ।

सन्तत ज्वर	दिवस
वात प्रधान	सात (७)
पित्त प्रधान	दस (१०)
कफ प्रधान	बारह (१२)

जब तक रसादि धातुओं की शुद्धि नहीं होती, तब तक ये वात, पित्त एवं कफ दोष क्रमशः अपने- अपने कालावधी के बाद मारक हो जाते है, ऐसा अग्निवेश का मत है।

महर्षि हारीत के अनुसार रसादि धातुओं की शुद्धि योग्य प्रकार से होने के बाद वात प्रधान संतत ज्वर १४ दिन, पित्त प्रधान ज्वर १८ दिन और कफ प्रधान ज्वर २२ दिन के बाद शांत हो जाता है। इसके विपरित जब रसादि धातुंओं की शुद्धि न होने पर वात, पित्त एवं कफ दोष क्रमशः अपने-अपने कालावधी के बाद मारक हो जाते है ।

हारित संहिता के अनुसार संततज्वर के विसर्ग का कालावधी :-

सन्तत ज्वर	दिवस
वात प्रधान	१४
पित्त प्रधान	१८
कफ प्रधान	२२

सन्तत ज्वर के असाध्य लक्षण :-

कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् ।।
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ।

(च. चि. ३/ ५५)

काल, दूष्य, प्रकृति के समान और जिसका कोई विरोधी न हो (निष्प्रत्यनीक) ऐसे संतत ज्वर को वातादि दोष उत्पन्न करते है।

काल के गुण और प्रभाव, रसादि दूष्यों के गुण संतत ज्वर से पिडीत रुग्ण की प्रकृति तथा दोषों के गुण ये सभी भाव ज्वर उत्पन्न करने के लिए सहयोगी बन जाते है । ज्वर के विपरीत अर्थात ज्वर उत्पन्न न हो इसके लिए कोई भाव शेष नहीं रहता, इस लिए इसे निष्प्रत्यनीक ज्वर कहते है और इसी कारण सन्तत ज्वर दुःसह और असाध्य होता है ।

सन्ततज्वर के द्वादशाश्रयी भाव :-

यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ।।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ।

(च. चि. ३/ ५६)

सन्तत ज्वर में दूष्यों की व्यापकता अधिक होती है ।

- इसमें रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र ये **सात धातू**
- पुरीष और मूत्र ये **दो मल** और
- वात, पित्त तथा कफ ये **तीन दोष**

ऐसे एकूण बारह भावों के दूष्ट होने से सन्तत ज्वर की संप्राप्ति उत्पन्न हो जाती है, इस लिए इसे **द्वादशाश्रयी** कहा है।

सतत ज्वर के लक्षण :-

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ।।
सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् ।
अहोरात्रे सततकौ द्वौ कालानुवर्तते ।।

(च. चि. ३/ ६१-६२)

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ।
दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततं ज्वरम् ।।
अहोरात्रस्य द्विः स्यात् ....।

(अ. हृ. नि. २/६९)

- परस्पर विरुद्ध ऐसे वातादि दोष रक्त धातू के आश्रय से कम और अधिक होने वाले सतत ज्वर की उत्पत्ति करते है ।
- इस ज्वर का दिन और रात (२४ घंटों) में दो बार उत्पन्न होकर विसर्ग हो जाता है ।

अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण :-

कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद् बलम् ।
अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः ।।
सप्रत्यनीको जनयत्येककालमहर्निशि ।

(च. चि. ३/ ६३-६४)

अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते ।
तृतीयकस्तृतीयेऽहि, चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः ।।

(सु.उ. ३९/ ७०-७१)

...सकृदन्येद्युराश्रितः ।
तस्मिन्मांसवहा नाडीः........ ।।

(अ. हृ. नि. २/७०)

अन्येद्युष्क ज्वर में मांसवह स्त्रोतस में (नाडी) वातादि दोष आश्रित रहते है। इसमें ज्वर दिन और रात ऐसे २४ घंटों में एक बार ही आता है। काल (वसंतादि ऋतु), प्रकृति (वातादि दोष) तथा दूष्य (रसादि) इनमें से किसी एक के बल को प्राप्त करके बलवान (प्रकोपित) हुए दोष मेदोवह स्त्रोतसों में स्थानसंश्रय करके दिन और रात को मिलाकर २४ घंटों में एक बार आनेवाला अन्येद्युष्क ज्वर पैदा कर देते है।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर :-

दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात् तृतीयकचतुर्थकौ ।।

(च. चि. ३/ ६४)

- तृतीयक ज्वर में दोष अस्थिगत होते है ।
- चतुर्थक ज्वर में दोष मज्जागत होते है ।

विषम ज्वर में दोष गति :-

गतिर्द्व्येकान्तराऽन्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः ।
अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम् ।।
मांसस्त्रोतांस्यनुगतो जनयेत् तु तृतीयकम् ।
संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम् ।।
अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं हित्वा तृतीयकः ।
दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ।।

(च. चि. ३/ ६५-६७)

विषमज्वर के वेग प्रतिदिन, एक दिन अथवा दो दिन के अन्तराल से आते है। इनके नाम और ज्वरवेग उत्पत्ति का प्रभाव निम्न प्रकार से है।

विषमज्वर	धातु दुष्टी	प्रभाव
अन्येद्युष्क	रक्त	दिन में एकबार
तृतीयक	मांस	एक दिन के बाद
चतुर्थक	मेद	दो दिन के बाद

तृतीयक ज्वर :-

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः ।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ।।

(च.चि.३/७१)

तृतीयक ज्वर के दोष की प्रधानता से अवयवों पर होनेवाले प्रभाव के अनुसार निम्न तीन प्रकार उत्पन्न होते है।

तृतीयक ज्वर के दोष	स्थान	लक्षण
कफ और पित्त	त्रिकास्थि	त्रिकसंधि स्तंभ
वात और कफ	पृष्ठ	पृष्ठ शूल और ग्रह
वात और पित्त	शिर	शिरोग्रह

- कफ और पित्त प्रधान तृतीयक ज्वर में दोषों का स्थानसंश्रय त्रिकास्थि होने से त्रिक संधि में स्तम्भ उत्पन्न होता है ।

- वात और कफ प्रधान तृतियक ज्वर में दोषों का स्थानसंश्रय पृष्ठ में होने से कारण पृष्ठ स्थान में शूल और ग्रह उत्पन्न होता है ।
- वात और पित्त प्रधान तृतियक ज्वर में दोषों का स्थानसंश्रय शिर में होता है और उसके कारण शिरोग्रह उत्पन्न होता है।

.........मेदोनाडीस्तृतीयके ।।

ग्राही पित्तानिलान्मूर्ध्नस्त्रिकस्य कफपित्ततः ।

सपृष्ठस्यानिलकफात्स चैकाहान्तरः स्मृतः ।।

(अ. ह्र. नि. २/७०-७१)

मेदगत स्त्रोतस में वातादि दोष आश्रित होने से तृतीयक ज्वर उत्पन्न होता है। एक दिन के बाद तिसरे दिन इसका प्रभाव दिखलाई देता है।

चतुर्थक ज्वर के लक्षण :-

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः ।

जङ्घाभ्यां श्लेष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसम्भवः ।।

(च.चि.३/७२)

दोष प्रधानता के अनुसार एवं अवयव या स्थानों पर होनेवाले प्रभाव के अनुसार चतुर्थक ज्वर के निम्न दो प्रकार उत्पन्न होते है।

चतुर्थक ज्वर के दोष	स्थान	लक्षण
१) कफ	जंघा	जंघा वेदना
२) वात	शिर	शिरःशूल

- कफ प्रधान चतुर्थक ज्वर में दोषों का स्थानसंश्रय जंघा में होता है और उसके कारण जंघाशूल उत्पन्न होता है ।
- वात प्रधान चतुर्थक ज्वर में दोषों का स्थानसंश्रय शिर में होता है और उसके कारण शिरःशूल उत्पन्न होता है ।

चतुर्थको मले मेदोमज्जास्थ्यन्यतमस्थिते ।

मज्जस्थ एवेत्यपरे प्रभावं स तु दर्शयेत् ।।

द्विधा कफेन जङ्घाभ्यां स पूर्वं शिरसोऽनिलात् ।

(अ. ह्र. नि. २/७२-७३)

- चतुर्थक ज्वर में वातादि दोष मेद, मज्जा एवं अस्थि धातुओं के आश्रय से रहते है।
- कुछ आचार्यो के अनुसार दोष केवल मज्जागत होने पर ही चतुर्थक ज्वर उत्पन्न करते है।

चतुर्थक विपर्यय :-

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ।

त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोति यम् ।।

(च.चि.३/७३)

नित्यं मन्दज्वरो रुक्षः शूनकस्तेन सीदति ।

स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो भवेद्वातबलासकी ।।

(अ.सं.नि.३/१६)

अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः ।।

त्रिधा, द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं तु मुञ्चति ।

(अ. ह्र. नि. २/७३)

वातादि दोष अस्थि एवं मज्जा इन दो धातुओं में आश्रित होने पर चतुर्थक विपर्यय नामक विषमज्वर उत्पन्न होता है । इसमें ज्वरवेग दो दिन रहता है और एक दिन के लिए ज्वरवेग का विसर्ग होता है ।

चतुर्थक विपर्यय के तीन प्रकार होते है ।

१	वातज चतुर्थक विपर्यय
२	पित्तज चतुर्थक विपर्यय
३	कफज चतुर्थक विपर्यय

विषम ज्वर की त्रिदोष प्रधानता :-

प्रायशः सन्निपातेन दुष्टः पञ्चविधो ज्वरः ।

सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः ।।

(च.चि.३/७४)

विषम ज्वर प्रायः सन्निपातिक होता है। जिस दोष की प्रधानता होती है, उस दोष के लक्षण प्रबलता से दिखलाई देते है।

ज्वर उत्पत्ति के कारण :-

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात् ।

कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ।।

(च.चि.३/७५)

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ।

(सु. उ. ३९/६८)

ऋतु, दिन, रात, मन और दोष इन सभी का बलवान होना या दुर्बल होना और अर्थवश (पूर्वजन्म के कर्म) से काल विशेषता से विषमज्वर उत्पन्न होता है। सुश्रुताचार्य ने विषम ज्वर का कारण भुतबाधा होना कहा है।

प्रलेपक ज्वर :-

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च ।

मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात् प्रलेपकः ।।

(अ.सं.नि.३/१६)

प्रलेपक ज्वर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- शरीर के सभी अवयव स्वेद से लिप्त होते है ।
- अंगगौरव तथा शीतता के साथ मन्द ज्वर की अनुभूती होती है ।

अर्धदेहस्थित ज्वरः-

विदग्धऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते ।

तेनार्धं शीतलं देहमर्धमुष्णं प्रजायते ।।

(मा. नि. ज्वर -४२)

भुक्त अन्न का विदाह होने से विदग्ध अन्नरस की उत्पत्ति हो जाती है । इस विदग्ध अन्न रस से स्वेदवह और रसवह स्त्रोतस में अवरोध पैदा होता है। इस स्थिती में अपने हेतूओं से प्रकोपित हुए कफ और पित्त दोषों से अर्धदेहस्थित ज्वर उत्पन्न होता है ।

- कफ शरीर के आधे हिस्से में और पित्त शरीर के आधे हिस्से में स्थित हो जाता है।
- कफ स्थित देह का अर्धभाग शीत और पित्त स्थित देह का अर्धभाग उष्ण लगता है। इसे अर्धदेहस्थित ज्वर कहते है।

शीतपाणि-पादज्वर :-

काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा यदा चान्ते व्यवस्थितः ।
तेनोष्मत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः ।।
काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम् ।
शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ।।

(अ.सं नि. २/१००-१०२)

- शरीर के मध्य भाग में प्रकोपित पित्त स्थित रहता है और कफ दोष हस्त और पाद में स्थित रहता है ।
- पित्त स्थित शरीर का मध्य भाग उष्ण एवं कफ स्थित शाखा भाग शीत रहता है । इसे शीत पाणि-पाद ज्वर कहते है।

उष्णपाणि-पादज्वर :-

- शरीर के मध्य भाग में प्रकोपित कफ रहता है और पित्त दोष हस्त-पाद स्थान में स्थित रहता है ।
- कफ स्थित शरीर का मध्य भाग शीत एवं पित्त स्थित शाखा भाग उष्ण हो जाता है । इसे उष्ण पाणि-पाद ज्वर कहते है।

शीतपूर्वक ज्वर :-

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे ।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ।।

(सु.उ. ३९/५९)

अन्यच्च सन्निपातोत्थो यत्र पित्तं पृथक् स्थितम् ।
त्वचि कोष्ठेऽथवा दाहं विदधाति पुरोऽनु वा ।।
तद्वद्वातकफौ शीतं, दाहादिर्दुस्तरस्तयोः ।

(अ.हृ. नि. २ / ३४, ३५)

- सन्निपातज ज्वर में पित्त दोष वात एवं कफ दोष से अलग रहकर त्वचा और कोष्ठ में स्थानसंश्रय करके ज्वर के प्रारंभ तथा अंत में दाह उत्पन्न करता है।
- इसी तरह पित्त दोष से अलग रहकर वात एवं कफ दोष त्वचा और कोष्ठ में स्थानसंश्रय करके ज्वर के प्रारंभ तथा अंत में शीतता निर्माण करते है।
- इन दोनों प्रकार के ज्वरों में दाहपूर्वक ज्वर अधिक कष्टसाध्य होता है।

शीतादौ तत्र पित्तेन कफे स्यन्दितशोषिते ।।
शीते शान्तेऽम्लको मूर्च्छा मदस्तृष्णा च जायते ।

(अ.हृ. नि. २ / ३६)

- शीतपूर्वक ज्वर में पित्त द्वारा प्रथमतः कफ का विलयन होकर कफ का स्यन्दन होता है। पित्त के उष्ण गुण से बाद में द्रवीभूत हुआ कफ शुष्क हो जाता है।
- कफ के शमन होने पर अम्लक (अम्ल च्छर्दि) मूर्च्छा, मद, तृष्णा ये लक्षण उत्पन्न होते है।

दाहपूर्वक ज्वर :-

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च ।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ करुतः शीतमन्ततः ।।

(सु.उ. ३९/६०)

दाहादौ पुनरन्ते स्युस्तन्द्रा ष्ठीववमिक्लमाः ।

(मा. नि. २. ज्वरनिदानम्)

दाहपूर्वक ज्वर में वात एवं कफ से पित्त शमन होने पर तन्द्रा, ष्ठिवन, च्छर्दि, क्लम ये लक्षण उत्पन्न होते है।

शीतपूर्वक एवं दाहपूर्वक ज्वर की साध्यासाध्यता :-

द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः ।।

(सु. उ. ३९/५९-६१)

शीतपूर्वक तथा दाहपुर्वक इन दोनों ज्वरों की तुलना में दाहपूर्वक ज्वर अत्यन्त कष्टसाध्य होता है।

धातुगत ज्वर

१) रसगत ज्वर :-

गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्द्यरोचकौ ।
रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम् ।।

(च. चि.३/७६)

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ ।
रसस्थे ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ।।

(सु. उ. ३९/८३)

गुरुता, दैन्य, उद्वेग, अंगसाद, छर्दि, अरोचक, बाह्यसंताप, अंगमर्द एवं अत्यधिक जृम्भा ये रसगत ज्वर के लक्षण है।

२) रक्तगत ज्वर :-

रक्तोष्णाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः ।
दाहरागभ्रममदप्रलापा रक्तसंस्थिते ।। (च. चि.३/७७)
रक्तनिष्ठिवनं दाहो मोहश्छर्दन-विभ्रमौ ।

प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ।।

(सु. उ. ३९/८४)

- उष्णता युक्त आरक्त वर्णी पिटिका उत्पन्न होती है ।
- दाह, तृष्णाधिक्य, बार-बार सरक्त ष्ठीवन, प्रलाप, मद, मोह एवं विभ्रम ये लक्षण रक्तगत ज्वर में उत्पन्न होते है।

३) मांसगत ज्वर :-

अन्तर्दाहः सतृष्णमोहः सग्लानिः सृष्टविट्कता ।
दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपौ ज्वरे मांसस्थिते भवेत् ।।

(च. चि.३/७८)

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्र-पूरीषता ।
ऊष्माऽन्तर्दाह-विक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ।।

(सु. उ. ३९/८५)

- मांसगत ज्वर में अन्तर्दाह, तृष्णा, मोह, ग्लानि, दौर्गन्ध्य, गात्रविक्षेप (हाथ-पैरों को इधर-उधर पटकना) एवं पिण्ड़िकोद्वेष्टन ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- अत्याधिक मात्रा में मूत्र प्रवृत्ति और अतिसार उत्पन्न होता है।

४) मेदोगत ज्वर :-

स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो वम्यभीक्ष्णशः ।
स्वगन्धस्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ।।

(च. चि.३/७९)

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च ।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ।।

(सु. उ. ३९/८६)

- स्वेदाधिक्य, तृष्णा, प्रलाप, छर्दि, ग्लानि, अरुचि एवं असहिष्णुता ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- दौर्गन्ध्य के कारण स्वयं के शरीर की गन्ध स्वयं सहन कर नहीं सकता । ये मेदोगत ज्वर के लक्षण है।

५) अस्थिगत ज्वर लक्षण :-

विरेकवमने चोभै सास्थिभेदं प्रकुजनम् ।
विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ।।

(च. चि.३/ ८०)

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च ।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ।।

(सु. उ. ३९/८७)

अतिसार एवं छर्दि, अस्थिभेदवत वेदना, कंठ कुजन, गात्र विक्षेपण एवं श्वासाधिक्य ये अस्थिगत ज्वर के लक्षण है।

६) मज्जागत ज्वर :-

हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम् ।
मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ।।

(च. चि.३/ ८१)

तमः प्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा ।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ।।

(सु. उ. ३९/८८)

हिक्का, (महा) श्वास, कास, छर्दि, तम प्रवेश, मर्म छेदनवत पीड़ा, बाह्यतः शैत्य और अन्तर्दाह ये मज्जागत ज्वर के लक्षण है ।

७) शुक्रगत ज्वर :-

शुक्रस्थानगतः शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च ।
प्राणं वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः ।।

(च. चि.३/ ८२)

मरणं प्राप्नुयात् तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ।।
दग्ध्वेन्धनं यथा वह्निर्धातून् हत्वा यथा विषम् ।
कृतकृत्यो व्रजेच्छान्तिं देहं हत्वा तथा ज्वरः ।।

(सु. उ. ३९/८९-९०)

शुक्रगत ज्वर में निम्नलक्षण उत्पन्न होते है ।

- शिश्नेंन्द्रिय में स्तब्धता आती है ।
- शुक्र का स्त्राव हो जाता है या शुक्र धातु का नाश होता है।
- इसमें रोगी की मृत्यु भी हो सकती है ।

काष्ठादि इन्धन के खत्म होने से अग्नि शांत हो जाता है अथवा विष का प्रभाव शारीरिक धातुओं का नाश हो जाने पर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार शुक्र धातुगत ज्वर भी शरीर को नष्ट करके शान्त हो जाता है।

धातुगत ज्वर में वातादि दोषों के लक्षणः -

वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा ।
तथा तेषां भिषग्ब्रूयादिष्वपि बुद्धिमान् ।
समस्तैः सन्निपातेन धातुस्थमपि निर्दिशेत् ।
द्वन्द्वजं द्वन्द्वजैरेव दोषैश्चापि वदेत्कृतम् ।।

(सु. उ. ३९/९१-९२)

बुद्धिमान वैद्य ने वातादि प्रकार के ज्वरों के लक्षणों को रसादि धातुगत ज्वरों में भी ग्रहित धरना चाहिए क्यों कि आयुर्वेद सिद्धांत के अनुसार कोई भी रोग दोष प्रकोप के बिना उत्पन्न नहीं होता ।

धातुगत ज्वर का साध्यासाध्यत्व :-

रसरक्ताश्रितः साध्यो मांस-मदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः, शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ।।

(च. चि. ३/८३)

- रस, रक्त, मांस और मेदोगत ज्वर साध्य होते है ।
- अस्थि एवं मज्जागत ज्वर कष्टसाध्य होते है ।

- शुक्रगत ज्वर असाध्य होता है।

धातुगत ज्वर	लक्षण
रसगत	गुरुता, दैन्य, उद्वेग, अंगसाद, छर्दि, अरोचक, बाह्यसंताप, अंगमर्द, अत्यधिक जृम्भा
रक्तगत	उष्णता युक्त आरक्त वर्णी पिटिका, दाह, तृष्णाधिक्य, बार- बार सरक्त ष्ठीवन, प्रलाप, मद, मोह, विभ्रम
मांसगत	अन्तर्दाह, तृष्णा, मोह, ग्लानि, दौर्गन्ध्य, गात्रविक्षेप, पिण्डिकोद्वेष्टन, बहुमुत्रता, अतिसार
मेदोगत	स्वेदाधिक्य, तृष्णा, प्रलाप, छर्दि, ग्लानि, अरुचि, असहिष्णुता, दौर्गन्ध्य
अस्थिगत	अतिसार एवं छर्दि, अस्थिभेदवत वेदना, कंठ कुजन, गात्र विक्षेपण, श्वासाधिक्य
मज्जागत	हिक्का, (महा)श्वास, कास, छर्दि, तम प्रवेश, मर्म छेदनवत पीड़ा, बाह्यतः शैत्य और अन्तर्दाह
शुक्रगत	शिश्नेंन्द्रिय स्तब्धता, शुक्रस्राव, शुक्र धातुनाश, मृत्यु

ज्वर के अन्य प्रकार :-

इति ज्वरोऽष्टधा दृष्टः समासाद्द्विविधस्तु सः ।
शारीरो मानसः सौम्यस्तीक्ष्णोऽन्तर्बहिराश्रयः ।।
प्राकृतो वैकृतः साध्योऽसाध्यः सामो निरामकः ।

(अ. हृ. नि. २/ ४६-४७)

ज्वर के इतर प्रकारों का वर्गीकरण निम्न तरह से अ. हृदयकार ने किया है।

१) शारीर एवं मानसिक :-

शारीरो जायते पूर्व देहे मनसि मानसः ।
वैचित्यमरतिर्ग्लानिमनस्तापलक्षणम् ।।

(च. चि. ३/ ३६)

इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम् ।
पूर्व ारीरे शारीरे तापो, मनसि मानसे ।।

(अ. हृ. नि. २/ ४७)

शारीरिक ज्वर में प्रथम शरीर में और मानसिक ज्वर में प्रथम मन में ज्वर उत्पन्न होता है।

२) सौम्य एवं आग्नेय :-

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः । ।

(च. चि. ३/ ३७)

वात और पित्त दोष के कारण उष्ण (आग्नेय) और कफ तथा वात दोष के कारण शीत (सौम्य) ज्वर उत्पन्न होता है।

पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत् ।
दाहः पित्तयुते मिश्रं मिश्रे ...।।

(अ. हृ. नि. २/ ४८)

वायु योगवाहि होने के कारण कफ के साथ शीत (सौम्य) एवं पित्त के साथ दाह युक्त तीक्ष्ण ज्वर की उत्पत्ति करती है।

३) अन्तराश्रित एवं बहिराश्रित :-

....अन्तःसंश्रये पुनः ।।
ज्वरेऽधिकं विकाराः स्युरन्तः क्षोभो मलग्रहः ।
बहिरेव बहिर्वेगे तापोऽपि च सुसाध्यता ।।

(अ. हृ. नि. २/ ४९)

- मल-मूत्र का अवरोध और कोष्ठ में संताप एवं क्षोभ उत्पन्न होना ये लक्षण अन्तराश्रित ज्वर में उत्पन्न होते है।
- बाह्याश्रित ज्वर में बाह्य त्वचा स्थान में सिर्फ संताप उत्पन्न होने के कारण बाह्याश्रित ज्वर सुखसाध्य होता है।

अन्तर्वेगी ज्वर :-

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः।
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।।

(च. चि. अ. ३/३९-४०)

अन्तर्वेगी ज्वर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- कोष्ठ में (अभ्यन्तरतः) तीव्र दाह उत्पन्न होता है।
- सन्धि एवं अस्थि शूल उत्पन्न होता है।
- स्वेद प्रवृत्ति नहीं होती।
- दोष, मल एवं मूत्र इनका अवरोध उत्पन्न होता है।
- तृष्णा, प्रलाप, श्वास और भ्रम ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

बहिर्वेगी ज्वर :-

संतापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां मार्दवम् ।
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ।।

(च. चि. अ. ३/४१)

अन्तर्वेगी ज्वर	बहिर्वेगी ज्वर
अभ्यन्तर दाह होता है।	बाह्यतः दाह होता है।
तृष्णा, सन्धि एवं अस्थि शूल, अस्वेद, प्रलाप, श्वास और भ्रम ये लक्षण उत्पन्न होते है ।	अन्तर्वेगी ज्वर के अन्य तृष्णादि लक्षणों का अभाव होता है।
दोष, मल एवं मूत्र अवरोध होता है।	
कष्ट या असाध्य होता है।	सुखसाध्य होता है।

- बहिर्वगी ज्वर में बाह्यतः त्वचा स्थान में अधिक प्रमाण में दाह होता है।

- अन्तर्वेगी ज्वर के अन्य तृष्णादि लक्षण उत्पन्न नहीं होते ।
- यह ज्वर सुखसाध्य होता है।

४) प्राकृत एवं वैकृत ज्वर के लक्षण :-

कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः।।
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः ।

(च. चि. अ. ३/४८)

वर्षा शरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ।।

(अ.हृ. नि. २/५०)

चरकाचार्य ने काल और प्रकृति को लक्ष्य करते हुए प्राकृत ज्वर का निर्देश किया है। स्वभावतः काल के अनुसार होने वाले दोष प्रकोप से निम्न तीन प्रकार के ज्वर उत्पन्न होते है ।

१) शरद ऋतु में पित्त प्रकोप के कारण पित्तज ज्वर
२) वसंत ऋतु में कफ दोष का प्रकोप से कफज ज्वर
३) वर्षा ऋतु में वात दोष के प्रकोप से वातज ज्वर

इनमें से पित्तज और कफज ज्वर को प्राकृत ज्वर कहते है और वातज ज्वर को वैकृत ज्वर कहते है ।

प्राकृतिक पित्तज ज्वर :-

वर्षास्वम्लविपाकाभिरद्भिरोषधिभिस्तथा ।।
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा ।
ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः ।।
प्रकृत्यैव विसर्गस्य तत्र नानशनाद् भयम् ।

(च. चि. ३/४३-४५)

स्वभावतः वर्षा ऋतु में जल और औषधियों का अम्ल विपाकी होती है। इस कारण पित्त दोष का संचय होते रहता है। स्वभावतः शरद ऋतु में सूर्य संताप से संचित पित्त का प्रकोप होने से आशुकारी स्वरुप का ज्वर उत्पन्न हो जाता है। इस ज्वर में कफ दोष का अनुबंध बना रहता है। अतः कफ और पित्त के पाचन के लिए लंघन चिकित्सा योग्य है। यही ज्वर के चिकित्सा का प्रधान सुत्र है। इस लिए शरद ऋतु में उत्पन्न पित्तज ज्वर को प्राकृत ज्वर कहा है।

प्राकृतिक कफज ज्वर :-

अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः ।।
हेमन्ते, सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति ।
वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते ।।
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ।

(च. चि. अ. ३/४५-४७)

हेमंत ऋतु में जल, औषधियों मधुर विपाकी होती है । इनके सेवन से संचित कफ का वसंत ऋतु में सूर्य संताप से प्रकोप हो जाता है। इस कारण से वसंत ऋतु में कफज ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है। इस कफ के पाचन के लिए लंघन चिकित्सा योग्य है। यही ज्वर का प्रधान चिकित्सा सुत्र है। इस लिए वसंत ऋतु में उत्पन्न कफज ज्वर को प्राकृत ज्वर कहा है।

शरद ऋतु में पित्त और वसंत ऋतु में कफ दोष का प्रकोप होकर ज्वर निर्माण होनेवाला यह प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है।

इसके विपरित जो ज्वर ऋतु अनुसार प्रकोप होने वाले अन्य दोषों से निर्माण होता है तो उसे वैकृत ज्वर ऐसा कहते है। यह कष्टसाध्य होता है।

प्राकृत रहने वाला वातज ज्वर कष्टसाध्य होता है, क्यों कि वातज ज्वर में ज्वर के लंघन चिकित्सा कर्म से वात दोष का प्रशम होने के बजाय प्रकोप ही हो जाता है, इस लिए यह प्राकृत वातज ज्वर कष्टसाध्य होता है। यह साध्यासाध्यत्व के ***अपवाद*** का उदाहरण है।

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव च वा ।
निदानोक्तानुपशयो विपरीतोशायिता ।
ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता ।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ।।

निम्न तीन व्याधी सुखसाध्यत्व के नियमों को अपवाद कहीं गयी है।

व्याधी	अपवाद
वातज ज्वर	तुल्य ऋतु दोषता
कफज प्रमेह	तुल्य दुष्यता
रक्तज गुल्म	पुराणता

प्राकृत ज्वर में दोषानुंबधः-

वर्षासु, मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।
कुर्यात्,पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः ।।
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ।।

(अ. हृ. नि. २/५१-५२)

वर्षा ऋतु में उत्पन्न होनेवाले वातज ज्वर में कफ एवं पित्त का तथा शरद ऋतु में उत्पन्न पित्तज ज्वर में सिर्फ कफ का अनुबंध रहता है। इन ज्वरों में लंघन उपक्रम करने पर बढ़े हुए पित्त और कफ दोष का स्वभावतः शमन हो जाने से किसी भी प्रकार की शरीर को हानि नहीं होती। तथा इन दोनों ऋतुओं में रहनेवाला विसर्ग काल शरीर को बल प्रदान करता है इस लिए अनशन करने पर भी दोष प्रकोप का भय नहीं रहता है ।

वसंत ऋतु में उत्पन्न होनेवाले कफज ज्वर में वात एवं पित्त का अनुबंध रहता है।

५) ज्वर की साम एवं निराम अवस्थाः-

आमज्वर :-

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ।।
हृदयास्याशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ।
ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् ।।
लालाप्रसेको हृल्लासः क्षुन्नाशो विरसं मुखम् ।
स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता ।।
न विड् जीर्णा व च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् ।

(च. चि. ३/ १३३-१३६)

लालाप्रसेको हृलास-हृदयाशुध्यरोचकाः ।
तन्द्राऽलस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ।।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवाज्ज्वरः ।
आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ।।
भेषजं ह्यादोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ।
(शोधनं, शमनीयं च करोति विषमज्वरम् ।)
ज्वरोपद्रवतीक्ष्णत्वमग्लानिर्बहुमूत्रता ।
न प्रवृत्तिर्न विड् जीर्णा न क्षुत्सामज्वराकृति ।।

(अ. हृ. नि. २/५४)

साम ज्वर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- क्षुधामांद्य रहता है ।
- अरुचि, अविपाक, लालास्राव, हृल्लास, आस्यवैरस्य ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- उदर एवं हृदय गौरव एवं हृदय की अशुद्धता उत्पन्न होती है।
- तन्द्रा, आलस्य उत्पन्न होता है लेकिन ग्लानि उत्पन्न नहीं होती ।
- आमज ज्वर अविसर्गी एवं बलवान होता है ।
- दोषों की प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात शाखागत दोष कोष्ठ में प्रवृत्त नहीं होते ।
- आम संचिती के कारण गात्रस्तब्धत्व एवं सुप्ति उत्पन्न होती है ।
- बहूमूत्रता, मलावष्टंभ अथवा अपरिपक्व मल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- आमज ज्वर में उपद्रव एवं लक्षणों में तीव्रता अधिक होती है।

पच्यमान ज्वर :-

ज्वरवेगोऽधिकं तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ।।

(च. चि. ३/१३६), (अ. हृ. नि. २/५५)

पच्यमान ज्वर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- तीव्र वेग का ज्वर उत्पन्न होता है ।
- मल-मूत्र की प्रवृत्ति होती है ।
- दोषों की शरीर से बाहर जाने की प्रवृत्ति होने के कारण उत्क्लेश उत्पन्न होता है ।
- तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

निरामज्वर :-

क्षुत् क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिष्टाहो निरामज्वरस्य लक्षणम् ।।

(च. चि. अ. ३/१३७)

जीर्णताऽऽमविपर्यासात्सप्तरात्रं च लङ्घनात् ।

(अ. हृ. नि. २/ ५५)

ज्वर की निरामावस्था में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- बुभुक्षाः- क्षुधा बोध होने के कारण अन्न सेवन करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।
- अंग लाघव :- स्रोतसों में संचित आम नष्ट होने के कारण अंग लाघव उत्पन्न होता है ।
- रस एवं स्वेदवह स्रोतसों का अवरोध नष्ट होने से ज्वर के वेग और लक्षणों में कमी आ जाती है।
- सामता नष्ट होने के कारण दुष्यों से अनुबद्ध हुए दोषों की कोष्ठ में प्रवृत्ती होने लगती है ।
- पच्यमान अवस्था में लंघन करने से लक्षणों में उपशय प्राप्त होने से अथवा सात दिन का कालावधी व्यतित होने पर ज्वर को निराम अवस्था प्राप्त होती है।

ज्वर का साध्यासाध्यत्व :-

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ।
हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ।।
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ।
सप्ताहाद् वा दशाहाद् वा द्वादशाहात् तथैव च ।।
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम् ।
ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः।।
असाध्यो बलवान् यश्चकेशसीमन्तकृज्ज्वरः।

(च. चि. ३/ ५०-५३)

आरम्भद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ।।
क्षीणस्य चातिरुक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ।
विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ।।
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ।
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशुलवान् ।।
वक्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ।
हिक्का-श्वास-तृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ।।

सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः।

(मा. नि. २. ज्वर निदानम्)

हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ।।

गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।

(सु. उ. ३९/ १३)

साध्य ज्वर के लक्षण :-

- वातादि दोषों का अल्प बलवान होना ।
- रुग्ण का मन एवं शरीर के बल ठिक रहना ।
- ज्वर का उपद्रव विरहित होना ।

असाध्य ज्वर (प्राण नाशक) के लक्षण :-

- अनेक प्रकार के बलवान कारणों से ज्वर उत्पन्न होना।
- अनेक अथवा सभी के सभी लक्षण प्रकट होना।
- इन्द्रियों की शक्ति नष्ट होना ।
- रुक्षता तथा धातुओं के क्षय होने से शरीर क्षीण होना ।
- शरीर पर शोथ की उत्पत्ति होना ।
- बलवान ज्वर से ग्रस्त रोगी के बालों में स्पष्ट रेखा दिखाई देना ।
- आरम्भ से ही विषमज्वर उत्पन्न होना ।
- दीर्घ कालानुबंधी, गम्भीर तथा तीक्ष्ण वेगी ज्वर से पीडित रहना।
- ज्वरवेग के कारण रुग्ण का संज्ञाहिन होकर निश्चल हो जाना।
- शरीर का बाह्य भाग शीत और अभ्यन्तर भाग दाह युक्त होना।
- रोमहर्ष उत्पन्न होना।
- आँखों का लाल हो जाना ।
- हृदय में तीव्र स्वरुप की वेदना उत्पन्न होना ।
- मुख को वक्र स्थिती देकर कष्टतापुर्वक श्वास लेना ।
- हिक्का, श्वास, तृष्णा, संज्ञाहानि, अस्थिरदृष्टि से पीडित रहना ।
- मुख की कान्ति नष्ट होना ।
- इन्द्रियों की कार्यक्षमता नष्ट होना ।
- अग्नि मंद होने से भोजन में अरुचि उत्पन्न होना ।
- उपरोक्त लक्षणों से युक्त ज्वर असाध्य होता है ।
- क्षीण बल का ज्वरग्रस्त रोगी सतत श्वास लेते रहता है तो शीघ्र मर सकता है ।
- तीव्र प्रलाप, भ्रम, और श्वास इन लक्षणों से युक्त ज्वर सात दिन, दस दिन अथवा बारह दिन में मनुष्य को मार डालता है।

गम्भीर ज्वर :-

सुश्रुताचार्य के नुसार गम्भीर ज्वर के लक्षण निम्न तरह से होते है।

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ।।

आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ।

(सु. उ. ३९/ १२)

तीव्र वेग का श्वास, अभ्यन्तर दाह, तृष्णाधिक्य, आनाह तथा कास इन लक्षणों से युक्त ज्वर को गम्भीर ज्वर समझना चाहिए ।

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः ।

(च. चि. ३/ ४२)

प्रायेणानलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः ।

(च. चि. ३/४९)

प्राकृत ज्वर साध्य है, परंतु उसे वातज प्राकृत ज्वर असाध्य होता है इस लिए वह अपवाद है।

अरिष्ट :-

सर्वथा विकृतिज्ञाने प्रागसाध्य उदाहृतः।।

(अ. हृ. नि. २/ ५३)

ज्वर के साध्यासाध्यत्व के संदर्भ में अ. हृदयकारों ने अरिष्ट लक्षणों का विचार करने को कहा है। शारीर स्थान के पाँचवे विकृतिविज्ञानीय शारीराध्याय में ये अरिष्ट लक्षण निम्न तरह से वर्णन किए है।

ज्वरो निहन्ति बलवान् गम्भीरो दैर्घरात्रिकः।।

सप्रलापभ्रमश्वासः क्षीणं शूनं हतानलम् ।

अक्षामं सक्तवचनं रक्ताक्ष हृदि शूलिनम् ।।

सशुष्ककासः पूर्वाह्णेयोऽपराह्णेऽपि वा भवेत् ।

बलमांसविहीनस्य श्लेष्मकाससमन्वितः।।

(अ. हृ. शा. ५/ ७१-७३)

निम्न लक्षणों से युक्त ज्वर शीघ्रता से रुग्ण के प्राणहरण करता है।

- तीव्रवेगी, बलवान, गम्भीर एवं दीर्घकाल के लिए रहनेवाला ज्वर उत्पन्न हुआ होना ।
- शरीर के मांस एवं बल का क्षय रहते हुए अग्निमांद्य, शोथ, वाक्हानि, नेत्र आरक्तता, हृद्शुल, प्रलाप, भ्रम, प्रातःकाल और सायंकाल के समय शुष्ककास एवं श्वास ये लक्षण उत्पन्न होना ।

ज्वरमोक्ष की स्थिती एवं लक्षणः-

धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते ।।

ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते ।

वेपते प्रलपत्युष्णैः शीतैश्चाङ्गैर्हतप्रभः ।।

विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते ।

सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं सृजति वेगवत् ।।

(अ. हृ. नि. ३/ ७६-७८)

प्रकोपित दोषों का विलयन (शमन) होने के कारण रसादि धातुओं में क्षोभ निर्माण होकर ज्वर का मोक्ष होता है ।

इस अवस्था में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- श्वास की गति तीव्र हो जाती है ।
- प्रभुत मात्रा में स्वेद प्रवृत्ति होती है ।
- कण्ठ से कुजनवत ध्वनि उत्पन्न होती है ।
- देहोष्मा की वृद्धि होकर शैत्य उत्पन्न होता है ।
- मुखमंडल की प्रभाहानि होती है ।
- रुग्ण ज्वर वेग से ग्रस्त रहने से क्रोधीत दिखता है।
- दोष उदीरण होने से च्छर्दि एवं सशब्द द्रवमलप्रवृत्ती निर्माण होती है।
- शरीर की चेष्टाऍं बढ़ जाती है ।
- सर्वांगकम्प, प्रलाप, संज्ञानाश आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।

ज्वर मुक्ति के पूर्वरुप :-

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्प-विड्भिदसंज्ञता ।

कूजनं चास्यवेगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ।। (मा. नि. २.)

सर्वांगदाह, स्वेदप्रवृत्ति होना, भ्रम, कम्प, तृष्णा, मल तथा मूत्र प्रवृत्ति होना, कण्ठकूजन, मुखदौर्गन्ध्य ये लक्षण ज्वर के मुक्ति के पूर्व स्थिती में उत्पन्न होते है ।

ज्वर मुक्ति के लक्षण :-

लघुत्वं शिरसः स्वेदो मुखमापाण्डु पाकि च ।

क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ।।

(सु. उ. ३९ /३२०)

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम्।

स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नकलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ।।

(अ. हृ. नि. ३/ ७९)

- शरीर में लाघता आती है ।
- क्लम, मोह एवं संताप नष्ट हो जाता है ।
- मुखपाक उत्पन्न होता है ।
- करण सौष्ठवः- इन्द्रिय विमलता आने के कारण इन्द्रिय विषयों का ग्रहण करने लगते है ।
- अव्यथत्वम्:- शारीरिक एवं मानसिक वेदनाएँ नष्ट हो जाती है ।
- स्वेदावरोध नष्ट होने से स्वेद प्रवृत्ती उत्पन्न होती है ।
- स्वभाव के अनुरुप रहनेवाले कार्य में मन संलग्न हो जाता है।
- अन्नलिप्सा:- क्षुधावृद्धि होने से आहार सेवन करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।
- क्षवथु एवं शिरःकण्डू ये लक्षण ज्वर नष्ट होने के बाद निर्माण होते है।

ज्वर प्रकरण समाप्त

पाण्डु

2

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	**अ.**हृदय	**अ.**संग्रह	मा. नि.
सू.१९, चि. १६	उ. तं. ४४	नि. १३	नि. १३	८

पाण्डु की व्याख्या :-

पांडुस्तु पीतभागार्धः केतकीधूलिसन्निभः ।

पांडुरोग का नामाभिधान वर्ण विकृती के सिद्धांत से किया है। इस रोग में त्वचा का वर्ण केतकी के फूल के बुट्टे के भीतरी भाग जैसा फिका और निस्तेज हो जाता है।

सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः ।

पाण्डु के वातादि प्रकारानुसार कृष्णादि वर्ण उत्पन्न होते है, परंतु पाण्डुभाव (श्वेतवर्ण) अधिक प्रमाण में होने से इसे पाण्डु रोग कहा है।

पाण्डु के प्रकार :-

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वात-पित्त-कफैस्त्रयः ।
चतुर्थः सान्निपातेन् पञ्चमो भक्षणान्मदः ।।

(च.चि. १६/३)

पाण्डवामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक्समस्तैर्युगपच्च दोषैः ।

(सु. उ. ४४/४)

स पञ्चधा पृथग्दोषैः समस्तैर्मृत्तिकादनात् ।।

(अ. हृ.नि. १३/७)

पाण्डु के चरक और अ. हृदयकारने पाँच और सुश्रुताचार्यने चार प्रकार कहे है ।

हेतू विशेष के अनुसार मृद्भक्षणजन्य पाण्डु का प्रकार वर्णन किया गया है ।

पाण्डुरोग के प्रकारों के नाम निम्न प्रकार से है ।

	चरक, अ. हृ. (५)	**सुश्रुत (४)**
१	वातज	वातज
२	पित्तज	पित्तज
३	कफज	कफज
४	सान्निपातज	सान्निपातज
५	मृदभक्षण	-

पाण्डु के हेतू :-

क्षाराम्ललवणात्युष्ण विरुद्धासात्म्यभोजनात् ।
निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवनात् ।।
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद्व्यायामान्मैथुनात्तथा ।
प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ।।
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः ।

(च. चि. १६/७-९)

व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीवतीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य विदूष्य (प्रदुष्य) रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुभावम्
(पाण्डुरतां नयन्ति) ।। **(सु.उ. ४४/३)**

पांडु व्याधी के निम्न हेतु होते है।

- क्षार, अम्ल, लवण एवं उष्ण पदार्थों का अत्याधिक सेवन करना ।
- विरुद्धाहार, असात्म्य भोजन का सेवन करना ।
- निष्पाव, माष, पिण्याक, तिल तैल आदि द्रव्यों का अत्याधिक सेवन करना ।
- विदग्धाजीर्ण के कारण आहार अपाचित रहना ।
- अव्यायाम, अतिमैथुन, दिवास्वाप करना ।
- पंचकर्म चिकित्सा विधीवत् न करना ।
- ऋतुओं के अनुसार संशोधनादि कर्म न करना ।
- ऋतुचर्या का योग्य तरह से पालन न करना ।
- अधारणीय वेगों को रोकना ।
- काम, शोक, चिन्ता, भय, क्रोधाादि मानसिक विकारों से ग्रस्त रहना ।

पाण्डु के पुर्वरुप :-

त्वक्स्फोटन-ष्ठीवन-गात्रसाद-मृद्भभक्षण-प्रेक्षणकुटशोथाः ।
विण्मुत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्यपुरःसराणि ।।

(सु.उ. ४४/५)

......तस्य लिंगं भविष्यतः ।
हृदयस्पन्दनं रौक्षं स्वेदाभावःश्रमस्तथा ।।

(च.चि. १६/ १२)

प्राग्रुपमस्य हृदयस्पन्दनं रुक्षता त्वचि ।
अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता ।।

सादः श्रमो........।

(अ. हृ.नि. १३/८)

पांडुरोग में निम्न पूर्वरुप उत्पन्न होते है।

- त्वक्स्फोटन :- त्वचा का विदारण होता है । त्वचा में दरारे पडना, फट जाती है ।
- अधिक प्रमाण में ष्ठीवन प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- मृत्तिका भक्षण:- मिट्टि सेवन करता है ।
- अक्षिकुट शोथ :- नेत्र के अधोतः शोथ उत्पन्न होता है ।
- मल- मूत्र -नेत्र आदि स्थानों में पीतता उत्पन्न होती है ।
- हृदय स्पंदन में वृद्धि हो जाती है ।
- धातुओं का स्नेह कम होने से त्वचा का रुक्ष हो जाती है ।
- स्वेद प्रवृत्ति कम प्रमाण में उत्पन्न होती है ।
- अंगसाद, अरुचि, अग्निमांद्य, अंगसाद, श्रम (अल्प काम से थकान आना) ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

पाण्डु की संप्राप्तिः-

व्याधी नाम		**पाण्डु**		
अशांश संप्राप्ति				
	व्याधी नाम	**पाण्डु**		
	अशांश संप्राप्ति			
१	**दोष**	वात	पित्त	कफ
		व्यान	पाचक	क्लेदक
२	**दूष्य**	त्वचा (रसधातु), रक्त एवं मांस		
३	**अग्नि**	जाठराग्निमांद्य		
४	**दुष्ट स्त्रोतस**	रसवह, रक्तवह		
	स्त्रोतोदुष्टी	संग और विमार्ग गमन		
	ख वैगुण्य	आमाशय		
५	**उद्भवस्थान**	आमाशय		
६	**अधिष्ठान**	त्वचा		
७	**संचरण स्थान**	त्वचा एवं मांस		
८	**रोगमार्ग**	अभ्यन्तर		
९	**व्यक्ति**	पाण्डु		
१०	**भेद (५)**	एकदोषज -३, सन्निपातज-१, मृद्भभक्षणजन्य		
११	**स्वभाव**	चिरकारी		
१२	**साध्यासाध्यत्व**			
	साध्य	एकदोषज -३,		
	असाध्य	सन्निपातज, चिरकारी, खरीभूत, सार्वदैहिक शोथयुक्त, उपद्रवयुक्त		

समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् ।
वायुना बलिना क्षिप्तं संप्राप्य धमनीर्दश ।।
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसारमाश्रितम् ।
प्रदुष्य कफवातासृक त्वङ्:मांसान्नि करोति तत् ।।
पांडुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि ।

(च. चि. १६ / ९-११)

हेतुओं का सेवन

हृदयस्थ साधक पित्त का प्रकोप

प्रकोपित पित्त बलवान वायु द्वारा हृदय के दस धमनीयों से सार्वदैहिक संचरण

पित्त का त्वचा और मांस धातु में स्थानसंश्रय

स्थानस्थ कफ, वात, रक्त, मांस और त्वचा (रस) की दुष्टि

त्वचा को पांडुवर्ण हारिद्र, हरितवर्ण अथवा विविध प्रकार के वर्ण उत्पन्न

पांडुरोग
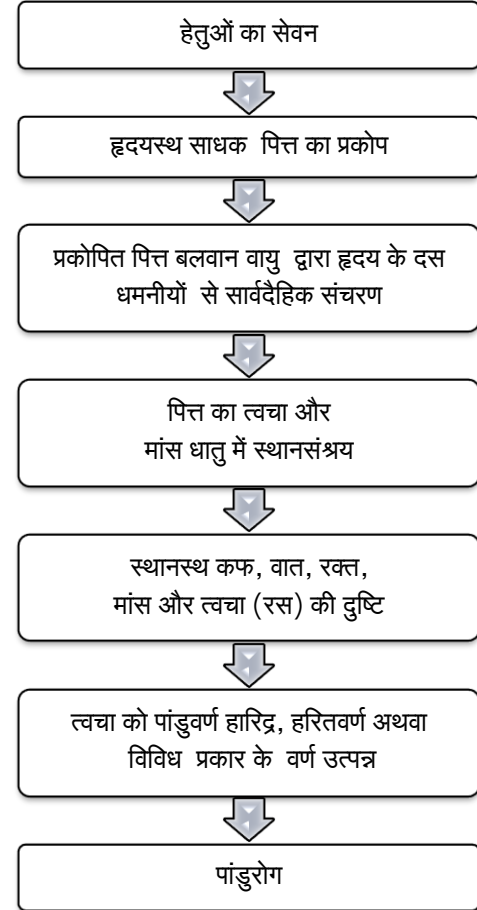
पित्तप्रधानाः कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मलाः ।
तत्रानिलेन बलिना क्षिप्तं पित्तं हृदि स्थितम् ।।
धमनीर्दश सम्प्राप्य व्याप्नुवत्सकलां तनुम् ।
श्लेष्मत्वग्रक्तमांसानि प्रदुष्यान्तरमाश्रितम् ।।
त्वङ्मांसयोस्तत्कुरुते त्वचि वर्णान् पृथग्विधान् ।
पाण्डुहारिद्रहरितान् पाण्डुत्वं तेषु चाधिकम् ।।
यतोऽतः पाण्डुरित्युक्तः स रोगः ....।

(अ. हृ.नि. १३/१-४)

हेतुओं के सेवन से हृदयस्थ साधक पित्त की दुष्टी हो जाती है। प्रकोपित पित्त बलवान वायु से हृदय के दस धमनीयों के द्वारा सार्वदैहिक हो जाता है। सार्वदैहिक हुआ पित्त का त्वचा और मांस धातु में स्थानसंश्रय करता है। इन स्थानों में स्थित कफ, वात, रक्त, मांस और त्वचा (रस) की प्रकोपित पित्त से दूष्टि होती है । इस दूष्टि के

कारण त्वचा में पांडु, हारिद्र (हल्दी के सदृश), हरित अथवा विविध प्रकार के वर्ण उत्पन्न होते है । इस तरह से पांडुरोग उत्पन्न होता है।

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।
शैथिल्यं तस्य धातुनां गौरवं चोपजायते ।।
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदुषणात् ।।
सोऽल्परक्तोऽल्पमेको निःसारः शिथिलेन्द्रियः ।
वैवर्ण्यं भजते ....।।

(च.चि. १६/४-६)

प्रकोपित पित्त प्रधान वातादि दोष रक्तादि धातुओं स्थानसंश्रय करते है। इन धातुओं में शिथिलता और गौरव उत्पन्न होता है। इस कारण से बल, वर्ण, स्नेह, और ओज इन सभी शरीरस्थ भावों का क्षय हो जाता है। रक्त और मेद की कमी से शरीर निःसार और शिथील हो जाता है। इसके परिणाम स्वरुप में शरीर में वैवर्ण्यता (पांडुता) उत्पन्न हो जाती है।

पाण्डु के सामान्य लक्षण :-

संभूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः ।
दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ।।
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः ।
मृदितैरिव गौत्रेश्च पीडितोन्मथितैरिव ।।
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः ।
कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ।।
भवन्त्यारोहणयासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते ।

(च .चि. १६ / १३-१६)

...... तेन गौरवम् ।
धातूनां स्याच्च शैथिल्यमोजसश्च गुणक्षयः ।।
ततोऽल्परक्तमेदस्को निःस्सारःस्यातशिथिलेन्द्रियः ।
मृद्यमाननिरवांगैर्ना द्रवता ह्रदयेन च ।।
शृनाक्षिकूट सदनः कोपनः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ।
अन्नद्विट् शिशिरद्वेषी शीर्णलोमा हतानलः ।
सन्नसक्थो ज्वरी श्वासी कर्णश्वेडी भ्रमी श्रमी ।।

(अ. हृ. नि. १३ / ४ ते ६)

पांडु रोग में निम्न सामान्य लक्षण उत्पन्न है।

- **कर्णक्ष्वेडः-** कानों में साँय-साँय शब्द सुनाई देता है ।
- मंदाग्नि रहने से अरुचि उत्पन्न होने से अन्न सेवन करने की इच्छा नहीं होती ।
- **दौर्बल्यः-**रसादि धातुओं का क्षय होने से दुर्बलता आती है ।
- शरीरशैथिल्यः- मांसादि धातु में शैथिल्य आने से गात्रावयवों शिथिलता आ जाती है ।
- अंगसाद, गात्रशूल, अंगगौरव, ज्वर ये लक्षण साम वायु एवं साम रस धातु के कारण उत्पन्न होते है ।
- **श्रमः-**रसक्षय के कारण अल्प काम करने से थकान महसुस होती है ।
- **भ्रमः-**पित्तवृद्धि और रक्तक्षय के कारण भ्रम उत्पन्न होता है।
- **श्वासः-** चंक्रमणोत्तर या श्रमोत्तर श्वास कष्टता उत्पन्न होती है ।
- शरीर को किसी ने जोर से मसल दिया हो ऐसा अनुभव होना,
- **अक्षिकुट शोथ** उत्पन्न होता है ।
- रोम हानि, प्रभा हानि ये स्नेह के अभाव या रसक्षय के कारण उत्पन्न होते है ।
- **कोपनः-** पित्त वृद्धि के कारण स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है ।
- **शिशिरद्वेष**ः- रोगी शीत पदार्थों का द्वेष करने लगता है । यह व्याधी प्रभाव से उत्पन्न होने वाला लक्षण है, क्यों कि पांडु में पित्त दोष प्रधान होने से शिशिर प्रियता होने चाहिए लेकिन प्रत्यक्ष शिशिर द्वेष दिखा जाता है ।
- निद्राधिक्य, ष्ठिवन अधिक्य ये लक्षण साम कफ के कारण उत्पन्न होते है ।
- रसक्षय के कारण रोगी अल्प प्रमाण में बोलता है ।
- आरोहन अर्थात ऊँचाई चढ़ने से कटी, ऊरु तथा पैरों में वेदना होती है ।

१) वातज पाण्डु :-

त्वङ्मूत्र-नयनादीनां रुक्ष-कृष्णारुणाभताः ।
वातपाण्ड्वामये तोद-कम्पानाह-भ्रमादयः ।।

(मा.नि. /८)

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः ।
जनयेत्कृष्णपाण्डुत्वं तथा रुक्षारुणांगताम् ।।
अंगमर्दरुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम् ।
वर्चः शोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ।।

(च .चि. १६ / १७-१८)

कृष्णेक्षणं कृष्णसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननं च ।
वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ।

(सु.उ. ४४/७)

...अनिलात्तत्रगात्ररुक्तोदकम्पनम् ।
कृष्णरुक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता ।।

शोफानाहास्यवैरस्यविट्शोषाः पार्श्वमूर्धरुक् ।

(अ. हृ.नि. १३/९-१०)

वातज पांडु में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- मन्दाग्नि के कारण मुख में विरसता उत्पन्न होती है ।
- त्वचा-सिरा-नख-नेत्र-मल-मूत्र आदि स्थानों में रुक्षता उत्पन्न होती है । इन स्थानों का वर्ण श्याव और अरुण या काला हो जाता है ।
- तोदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- अंगमर्द, बलहानि एवं कम्प उत्पन्न होता है ।
- पार्श्वशूल एवं शिरःशूल उत्पन्न होता है ।
- उदर में संचित वायु से आनाह एवं शुष्कमल उत्पन्न होता है।
- साम रस से अवरोधजन्य वात प्रकोप होकर शोफ (सार्वदैहिक शोथ) उत्पन्न होता है ।

२) पित्तज पाण्डु :-

पीतमूत्र-शकृन्नेत्रो दाह-तृष्णा-ज्वरान्वितः ।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ।।

(मा .नि.)

पित्तलस्याचितं पित्तं यथौक्तैः स्वैः प्रकोपणैः ।
दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ।।
स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः ।
तृष्णामूर्च्छापिपासार्तः पीतमूत्रशकृन्नरः ।।
स्वेदनः शीतकामाश्च च चान्नमभिनन्दति ।
कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ।।
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते ।
दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ।।

(च. चि. १६ /१९-२२)

पीतेक्षणं पीतसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननं च ।
पित्तेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं
तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ।।

(सु.उ. ४४/८)

पित्ताद्धरितपीताभसिरादित्वं ज्वरस्तमः।।
तृट्स्वेदमूर्च्छाशीतेच्छा दौर्गन्ध्यं कटुवक्त्रता ।
वर्चोभेदोऽम्लको दाहः......।।

(अ. हृ.नि. १३/१०-११)

- त्वचा-सिरा-नख-नेत्र-मुख-मल-मूत्र आदि स्थानों में दाह उत्पन्न होता है ।
- त्वचा-सिरा-नख-नेत्र-मुख-मल-मूत्र आदि स्थानों का वर्ण पीत-हरित हो जाता है।
- कटुकास्यता तथा अम्लोद्गार उत्पन्न होते है ।
- भुक्त अन्न का विदाह होने से विदग्धता (अम्लभाव) उत्पन्न होती है ।
- इस विदग्धता के कारण गले तक आमाशय से अम्ल रस का द्रव (अम्लक) आता है ।
- तृष्णा, ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, स्वेदाधिक्य एवं दौगन्ध्य ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- शीत पदार्थ सेवन करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।
- शीत अन्नपान सेवन से सुखानुभव होता है ।
- उष्ण और अम्ल द्रव्यों का सेवन अनुकूल नहीं होता ।

३) कफज पाण्डु :-

कफप्रसेक-श्वयथु-तन्द्रालस्यातिगौरवैः ।
पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्र-नयनाननैः ।।

(मा. नि.)

विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पांडुरोगं स पूर्ववत् ।
करोति गौरवं तन्द्रां छर्दि श्वेतावभासताम् ।।
प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम् ।
श्वासं कासं तथाऽऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ।।
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरुक्षोष्णकामताम् ।
श्वयथुं मधुरास्यत्वामिति पाण्डवामयः कफात् ।।

(च. चि. १६ /२३-२५)

शुक्लेक्षणं शुक्लसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननं च ।
कफेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ।।

(सु.उ. ४४/९)

........कफाच्छुक्लसिरादिता ।।
तन्द्रा लवणवक्त्रत्वं रोमहर्षः स्वरक्षयः ।
कासश्छर्दिश्च ....।।

(अ. हृ.नि. १३/११-१२)

कफज पांडु में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- त्वचा-सिरा-नख-नेत्र-मूख-मल-मूत्र आदि स्थानों में श्वेत वर्ण उत्पन्न होता है ।
- अंगगौरव, अंगसाद, तन्द्रा, आलस्य, क्लम ये लक्षण साम कफ रसवाहिनी में संचित होने से उत्पन्न होते है ।
- मधुरास्यता, मुखप्रसेक, अरुचि एवं छर्दि ये लक्षण मन्दाग्नि के कारण उत्पन्न होते है ।
- कफ प्रकोप के कारण कटु-उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है ।
- कास, श्वास, स्वरग्रह, वाक्ग्रह, रोमहर्ष, सार्वदैहिक शोथ,

मूर्च्छा और भ्रम ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

४) **त्रिदोषज पाण्डु :-**

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् ।
त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ।।

(च. चि. १६ /२६)

ज्वरारोचक- हृल्लास-च्छर्दि-तृष्णा-क्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ।।
सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येद्वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः ।

(सु.उ. ४४/९)

....निचयान्मिश्रलिङ्गोऽतिदुःसहः ।।

(अ. हृ.नि. १३/१२)

सन्निपातिक पांडु में तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण उत्पन्न होते है । फिर भी सुश्रुताचार्य ने सन्निपातिक पांडु के लक्षणों का वर्णन निम्न तरह से किया है ।

- ज्वर, अरोचक, हृल्लास, छर्दि, तृष्णाधिक्य और क्लम ये लक्षण सन्निपातज पांडु में उत्पन्न होते है ।
- सन्निपातज पांडु के रोगी क्षीण होते है ।
- इनके इंन्द्रियों के कार्यों की हानि होती ।
- सन्निपातज पांडु असाध्य होता है।

५) **मृद्भक्षणजन्य पाण्डु रोग की संप्राप्ति :-**

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ।।
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं च रुक्षयेत् ।
पुरयत्यविपक्वैव स्त्रोतांसि निरुणद्ध्यपि ।।
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्योजसी तथा ।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बल-वर्णाग्निनाशनम् ।।

(च. चि. १६/२७-२९)

मृत्कषायाऽनिलं पित्तनूषरा मधुरा कफम् । दूषयित्वा रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं विरुक्षं च ।।
स्त्रोतांस्यपक्वैवापूर्य कुर्याद्भुद्ध्वा च पुर्ववत् ।
पाण्डुरोगं ततः शूननाभिपादास्यमेहनः ।।
पुरीषं कृमिमन्मुञ्चेद्भिन्नं सासृक्ककफं नरः ।

(अ. हृ.नि. १३/१३-१४)

जिस प्रकार के गुण और रसवाली मिट्टी का सेवन होता है उसी के अनुसार वातादि दोषों का शरीर में प्रकोप होता है। मिट्टी के कषाय रस से वात, मधुर से कफ और उष्ण से पित्त दोष का प्रकोप होता है। मिट्टी के रुक्ष भाव से शरीर के रसादि धातुओं में रुक्षता उत्पन्न हो जाती है। भुक्त अपक्व मृत्तिका शरीर के रसादि स्त्रोतसों में अवरोध पैदा करती है। इस कारण धातुओं का पोषण रुक जाता है। शरीर का बल कम होने लगता है। बल हानि से ओज और तेज की भी हानि होती है। इस तरह से अग्नि, बल और वर्ण का नाश करनेवाला मृद्भक्षणजन्य पांडुरोग उत्पन्न होता है।

मृद्भक्षणजन्य पाण्डु के लक्षणः-

शूनाक्षिकूट-गण्ड-भ्रुः शुनपान्नाभि-मेहनः ।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ।।

(च. चि. १६/३०)

मृद्भक्षणजन्य पांडु के निम्न लक्षण होते है।

- अक्षिकुट-गण्ड़-पाद-नाभी-मेढ्र आदि स्थानों में शोथ उत्पन्न होता है ।
- उदर में कृमी प्रादुर्भाव होने लगता है।
- रक्त और कफ के साथ द्रवमल प्रवृत्ती उत्पन्न होती है।

पांण्डु रोग का साध्यासाध्यत्व :-

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ।।
बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गच्छर्दि-मूर्च्छा-तृडर्दितः ।।
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पांडुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ।

(च. चि. १६/३१-३३)

पाण्डुदन्त-नखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् ।
पाण्डुसङ्घातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ।।

(सु.सू.३३/२३)

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम् ।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ।।
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथातिसारज्वर-पीडितं च ।

(सु.उ.४४/३९-४०)

पाण्डु के असाध्य लक्षण निम्न होते है।

- दीर्घकाल से पाण्डुग्रस्त होने से शरीर का खरीभूत अर्थात अत्यंत रुक्ष हो जाना ।
- खरीभूत होने से ओज धातु का नाश होना ।
- उपद्रव स्वरुप में सार्वदैहिक शोथ उत्पन्न होना ।
- सभी पदार्थों को पीला देखना ।
- कफ संमिश्र बद्ध-अल्प और हरित वर्ण का अतिसार उत्पन्न होना ।
- मनोदैन्य उत्पन्न होना ।
- त्वचादि स्थानों में अत्याधिक श्वेत वर्ण उत्पन्न होना ।
- मूर्च्छा, तृष्णा, आदि से पिडीत होना ।

- अत्याधिक रक्तस्त्राव/रक्तक्षय से श्वेतता पैदा होना ।
- दन्त-नख-नेत्रादि में पाण्डुता उत्पन्न होना ।
- सभी भव सृष्टी को श्वेतवर्णी देखना ।
- अतिसार एवं ज्वर के साथ हस्त-पाद में शोथ और मध्यकाय में शोथ न होना या मध्यकाय में शोथ होकर और हस्त-पाद में शोथ न होना ।
- गुद, लिंग तथा अंडकोषों में शोथ होना और साथ में तमःप्रवेश होकर संज्ञानाश उत्पन्न होना ।

पाण्डु के उपद्रव :-

उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा छर्दिज्वरोमूर्धरुजाऽग्निसादः ।
शोफस्तथा कण्ठगतोऽबलत्वं मूर्च्छा क्लमोह्रद्यवपीडनं च ।।

(सु.उ. ४४/१३)

श्वासातिसारारुचिकासमूर्च्छातृट्छर्दिशूलज्वरशोफदाहान् ।
तथाऽविपाकस्वरभेदसादान् जयेद्यथास्वं प्रसमीक्ष्यशास्त्रम् ।।

(सु.उ. ४४/३८)

तृष्णा, छर्दि, ज्वर, शिरः शूल, अग्निसाद, शोथ, वाक्हानि, मूर्च्छा, क्लम, हृदयावपिडा, अतिसार, अरुचि, कास, दाह, अविपाक और स्वरभेद ये पाण्डु व्याधी के उपद्रव है।

पाण्डु प्रकरण समाप्त

आमवात

3

संदर्भ :- मा. नि. २५

स्वतंत्र रुप से आमवात व्याधी का वर्णन माधव निदान में किया गया है। सामवायु के कारण उरुस्तंभ का निर्माण होता है । आमवात में भी सामवायु है, इस लिए उरुस्तंभ के बाद इस व्याधी का वर्णन किया है।

आमवात के हेतू :-

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च ।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा ।।

(मा. नि. २५/ १)

आमवात उत्पन्न होने के लिए वातप्रकोप के साथ कफ का प्रकोप भी होना आवश्यक है।

निम्न हेतूओं के कारण आमवात व्याधी उत्पन्न होता है ।

- जाठराग्नि मंद होते हुए विरुद्ध आहार का सेवन करना या शरीर की विरुद्ध चेष्टा करना ।
- स्निग्ध आहार का सेवन करके अतिव्यायाम करना ।

विरुद्ध चेष्टाओं से अतिव्यायाम, अतिव्यवाय, जलतरण इ. वात प्रकोपक हेतू आमवात के उत्पत्ति के लिए अपेक्षित है ।

आमवात की सम्प्राप्ति :-

वायुना प्रेरितो ह्याम: श्लेष्मस्थानं प्रधावति ।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसो धमनी: प्रतिपद्यते ।।
वात-पित्त-कफैर्भूयो दूषित: सोन्नजो रस: ।
स्त्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिल: ।।
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च ।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुण: ।।
युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशिकौ । स्तब्धं च
कुरुतो गात्रमामवात: स उच्यते ।।

(मा. नि. २५/ २-५)

आमवात व्याधी में हेतूओं के सेवन से एकसाथ ही वात एवं कफ का प्रकोप होता है । स्निग्ध, गुरु, पिच्छिलादि कफ प्रधान गुणों के द्रव्यों का अतिसेवन करने से अग्निमांद्य उत्पन्न होकर आम उत्पन्न होता है। तथा वात वात प्रकोपक व्यायामादि हेतूओं से प्रकोपित हुए वायु द्वारा उत्पन्न हुआ आम कोष्ठ से हृदय एवं दश धमनीओं द्वारा सर्व शरीर में रसवह स्त्रोतस के मार्फत संचारित होता है । यह आम श्लेष्म स्थान अर्थात आमाशय तथा संधिस्थान में स्थानसंश्रित होता है। आम के गुरु, पिच्छिल, स्त्यान आदि गुणों से रसवह स्त्रोतस में अवरोध उत्पन्न होता है । अन्नरस के साथ वात एवं कफ दोष संमिश्र हो जाने से अनेक वर्ण वाला अति पिच्छिल ऐसा आम निर्माण होता है। जिसके सार्वदैहिक संचार करने से तीव्र दौर्बल्य, हृदयगौरव आदि लक्षण निर्माण होते है। यह आम अतिदारुण स्वरुप के आमवात व्याधी की उत्पत्ति करता है । आम और वात एवं कफ दोष त्रिक सन्धिस्थान में प्रवेश करते है । आम, प्रकोपित वात और कफ इन तीनों के संयोग को युगपत् प्रकोप कहा है। जिसके कारण त्रिक वेदना और संधियों (गात्र) में स्तब्धता उत्पन्न होती है । इस तरह आमवात व्याधी उत्पन्न होता है।

व्याधी नाम		**आमवात**	
	अशांश संप्राप्ति		
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान	पाचक	क्लेदक, श्लेषक
दूष्य	रसधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	रसवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	सन्धि		
उद्भवस्थान	आमाशय		
अधिष्ठान	सन्धि		
संचरण स्थान	दशधमनिद्वारा संधिस्थानों में		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	अम्लपित्त		
भेद (७)	एकदोषज -३ द्वंद्वज-३ सन्निपातज-१		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एकदोषज	
	कष्टसाध्य	सन्निपातज, सार्वदैहिक शोथयुक्त	
		याप्य	द्विदोषज

हेतू सेवन से वात एवं कफ प्रकोप

स्निग्ध, गुरु, पिच्छिलादिं गुण प्रधान द्रव्यों के अतिसेवन से अग्निमांद्य जन्य आम उत्पत्ति

अन्नरस के साथ वात एवं कफ दोष संमिश्र हो जाने से अनेक वर्ण वाले, अति पिच्छिल आम की उत्पत्ति

प्रकोपित वायु द्वारा आम का रसवह स्रोतस मार्फत कोष्ठ से हृदय एवं दश धमनीओं द्वारा सर्व शरीर में संचरण

आम , प्रकोपित वात और कफ इन तीनों के संयोग का युगपत् प्रकोप

आम , वात एवं कफ दोष इन तीनों का त्रिक सन्धिस्थान में प्रवेश

तीव्र दौर्बल्य, हृदयगौरव, त्रिक् वेदना, संधिशूल, स्तब्धता आदि लक्षणों की उत्पत्ति

आमवात व्याधी की उत्पत्ति
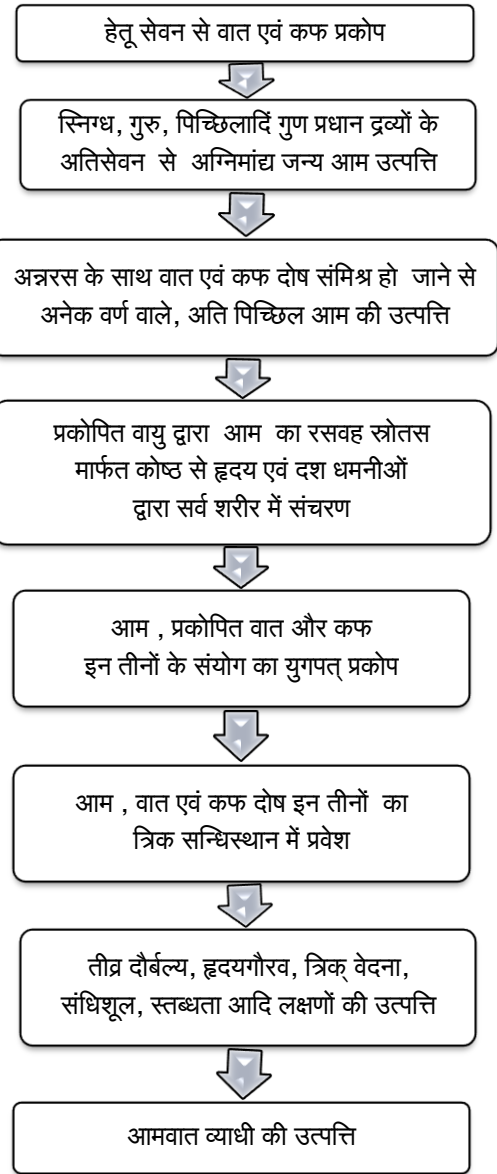
आमवात के सामान्य लक्षण :-

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः ।
अपाकः शूनताऽङ्गानामवातस्य लक्षणम् ।।

(मा. नि. २५/ ६)

आम के सार्वदेहिक संचार से रसधातु में सामावस्था उत्पन्न होती है। जब तक रसवह स्रोतस में आम का संचार रहता है, तब तक आमवात के सामान्य लक्षण निर्माण होते है ।

निम्न सामान्य लक्षण आमवात में उत्पन्न होते है ।

- अंगमर्द , आलस्य :- सामवायु के कारण उत्पन्न होता है ।
- अरुचि, अविपाक :- अग्निमांद्य के कारण उत्पन्न होते है ।
- तृष्णा, अंगगौरव, ज्वर :- आम संचिती के कारण उत्पन्न होती है।
- शोथ :- सार्वदेहिक या स्थानिक संधियों मे उत्पन्न होता है ।

इस अवस्था में अस्थि और संधि स्थान में आम का स्थानसंश्रय न होने से संधिशूलादि लक्षण प्रकट नहीं होते ।

संधिशूलादि लक्षणों के प्रकट होने की अवस्था को **प्रवृद्ध आमवात** कहा है।

प्रवृद्ध आमवात के लक्षण :-

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत् ।
हस्त-पाद-शिरो-गुल्फ-त्रिक-जानूरुसन्धिषु ।।
करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।
स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ।।
जनयेत् सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचि गौरवम् ।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमुत्रताम् ।।
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तृट्-छर्दि-भ्रम-मूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम् ।
जाड्यान्त्रकूजनामाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ।।

(मा. नि. २५/ ७-९)

प्रवृद्ध आमवात में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- हस्त-पाद-शिर-गुल्फ-त्रिक-जानु-उरु आदि सन्धि स्थानों में शूल एवं शोथ निर्माण होता है।
- संधि स्थान में आम संचित होने से वृश्चिकदंशवत् वेदना उत्पन्न होती है ।
- संधिशूल की तीव्रता को दर्शाने के लिए **वृश्चिकदंशवत्** वेदना की उपमा यहाँ दी गयी है।
- प्रसेक :- मुख में लालास्राव अधिक उत्पन्न होता है ।
- अरुचिः- अन्न सेवन करने की इच्छा नहीं होती ।
- गौरव :- सार्वदैहिक अंग गौरव उत्पन्न होता है ।
- उत्साहहानिः- मनोदौर्बल्य के कारण कार्यारंभ करने के लिए तत्परता नहीं रहती ।
- आस्यवैरस्य :- मुख का स्वाद विरस हो जाता है ।
- सर्वागदाह :- सार्वदैहिक पित्त संचार के कारण सर्वांग दाह उत्पन्न होता है ।
- बहुमुत्रता :- साम धातूओं के कारण क्लेद अधिक प्रमाण में उत्पन्न होता है । क्लेद को मूत्र के माध्यम से शरीर के बाहर निकालने के लिए मूत्र प्रवृत्ती का प्रमाण बढ़ने से बहुमुत्रता यह लक्षण उत्पन्न होता है ।
- साम वायु की कोष्ठ में संचिती होने से मलबद्धता, आन्त्रकूजन, स्तब्धत्व, कुक्षी कठिनता, आध्मान एवं उदरशूल उत्पन्न होता है ।
- निद्राविपर्यय :- रात के शीत गुण से आम वृद्धि होने से

उत्पन्न होने के कारण संधिशूल रात में बढ़ता है और दिन में कम होता है । इस कारण रोगी दिन में नींद लेता है और रात में जागरण करता है ।

- तृष्णा :- आम पाचन के लिए जल की आवश्यकता होती है।
- छर्दि :- आमाशय के दुष्टि के कारण छर्दि उत्पन्न होती है ।
- भ्रम, मूर्च्छा :- ये लक्षण पित्त दुष्टि के कारण उत्पन्न होते है।
- हृद्ग्रह :- साम रस की संचिती हृदय में होने से हृद्ग्रह उत्पन्न होता है ।
- इसके अतिरिक्त अन्य कष्टसाध्य उपद्रव (हृद्रोग, संधिग्रह आदि) उत्पन्न होते है।

दोषानुबंधानुसार लक्षण :-

पित्तात् सदाह-रागं च, सशुलं पवनानुगम् ।
स्तिमितं गुरु-कण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत् ।।

(मा. नि. २५/ ११)

- पित्त प्रधानता में संधि स्थान में दाह तथा आरक्तता उत्पन्न होती है ।
- वायु के अनुबंध से शूल उत्पन्न होता है ।
- कफ प्रधानता से स्तिमितता, गौरव और कण्डू ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

पित्त	दाह, राग
वात	शूल
कफ	स्तिमितता, गौरव, कण्डू

आमवात का साध्यासाध्यत्व :-

एकदोषानुगः साध्यो, द्विदोषो याप्य उच्यते ।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ।।

(मा. नि. २५/ १२)

- एक दोषज आमवात साध्य होता है ।
- द्वंद्वज आमवात याप्य होता है ।
- सन्निपातज और सार्वदैहिक शोथ युक्त आमवात कष्टसाध्य होता है ।

साध्य	एकदोषज
याप्य	द्विदोषज
कष्टसाध्य	सान्निपातिक, सार्वदैहिक शोथ युक्त

आमवात प्रकरण समाप्त

हृद्रोग

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह	मा. नि.
चि.२६, सि.८०	उ.तं.४३	नि.०५	नि.०५	२९

हृद्रोग की व्याख्या:-

हृद्रोगमिति वा शोकष्यत्र्योगेषु - इति रोगे परे हृदयस्य
हृद्भावः, अथवा हृदो रोगो हृद्रोगः ।

हृदय में उत्पन्न रोग (रचनात्मक अथवा कार्यात्मक विकृती) को हृद्रोग कहते है।

हृद्रोग के हेतू :-

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासगदातिचाराः ।
छर्द्यामसंधारणकर्शनानि हृद्रोगकर्तृणि तथाऽभिघातः ।।
(च. चि. २६/७७)

वेगाघातोष्णरुक्षान्नैरतिमात्रोपसेवितैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि (ति) भोजनैः ।।
तेषां गुल्मनिदानोक्तैः समुत्थानैश्च सम्भवः ।
(अ. हृ. नि.५/३८)

अत्युष्णगुर्वन्न-कषाय-तिक्त-श्रमाभिघाताध्यक्षनप्रसङ्गैः।
सत्र्चिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पत्र्चविधः प्रदिष्टः।।
(मा. नि. २९/१)

- नित्य अत्याधिक प्रमाण में उष्ण, गुरु, रुक्ष गुण प्रधान द्रव्यों का सेवन करना ।
- कषाय, तिक्त रस प्रधान द्रव्यों का सेवन करना ।
- अतिव्यायाम, अतिव्यवाय आदि प्रकार के वात प्रकोपक विहार करना ।
- विरुद्धाशन, अध्यशन, अजीर्णाशन, असात्म्य भोजन का सेवन करना ।
- वेगसंधारण करना ।
- तीक्ष्ण विरेचन तथा तीक्ष्ण बस्ति उपक्रम करना ।
- चिन्ता, भय आदि मानसिक हेतुओं से ग्रस्त रहना ।
- छर्दि और गुल्म इन व्याधी के जो हेतू है उन्हीं हेतूओं के सेवन से भी हृद्रोग उत्पन्न होता है।

हृद्रोग की सम्प्राप्ति :-

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते ।।
(सु. उ. ४३/ ३-४)

प्रकोपित वातादि दोष रस धातु को दुष्ट करके हृदय में ख-वैगुण्य उत्पन्न करते है । ख-वैगुण्य प्राप्त हृदय में प्रकोपित दोष स्थानसंश्रय करके हृदय में जो **बाधा** उत्पन्न करते है उसे हृद्रोग कहते है । "बाधा" शब्द से विविध प्रकार की पीडा या विकृति का उत्पन्न होना अपेक्षित है।

व्याधी नाम	**हृद्रोग**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	प्राण, व्यान	साधक	अवलंबक
दूष्य	रसधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	प्राणवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	हृदय		
उद्भवस्थान	आमाशय या पक्वाशय		
अधिष्ठान	उरः		
संचरण स्थान	प्राणवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	हृद्रोग		
भेद (५)	वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातज, कृमीज		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	वातज, पित्तज, कफज,कृमीज	
	असाध्य	सान्निपातज,	

हृद्रोग के प्रकार :-

चतुर्विधः स दोषैः स्यात् कृमिभिश्च पृथक् पृथक् ।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि चिकित्सितमनन्तरम् ।।
(सु.उ.४३/५)

....स्मृताः पञ्च तु हृद्गदाः । **(अ. हृ. नि.५/३८)**

सुश्रुताचार्यने हृद्रोग के चार और अ. हृदयकारने पाँच प्रकार कहे है।

१)वातज	२) पित्तज	३)कफज
४) सन्निपातज	५) कृमीज	

हेतू सेवन से दोष प्रकोप

रस धातु की दुष्टि

हृदय में स्थानसंश्रय

हृदय में विविध बाधाओं (पीडा) की उत्पत्ति

वैवर्ण्य, मूर्च्छा, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, आस्यवैरस्य, तृष्णा, प्रमोह, छर्दि, कफोत्क्लेश आदि वेदनाओं की उत्पत्ति

हृद्रोग उत्पत्ति
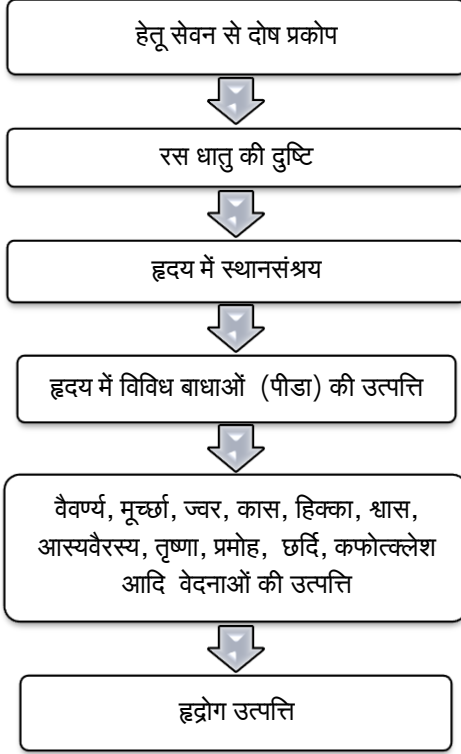
हृद्रोग के सामान्य लक्षण :-

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः
स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ।।

(च. चि. २६/७८)

हृद्रोग व्याधी में निम्न सामान्य लक्षण उत्पन्न होते है।

- वैवर्ण्यः- हृदयाभिघात के कारण त्वचा, नख, नेत्रवर्त्म आदि का वर्ण श्याव-नील हो जाता है ।
- मूर्च्छा :- मस्तिष्क के रसरक्त संवहन बाधा आने से मूर्च्छा आती है ।
- ज्वर, आस्यवैरस्य, कफोत्क्लेश, ज्वर और तृष्णा ये लक्षण सामावस्था के कारण उत्पन्न होता है ।
- कास, हिक्का, श्वास, छर्दि और प्रमोह ये लक्षण प्राण दूष्टि के कारण उत्पन्न होते है ।
- वात प्रकोप के कारण तोद, भेद आदि अनेक प्रकार की वेदना उत्पन्न होती है।

१) वातज हृद्रोग :-

शोकोपवासव्यायामरुक्षशुष्काल्पभोजनैः ।
वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम् ।।

(च. सू. १७/३०)

- आप्त, स्वकिय के विरह, धन, बन्धुनाश के कारण शोक करना ।
- शोक से मन में दुर्बलता आती है ।
- मन की कमजोरी हृद्रोग का मुख्य कारण है ।
- रुक्ष-शुष्क तथा अल्प भोजन और उपवास करने से पोषण अभाव होने से रस,रक्त का क्षय होता है ।
- अतिव्यायाम करने से रसरक्त संवहन बढ़ता है । शाखागत रक्त संवहन अधिक होने से हृदय का रक्त संचार कम होने से हृद्रोग उत्पन्न होता है ।

उपरोक्त कारणों से प्रकोपित हुआ वात दोष हृदय में स्थानसंश्रय करके वातज हृद्रोग उत्पन्न करता है।

वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता दरः ।
हृदि वातातुरे रुपं जीर्णेचात्यर्थवेदना ।।

(च. सू. १७/ ३१)

हृच्छ्चन्यभावद्रवशोषभेदस्तमभाः समोहाः पवनाद्विशेषः ।

(च. चि. २६/ ७९)

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा ।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ।।

(सु.उ.४३/६)

वातेन शूल्यतेऽत्यर्थे तुद्यते स्फुटतीव च ।।
भिद्यते शुष्यति स्तब्धं हृदयं शुन्यता द्रवः ।
अकस्माद्दीनता शोको भयं शब्दासहिष्णुता ।।
वेपथुर्वेष्टनं मोहः श्वासरोधोऽल्पनिद्रता ।

(अ. हृ. नि.५/३९ - ४१)

- वातज हृद्रोग में खिंचाव तथा सुचितोदवत वेदना उत्पन्न होती है।
- रुग्ण को ऐसा लगता है की उसके उर में कोई मथानी से मंथन कर रहा है, फाड या फोड रहा है या कुल्हाडी से कॉंट रहा है।
- हृदय में शोष उत्पन्न होता है ।
- हृदय की गति रुक् या कम (स्तब्ध) हो जाती है ।
- हृदय में शुन्यता उत्पन्न होती है ।
- हृदय की गति बढ़ (द्रवता) जाती है ।
- रोगी अकस्मात दीन हो जाता है।
- उसमें शोक, भय और शब्दासहिष्णुता बनी रहती है।

- मोह, कंप, वेष्टन (अवरोधित), श्वासावरोध तथा अल्पनिद्रा से रोगी ग्रस्त हो जाता है।

२) पित्तज हृद्रोग :-

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनैः ।
मद्यक्रोधातपैश्चाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति ।।
हृद्दाहस्तिक्तता वक्त्रे तिक्ताम्लोद्‌गिरणं क्लमः ।
तृष्णा मूर्च्छा भ्रमः स्वेदः पित्तहृद्रोगलक्षणम् ।।

(च. सू. १७/३२-३३)

पित्तात्तमोदूयनदाहमोहाः संत्रासतापज्वरपीतभावाः ।।

(च. चि. २६/७९)

तृष्णोषादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः ।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ।।

(सु.उ.४३/७)

पित्तातृष्णा भ्रमो मूर्च्छा दाहः स्वेदोऽम्लकः क्लमः ।।
छर्दनं चाम्लपित्तस्य धूमकः पीतता ज्वरः ।

(अ. हृ. नि.५/४१)

निम्न पित्तकर हेतूओं के सेवन से आशुगति से पित्तज हृदय रोग उत्पन्न होता है ।

- उष्ण गुण के पदार्थो का सेवन करना ।
- अम्ल, कटु तथा लवण रस प्रधान द्रव्यें का सेवन करना ।
- अजीर्ण के रहते भोजन करना ।
- अति मद्यपान करना ।
- क्रोध करना ।
- आतप सेवन करना ।

पित्तज हृद्रोग में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- दूयन :- मुख, नेत्र, नासा, कर्ण आदि अवयवों में बाष्पयुक्त दाह जैसी संवेदना महसुस होती है ।
- तृष्णा, ओष, चोष, दाह, मोह और ज्वर इन पित्तज वेदनाओं से रुग्ण पिडीत रहता है।
- रोगी थकावट (क्लम) महसुस करता है ।
- मुख से धुँवा-सा (धुमायन) निकलता है ।
- मूर्च्छा उत्पन्न होती है ।
- प्रभुत स्वेद प्रवृत्ति होती है ।
- पित्त के उष्ण गुण के कारण मुखशोष उत्पन्न होता है ।
- रोगी बैचेन (संत्रास) रहने लगता है ।
- अन्न का विदाह होने से अम्लक (गले तक खट्टा पानी आना), अम्लपित्त तथा च्छर्दि आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।

३) कफज हृद्रोग :-

अत्यादानं गुरुस्निग्धमचिन्तनमचेष्टनम् ।
निद्रासुखं चाभ्यधिकं कफहृद्रोगकारणम् ।।
हृदयं कफहृद्रोगे सुप्तं स्तिमितभारिकम् ।
तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावृतं यथा ।।

(च. सू. १७/३४-३५)

स्तब्धं गुरु स्यात् स्तिमितं च मर्म कफात्
प्रसेकज्वरकासतन्द्राः ।

(च. चि. २६/८०)

गौरवं कफसंस्रावाऽरुचिः स्तभोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चाऽऽस्यस्य बलासावतते हृदि ।।

(सु.उ.४३/८)

श्लेष्मणा हृदयं स्तब्धं भारिकं साश्मगर्भवत् ।।
कासाग्निसादनिष्ठीवनिद्रालस्यारुचिज्वराः ।

(अ. हृ. नि.५/४२)

निम्न कारणों से कफज हृद्रोग उत्पन्न होता है।

- गुरु, स्निग्ध आदि कफकर गुणयुक्त द्रव्यों का सेवन करना।
- जादा मात्रा में भोजन (अत्यादान) करना ।
- किसी भी बात की चिंता न करना ।
- सतत एक ही स्थान में बैठे रहना, शरीर की हालचाल (चेष्टा) न करना ।
- अधिक समय के लिए निंद (निद्राधिक्य) लेना ।

कफज हृद्रोग में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- गात्र सुप्तता, स्तैमित्य, अंगगौरव, आलस्य, तन्द्रा एवं स्तम्भ उत्पन्न होता है ।
- अग्निमांद्य के कारण मुखप्रसेक, अरुचि, ज्वर उत्पन्न होती है ।
- प्राणवह स्त्रोतस दूष्टि से कास एवं ष्ठिवनाधिक्य उत्पन्न होता है ।
- हृदय में भारीपन उत्पन्न होता है । इस भारीपन भारीपन की तीव्रता दर्शान के लिए पत्थर हृदयपर रख दिया है ऐसी उपमा हृदयकारने दी है।

४) सन्निपातज हृद्रोग लक्षण :-

हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातकः ।
(हृद्रोगः कष्टदः कष्टसाध्य उक्तो महर्षिभिः)
त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ।।

(च. सू. १७/ ३६)

विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं ....।

(च. चि. २६/ ८०)

सर्वलिङ्गस्त्रिभिदोषैः ......।

(अ. हृ. नि.५/४३)

सन्निपातज हृद्रोग में तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण मिलते है ।

यह हृद्रोग अत्यंत कष्टदायक होता है।

५) कृमीज हृद्रोग :-

उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः शूलो हृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च कृमिजे भवेत् ।।

(सु.उ.४३/९)

तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ।
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति ।।
संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ।
मर्मैकदेशे ते जाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च ।।
तुद्यमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते ।
छिद्यमानं यथा शस्त्रैर्जातकण्डूं महारुजम् ।।
हृद्रोगं क्रिमिजं त्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्वा शीघ्रकारिणम् ।।

(च. सू. १७/३७-४०)

.....तीव्रार्तितोदं कृमिजं सकण्डूम् ।।

(च. चि. २६/८०)

...........कृमिभिः श्यावनेत्रता ।
तमः प्रवेशो हृल्लासः शोषः कण्डूः कफस्रुतिः ।
हृदयं प्रततं चात्र क्रकचेनेव दार्यते ।।
चिकित्सेदामयं घोरं तं शीघ्रं शीघ्रकारिणम् ।

(अ. हृ. नि.५/४३-४५)

तिल, गुड, क्षीर आदि कफकर पदार्थों का सेवन करने से कृमीज हृद्रोग उत्पन्न होता है।

कफकर हेतूओं से क्लेद उत्पन्न होता है । क्लेद से उत्पन्न कृमी मर्मदेश अर्थात हृदय में जाकर हृदय का भक्षण करते है । इस तरह कृमीज हृद्रोग उत्पन्न होता है।

- इसमें हृदय में सुचितोदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- हृद्शूल का स्वरुप आरी (शस्त्र-प्रकार) से निरन्तर काटने जैसा (दारणवत्) होता है।
- कण्डू, हृल्लास, अरुचि, उत्क्लेश, ष्ठीवन प्रवृत्ती, मुख से कफ का स्राव बहते रहना, श्याव नेत्रता, तमः प्रवेश, शोष आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

हृद्रोग के उपद्रव :-

भ्रमक्लमौ सादशोषौ ज्ञेयास्तेषामुद्रवाः ।
कृमिजे कृमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ।।

(सु. उ.४३/१०)

हृद्रोग के भ्रम, क्लम, अंगसाद, शोष ये उपद्रव है ।

हृद्रोग प्रकरण समाप्त

धमनी प्रतिचय

संदर्भ :- चरक सू. २०

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्व व्याख्यास्यामः तद्यथा- तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखस्त्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याधिक्यं च,

बलासकश्च, कण्ठोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च, इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः; श्लेष्मविकाराणामपरिसङ्ख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ।

(च. सू. २०/१७)

धमनी प्रतिचय इस विकार की चरकाचार्य ने सूत्रस्थान के महारोग अध्याय में कफज नानात्मज रोग में परिगणना की है। इस पर टीकाकारों की टिप्पणीयाँ निम्न प्रकार से है ।

धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः। चक्रपाणी

धमन्युपलेपन धमनीनां पुष्टता इति गङ्गाधरः ।

धमनीनां प्रतिचयः अतिपूरणं इति योगीन्द्रनाथसेनः ।

चरक टिकाकार चक्रपाणी कहते है की धमनी में उपलेप जमा हो जाता है । यह उपलेप कफ से दुषित साम मेद का होता है । गंगाधर ने अपनी टिका में धमनी की पुष्टी होना ऐसा कहा है । यह पुष्टी मेद से हो होती है । योगीन्द्रनाथ सेन ने इसे मेद का धमनी में अतिपूरण होना कहा है ।

धमनी प्रतिचय होने से रसरक्त संवहन में अवरोध उत्पन्न हो जाने से प्रकोपित वायु द्वारा रक्तभाराधिक्य (Hypertention) उत्पन्न हो जाता है ।

धमनी प्रतिचय प्रकरण समाप्त

दग्धरोग

संहिता ग्रंथो में दग्ध शब्द का प्रयोग **दग्ध चिकित्सा** इस अर्थ से किया गया है। चिकित्सा के शिवाय अगर दग्ध होता है तो उसे **इतरथा दग्ध** कहा गया है।

अत ऊर्ध्वमितरथा दग्धलक्षणं वक्ष्यामः।
तत्र स्निग्धं रुक्षं वाऽऽ(चा)श्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति;
अग्निसंन्तप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वात्
त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति; तस्मात् स्नेहदग्धेऽधिका
रुजो भवन्ति ।।

(सु. सू, १२/ १५)

दुर्घटना वश या किसी अन्य कारणों से उष्ण पदार्थ, आग या किरणोत्सर्ग आदि के कारण दग्ध होना इस **इतरथा दग्ध** कहा है। स्नेह या रुक्ष द्रव्यों के आश्रय से उत्पन्न हुई आग शरीर को जला देती है । अग्नि से गरम हुआ स्नेह द्रव्य सुक्ष्म सिराओं में अनुप्रविष्ट होकर दाह उत्पन्न करता है। इस कारण से स्नेह दग्ध में वेदना अधिक होती है।

दग्ध भेद : (एकुण चार प्रकार)

तत्र प्लुष्टं दुर्गन्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं चेति
चतुर्विधमग्निदग्धम् ।
तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत् प्लुष्टम्; यत्रोत्तिष्ठन्ति
स्फोटास्तीव्राश्चोषदाहरागपाकवेदना श्चिराच्चोपशाम्यन्ति
तद्दुर्दग्धम् ।
सम्यग्दग्धमनवगाढं तालफलवर्णं सुसंस्थितं
पूर्वलक्षणयुक्तं च; अतिदग्धे मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः
सिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं
ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति, व्रणश्चास्य
चिरेण रोहति, रुढश्च विवर्णो भवति ।
तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्धलक्षणमात्मकर्मप्रसाधकं भवति ।।

(सु. सू. १२/ १६)

इतरथा दग्ध के चार भेद है ।

१. प्लुष्ट	२. दुर्दग्ध	३. सम्यग्दग्ध	४. अतिदग्ध

१) प्लुष्ट दग्ध :-

अग्नि से अधिक मात्रा में झुलस जाने से त्वक्वैवण्य उत्पन्न होता है ।

२) दुर्दग्ध दग्ध :-

- दुर्दग्ध में त्वचा में विस्फोट उत्पन्न होते है ।
- इनमें दाह, राग, पाक और वेदना उत्पन्न होती है ।
- ये विस्फोट व्रण में परिवर्तीत होकर कालान्तराल से ठीक हो जाता है ।

३) सम्यग्दग्धः-

- यह उत्तान दग्ध होता है।
- दग्ध स्थान की त्वचा का वर्ण तालवृक्ष के फल के समान हो जाता है ।
- सुसंस्थित (न उँचा न नीचा) और त्वचा, रक्त, मांस, सिरा,स्नायु, सन्धि और अस्थि के दग्ध लक्षण युक्त यह सम्यग्दग्ध होता है।

४) अतिदग्धः-

- इसमें त्वचा अत्याधिक प्रमाण में जलने से मांस धातु लटका हुआ दिखाई देता है।
- दग्ध स्थान छिन्न-विछिन्न हो जाता है।
- सिरा,स्नायु, सन्धि और अस्थि आदि का अत्याधिक विनाश हो जाता है ।
- इसमें ज्वर, दाह, पिपासा, मूर्च्छा ये उपद्रव उत्पन्न होते है।

अग्निदग्ध से प्रकोपित दोष एवं दूष्य :-

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति ।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते ।।
तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते ।।
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च बाधते ।

(सु. सू. १२/ १७-१९)

अग्नि से दग्ध हो जाने से रक्त अत्यन्त दूष्ट हो जाता है । रक्त दुष्टि के कारण पित्त भी विकृत हो जाता है ।

- रक्त और पित्त दोनों समान वीर्य और रस के द्रव्य होने के कारण दग्ध से उत्पन्न वेदना और विदाह तीव्र होता है ।
- शीघ्र ही स्फोट उत्पन्न हो जाते है ।
- ज्वर तथा तृष्णा से रुग्ण व्याकुल हो जाता है ।

अन्य दग्ध के प्रकार :-

उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा।

शीतवर्षानिलैर्दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते ।।
तथातितेजसा दग्धे । सिद्धिर्नास्ति कथञ्चन ।।
इन्द्रवज्राग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत् ।
स्नेहाभ्यङ्गपरीषैकैः प्रदेहैश्च तथा भिषक् ।।
(सु. सू. १२/ ३८- ३९)

अग्निदग्ध के अलावा निम्न कारणों से दग्ध उत्पन्न होता है।
अग्निदग्ध के अलावा निम्न कारणों से दग्ध उत्पन्न होता है।

- उष्णवात :- गरम हवा के संपर्क में आने से ।
- आतपसेवन :- धुप में सतत काम करने से ।
- शीतवर्षानिलः बर्फ के संपर्क में त्वचा आने से ।
- इन्द्रवज्राग्नि दग्ध :- आकाश में बादलों के घर्षण होकर उत्पन्न बिजली के गिरने से ।
- विद्युत संपर्क (अनुक्त हेतू):- Due to Electrical Shock

दग्ध प्रकरण समाप्त

कामला

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह
सु. १९, चि.-१६	उ. ४४	नि. १३	नि. १३

कामला की व्याख्या :-

विविधान् कामान् लाति कामला ।

सभी प्रकार की इच्छाँयों का नाश होना अर्थात किसी भी प्रकार की कामना (शरीरिक या मानसिक) उत्पन्न न होना, इसे कामला रोग कहते है ।

कामला रोग से ग्रस्त होने से रुग्ण के शारीरिक बल का अत्याधिक प्रमाण में क्षय हो जाता है । वह कोई भी कार्य कर नहीं सकता । शारीरिक दौर्बल्य के कारण मानसिक दौर्बल्य भी उत्पन्न हो जाने से किसी भी प्रकार की इच्छा मन में उत्पन्न न होने के कारण इसे कामला कहते है ।

कामला के दो प्रकार :-

१) बहुपित्तकामला	२) रुद्धपथ कामला

कामला की संप्राप्ति :-

१) बहुपित्तकामला (कोष्ठ शाखाश्रित कामला):-

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ।।
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
रक्त-पीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ।।
दाहाविपाक-दौर्बल्य-सदनारुचिकर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ।।

(च.चि. १६/३४-३६)

योह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्लद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम् ।
करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् पूर्वैरिती तन्द्रिबलक्षयौ च ।।

(सु.उ. ४४/१०)

पाण्डुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम् ।।
कोष्ठशाखाश्रयां पित्तं दग्ध्वाऽसृङ्मांसमावहेत् ।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वङ्नखवक्त्रशकृत्तया ।।
दाहाविपाकतृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेन्द्रियः ।

(अ. हृ. नि. १३/१५-१७)

- पाण्डुरोग से ग्रस्त रोगी अगर अत्याधिक प्रमाण में पित्तकर आहार-विहार का सेवन करता है तो प्रकोपित पित्त से रक्त और मांस का दहन होकर कामला रोग उत्पन्न होता है ।
- कामला ग्रस्त रुग्ण की आँखे हल्दी के सदृश पीत वर्ण की हो जाती है ।
- त्वचा, नख, नेत्रादि स्थान अत्यन्त पीले हो जाते है ।
- मल-मूत्र रक्त मिश्रित पीतवर्ण का हो जाता है ।
- शरीर का वर्ण बरसाती मेंढक जैसा हो जाता है ।
- रोगी की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को सम्यक् तरह से ग्रहण न कर पाने से कार्य कर नहीं पाती।
- दाह, अविपाक, अरुचि, दौर्बल्य, तृष्णा, अंगसाद आदि के कारण रुग्ण कृश होने लगता है ।
- यह कामला पित्त की अधिकता से होने से बहुपित्त कामला कहते है ।
- कोष्ठ और शाखा इन दोनों के आश्रय से होती है इसलिए इसे कोष्ठशाखाश्रित कामला ऐसा भी कहते है ।

भवेत्पित्तोल्बणस्यसौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च ।।

(अ. हृ. नि. १३/१७)

पाण्डु रोग के बिना अत्याधिक पित्तकर हेतूओं के सेवन से भी कामला उत्पन्न हो सकती है, ऐसा अ. हृदयकार ने स्पष्ट किया है।

२) रुद्धपथ कामला :-

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ।।
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत्पित्तं कफहरैर्जयत् ।
रुक्षशितगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहः ।।
कफसंमुर्च्छितो वायुः स्थानात्पित्तं क्षिपेद्बली ।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः ।।
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ।
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः ।।
क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ।

(च .चि. १६ / १२४ ते १२८)

रुक्ष, शीत, गुरु, मधुर, द्रव्यों का सेवन करना, अतिव्यायाम करना, वेगविधारण आदि कारणों से प्रकोपित हुआ वायु, कफ दोष के साथ संयुक्त होकर पित्त को स्वस्थान (यकृत) से बाहर निकालकर शाखाओं में प्रक्षेपित करता है । पित्तवाहिनी नलिका में कफ का अवरोध होने से पित्त का स्त्रवन कोष्ठ में नहीं हो पाता । इस तरह पित्तवाहिनी नलिका में अवरोध उत्पन्न होने से जब कामला उत्पन्न होती है तब उसे रुद्धपथ कामला कहते है ।

व्याधी नाम	**कामला**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान	पाचक	क्लेदक
दूष्य	रस एवं रक्त		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	अन्नवह, रक्तवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग और विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	आमाशय		
उद्भवस्थान	आमाशय		
अधिष्ठान	कोष्ठ (यकृत)		
संचरण स्थान	रस एवं रक्तवह स्त्रोतस मार्फत सार्वदैहिक		
रोगमार्ग	मध्यम		
अवस्था	कुम्भकामला, हलीमक, लाघरक, पानकि		
भेद (२)	शाखाश्रीत एवं कोष्ठशाखाश्रीत		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	शाखाश्रीत	
	कष्टसाध्य	कोष्ठशाखाश्रीत, उपद्रवयुक्त असाध्य	

पित्त से मलरंजन न होने से तिल की खली के सदृश तिलपिष्टवत् श्वेतकृष्ण वर्ण की एवं शुष्क मल प्रवृत्ती उत्पन्न होती है। पित्त वाहिनी में कफ का अवरोध होने के कारण कोष्ठ में पित्त का स्त्राव नहीं होता परंतु व्यान वायु द्वारा इसका प्रसर शाखाओं में किया जाता है । इस कारण **मल के अतिरिक्त** नेत्र-नख-वदन-त्वचा-मूत्र आदि स्थानों में हल्दी के समान पिला वर्ण उत्पन्न होता है ।

पित्त का स्त्रवन कोष्ठ में न होने से इसे शाखाश्रित कामला कहते है ।

अग्निमांद्य के साथ वात प्रकोप रहने से आटोप, विष्टंभ उत्पन्न होता है ।

हृदय गौरव, दौर्बल्य, पार्श्वशूल, अरुचि, ज्वर, हिक्का, श्वास आदि से रोगी पीडित रहता है ।

कफदोष युक्त बलवान वायु द्वारा पित्त का स्वस्थान से विमार्गगमन

प्रकोपित पित्त का शाखागत संचार

नेत्र-नख-वदन-त्वचा-मूत्र आदि में हल्दी के समान पीत वर्ण उत्पत्ति

मल का स्वरुप तिलपिष्टवत

अग्निमांद्य के साथ वात प्रकोप रहने से आटोप, विष्टंभ

हृदय गौरव, दौर्बल्य, पार्श्वशूल, अरुचि, ज्वर, हिक्का, श्वास आदि लक्षण उत्पत्ति

रुद्धपथ कामला
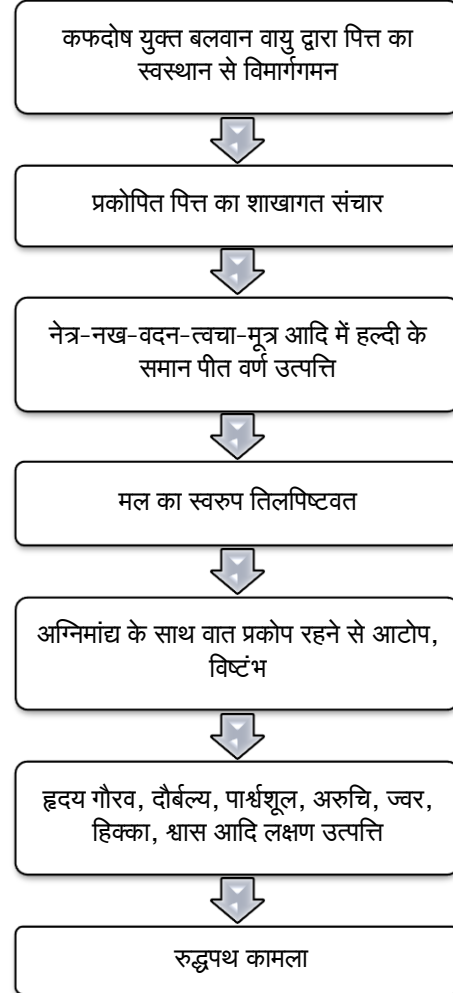
कुम्भकामला के लक्षण :-

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला ।
भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः ।।
(सु.उ. ४४/११)

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला ।
कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ।।
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति ।
दाहारुचि तृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ।।
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते ।
(च .चि. १६ / ३७-३९)

उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला ।
(अ. हृ. नि. १३/१८)

- कामला व्याधी की उपेक्षा अर्थात चिकित्सा न करने से कालान्तर धातुओं में खरपाक होने लगता है । इससे उत्पन्न हुए शोथ को कुम्भकामला कहते है ।
- मल-मूत्र का लाल वर्ण होता है ।
- मूर्च्छा, दाह, अरुचि, तृष्णा, तन्द्रा, मोह, आनाह, अग्निमांद्य तथा संज्ञानाश ये लक्षण कुम्भकामला में उत्पन्न होते है ।
- रोगी शीघ्र ही मर जाता है ।
- यह विकार कष्टसाध्य होता है ।
- सुश्रुत ने शोथ और पर्वभेद इन लक्षणों के साथ कामला को **कुम्भसाह्व** कहा है ।

कुम्भ कामला के असाध्य लक्षणः-

छर्दीरोचकन्हल्लासज्वरक्लमनिपीडतः ।
नश्यतिश्वासकासार्तोविड्भेदी कुंभकामली ।।

(मा. नि. ८/२१)

छर्दि, अरोचक, न्हल्लास, ज्वर, क्लम, अतिसार, श्वास-कास इन लक्षणों से युक्त कुम्भकामला असाध्य होती है ।

हलीमक :- (वातपित्तज)

पर्यायी नाम (वाग्भट):- अलस , लाघव , लाघरक, लोठर

तं वातपित्ताद्धरित्पीतनीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः ।।

(सु.उ. ४४/१२)

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्याव-पीतकः ।।
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रामन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासतृष्णारुचिभ्रमः ।।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ।

(च .चि. १६/ १३२-१३३)

हरितश्यावपीतत्वं पाण्डुरोगे यदा भवेत् ।।
वातपित्ताद्भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुज्वरः ।
तन्द्राबलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम् ।।

(अ. हृ. नि. १३/१८-१९)

हलीमक रोग में वायु और पित्त का प्राबल्य होता है ।

हरीत, पीत, नील, श्याव तथा पाण्डु वर्ण त्वचा में उत्पन्न होता है।

बलहानि, अग्निमांद्य, उत्साह हानि, तन्द्रा, मंदज्वर, मैथुन अभाव, अंगमर्द, दाह, तृष्णा, अरुचि और भ्रम ये लक्षण हलिमक रोग में उत्पन्न होते ।

लाघर(व)/ अलस :-

ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्राक्षयान्वितो
लाघर(व)कोऽलसाख्यः ।

(सु.उ. ४४/११)

अलसं चेति शंसन्ति ....।

ज्वर, अंगमर्द, भ्रम, अंगसाद, तन्द्रा, बलक्षय इन लक्षणों के साथ कुम्भकामला को सुश्रुत ने अलसक या लाघरक कहा है।

पानकी :-

संतापो भिन्नवर्चस्तं बहिरन्तश्च पीतता ।
पांडुता नेत्रयोर्यस्य पानकी लक्षणं भवेत् ।।

(वंगसेन टिका-चरक)

शरीर की बाह्य त्वचा तथा अन्तस्थ कोष्ठ की श्लेष्मल कला इनमें पित वर्ण उत्पन्न होकर अगर नेत्र में श्वेत वर्ण उत्पन्न होता है तो उसे पानकी कहते है ।

पानकी में ज्वर और अतिसार ये भी लक्षण रहते है ।

कामला प्रकरण समाप्त

8 रक्तपित्त

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह
नि. २, चि. ४	उ.तं. ४५	नि. ३	नि. ३

रक्तपित्त उत्पत्ति की कथा :-

.....तस्मिन् हि दक्षाध्वंरध्वंसे देहिनां नानादिक्षु विद्रवतामभिद्रवणतरणधावनप्लवनलङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः ... तत्सन्तापाद् रक्तपित्तम् .....।

(च. नि. ८/ ११)

रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोद्ध्वंसे रुद्रप्रकोपामर्षाग्निना प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानाभवज्ज्वरमनु ।।

(च.नि. २/ १०)

दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस हो जाने के बाद भयभीत होकर सभी प्राणी इधर-उधर भागने लगे थे । इस बेकाबु परिस्थिती में भग-दड़ मचना, तैरना, दौडना, कूदना, लांघना, आदि से शरीर को पीडित करने वाली घटनायें पैदा हुई, जिसके कारण शरीर में उत्पन्न हुए संताप से रक्तपित्त व्याधी की उत्पत्ति हो गयी।

पर्याय :- लोहितपित्त

रक्तपित्त की व्याख्या :-

संयोगाद् दूषणात् तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः ।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ।।
प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते ।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ।।

(च. चि. ४/ ९-१०)

पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद् दूषणादपि ।
गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते ।।

(अ. हृ. नि. ३ /३)

पित्तं यथाभूतं लोहितपित्तमिति संज्ञा लभते ।

(च. नि. २/३)

संसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितमित्याचक्षते ।

(च. नि. २/५)

पित्त की उत्पत्ति रक्त से होती है। पित्त, रक्त का मल है। दोनों एक दूसरे के सहचारी है । प्रकोपित हुआ पित्त दोष, रक्त को दुषित करता है। प्रकोपित पित्त का दुष्ट रक्त के संसर्ग में आने से रक्त की दूष्टि बढ़ जाती है। इस कारण दुष्ट रक्त का गन्ध और वर्ण पित्त को प्राप्त हो जाता है। इस तरह दूषित पित्त और रक्त के सहचर्य को रक्तपित्त (लोहितपित्त) कहते है।

चक्रपाणि द्वारा रक्तपित्त की परिभाषा निम्न प्रकार से की है ।

१) रक्तयुक्तं पित्तं रक्तपित्तम्।

रक्त के साथ संयुक्त होकर पित्त विकार उत्पन्न करता है।

२) रक्ते दूष्ये पित्तम् ।

रक्त की दूष्टी पित्त द्वारा होती है।

३) रक्तवत् पित्तं रक्तपित्तम् ।

रक्त के समान पित्त हो जाता है।

आशुकारी स्वभावः-

महागदं महावेगमग्निच्छीघ्रकारि च ।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ।।

(च. चि. ४/ ५)

निम्न शब्दों के प्रयोग से रक्तपित्त का आशुकारीत्व दर्शाया गया है ।

१) महागदः- घातक स्वरुप का विकार होने से महागद कहा है।
२) **महावेगः-** रक्तस्राव के वेग तीव्र गति से उत्पन्न होते है और प्रभुत मात्रा में रक्तस्राव होता है ।
३) **अग्नि शीघ्रकारीः-** जंगल में लगी आग जिस प्रकार से तृणादि का विनाश तुरंत करती है उसी तरह रक्तपित्त के लक्षण तीव्र गति से उत्पन्न होकर शरीर का विनाश करते है।

रक्तपित्त के हेतू :-

यदा जन्तुर्यवकोद्दालककोरदूषप्रायाण्यन्नानि भुङ्क्ते भृशोष्णतीक्ष्णमपि चान्यदन्नजातं निष्पावमाषकुलत्थ सूपक्षारोपसंहितं दधिमण्डोदश्वित्कट्वराम्लकाञ्जिकोपसेकं वा, वाराहमाहिषाविकमात्स्यगव्यपिशितं, पिण्याकपिण्डालु शुष्कशाकोपहितं, मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रु (खडयुष) भूस्तणसुमखसुरसकुठेरकण्डीरकालमालकपर्णाक्षवक फणिज्झकोपदंशं सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकमधूलक

शुक्तकुवलवदराम्लप्रायानुपानं वा, पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठम्; ऊठाभितप्तो वाऽतिमात्रमतिवेलं वाऽऽमं पयः पिबति, पयसा समश्नाति रौहिणीकं काणकपोतं वा सर्षपतैलक्षारसिद्धं, कुलत्थपिण्याकजाम्बवलकुचपक्वैः शौक्तिकैर्वा सह क्षीरं पिबत्युष्णाभितप्तः; ...।

(च. नि. २/४)

तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटुनि लवणानि च ।
धर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः।।

(च. चि. ४/ ६)

क्रोधशोकभयोयासविरुद्धान्नातपानलान् ।
कट्वम्ललवणक्षारतीक्ष्णोक्ष्णातिविदाहिनः ।।
नित्यमभ्यसतो दुष्टो रसः पित्तं प्रकोपयेत् ।

(सु.उ. ४५/३-४)

भृशोष्णतीक्ष्णकट्वम्ललवणादिविदाहिभिः ।
कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्तद्युक्तैरतिसेवितैः ।।

(अ. हृ. नि. ३ / १)

रक्तपित्त रोग के निम्न हेतू होते है ।

यवक (जई),उद्दालक (जंगली कोदों), कोरदूष (कोदों या मडुवा) इनके साथ ***अथवा*** इनके गुणधर्म के सदृश्य आहार के साथ, अत्यन्त ऊष्ण, तीक्ष्ण गुण के आहार के साथ ***और*** निष्पाव, उडीद, कुलत्थ इनके साथ **क्षार पदार्थो को मिलाकर इनका सूप सेवन करना।**

- दहि, दहिमण्ड (जल), उदश्वित (आधा दही और आधा पानी मिलाकर बनाया-मठा) कट्वर (अम्लदहि), अम्ल कांजी आदि द्रव्यों का सेवन करना।
- वराह (डुक्कर), माहिष (भैंसा), आवि (भेड़), मत्स्य आदि का मांस सेवन करना ।
- पिण्याक (तिलकल्क), पिण्डालु (अरुई या बण्डा), शुष्कशाक - इनका सेवन करना।
- मूली, सर्षप, लशुन, करञ्ज, शिघ्रु इनका खड़युष (कढ़ी), गन्धतृण, काली तुलसी, तुलसी, वन तुलसी, गण्डीर, कालमालक (वर्तरिका), पर्णास (पारसिक यवानि), क्षवक (छिक्किनी), फणिज्झक (गन्धतुलसी) इनका व्यंजन तयार करके सेवन करना ।
- सुरा (मद्य), सौविर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मधूलक, शुक्त (अम्ल), बडी एवं छोटी बेर आदि या इनके जैसे अम्ल पदार्थों का आहार में सेवन करना ।
- पिष्टान्न का अधिक प्रमाण में सेवन करना ।
- ऊष्णाभितप्त (आतप, अग्नि आदि का सेवन करके बार-बार कच्चा दूध (न उबाला) सेवन करना ।
- रोहणी, शाक (हरी सब्जी) के साथ दुग्धपान करना ।
- सरसो (मोहरी) के तेल में पक्व किया जंगली कबुतर का मांस सेवन करना ।
- ऊष्णाभितप्त हुए व्यक्ति ने दूध के साथ कुलत्थ, तील की चटणी खाना ।
- जाम्भु, वट इनके साथ सिरका मिश्रित पक्व किए हुए आहार का सेवन करना ।
- क्रोध, शोक, भय, आदि मानसिक हेतूओं से पीड़ित रहना।
- विरुद्धाशन, विदाही अन्न का सेवन, अति उष्ण, तीक्ष्ण गुण के कटु, अम्ल एवं लवण रस युक्त पदार्थों का अति मात्रा में सेवन करना ।
- कोद्रव, उद्दालक, आदि प्रकार के अन्न का अधिक मात्रा में सेवन करना ।

रक्तपित्त के पूर्वरुप :-

तस्येमानि पूर्वरुपाणि भवन्ति; तद्यथा - अनन्नाभिलाषः भुक्तस्य विदाहः, शुक्ताम्लगन्धरसोद्गारः छर्देरभीक्ष्णमागमनं छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेदो, गात्राणां सदनं, परिदाहः, मुखाद् धूमागमइव लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमिव चास्यस्य, रक्तहरितहारिद्रत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिङ्घाणकास्यकर्णमल ापिडकोलिकापिडकानाम्, अङ्गवेदना, लोहितनीलपीतश्यावानामर्चिषआमतां च रुपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति (लोहितपित्तपूर्वरुपाणि भवन्ति) ।

(च. नि. २/६)

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ।

(सु.उ. ४५/७)

शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः ।।
छर्दिश्छर्दितबैभत्स्यं कासः श्वासो भ्रमःक्लमः ।
लोहलोहितमत्स्यामगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः ।।
रक्तहारिद्रहरितवर्णता नयनादिषु ।
नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम् ।। स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन् भविष्यति ।

(अ. हृ. नि. ३ / ४-७)

रक्तपित्त के निम्न पूर्वरुप होते है ।

- अनन्नाभिलाषा, अविपाक (भुक्त अन्न पाक न होना) उत्पन्न होना ।

- इस कारण विदाह, शुक्त (अम्ल) गन्ध आना ।
- अम्लोद्गार, अम्ल एवं शुक्त रस की छर्दि उत्पन्न होना ।
- छर्दित द्रव्य के प्रति घृणा उत्पन्न होना ।
- बार-बार छर्दि होना ।
- स्वरभेद, अंगसाद, अंगदाह, अंगवेदना उत्पन्न होना ।
- मुखगत धूमायन, लोह-रक्त-मत्स्य इनके जैसा मुख से गंध आना ।
- आरक्त, नील, श्याव इन वर्ण से प्रकाशमान स्वप्नदर्शन होना।
- शिरो गौरव, अंगसाद, अरुचि, शीतकामना, धूमक, अम्लक, कास, श्वास, भ्रम, क्लम, स्वरक्षय उत्पन्न होना ।
- नेत्र, नासा, मुख, कर्ण और पिडका इनके मलों को रक्त-हरित-हारिद्रवर्ण प्राप्त होना ।
- त्वक-नख-नेत्र-मुत्र-मल, स्वेद, लालास्राव, आदि स्थानों में आरक्त, हारिद्र, या पित वर्ण उत्पन्न होना ।

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति :-

....तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते ।
तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरुणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहितं दूष्यति ।।

(च. नि. २/४)

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते ।
तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत् ।।
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातो प्रसिच्यते ।
स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधुगच्छति ।।

(च. चि. ४/ ७-८)

विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम् ।।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ।

(सु.उ. ४५/४)

कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते ।
ते मिथस्तुल्यरुपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम् ।।

(अ. हृ. नि. ३ / २)

उपरोक्त हेतूओं के सेवन से पित्त दोष की वृद्धि हो जाती है । पित्त स्वयं के उष्ण गुण से मांसादि धातु का स्वेदन करके उनके जलभाग को रक्त मे खिंचकर लाता है । इन कारणों से रक्त का भी प्रमाण में बढ़ जाता है । इस तरह से रक्त की मात्रा अधिक होने से प्रकोपित पित्त एवं दुष्ट रक्त शरीर में सर्वत्र परिभ्रमण करता है। यह दूष्ट रक्त और पित्त यकृत और प्लीहा से उद्भव होने वाली रक्तवाही सिरामुखों में अवरोध निर्माण करते है । रक्तवह स्रोतस के इन मूल स्थानों में अभिष्यन्द्य निर्माण करते है । इस तरह रक्त (रक्तवह स्रोतस) की दुष्टि होकर रक्तपित्त व्याधी निर्माण होता है ।

व्याधी नाम	**रक्तपित्त**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	समान	पाचक	क्लेदक
दूष्य	रक्तधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य एवं रक्तधात्वाग्नि		
दुष्ट स्रोतस	रक्तवह		
स्रोतोदुष्टी	संग, अतिप्रवृत्ती और विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	त्वचाः- बाह्य अथवा अभ्यन्तर		
उद्भवस्थान	आमाशय एवं पक्वाशय		
अधिष्ठान	यकृत-प्लीहा		
संचरण स्थान	सार्वदैहिक		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	रक्तपित्त		
भेद (३)	ऊर्ध्वग, अधोग, तिर्यक्		
स्वभाव	आशुकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एकमार्गस्थ, नविन, ऊर्ध्वग	
	कष्टसाध्य	अधोग	
	याप्य	द्विदोषज	
	असाध्य	उपद्रवयुक्त, तिर्यक् क्षीणदेह	

रक्तपित्त के प्रकारः-

बाह्यासृग्लक्षणैस्तस्य सङ्ख्यादोषोच्छ्रितीर्विदुः ।।

(सु.उ. ४५/८)

सुश्रुत सुत्र स्थान के शोणित वर्णनीय अध्याय -१४ में रक्त दुष्टि के लक्षणों के वर्णन अनुसार से रक्तपित्त के ७ प्रकार और वातादि दुष्टि के लक्षण समझने चाहिए । इस विधान को ध्यान में रखकर सुश्रुत के रक्त दुष्टि के लक्षणों को रक्तपित्त के दोषज प्रकारों में सामाविष्ट किया है।
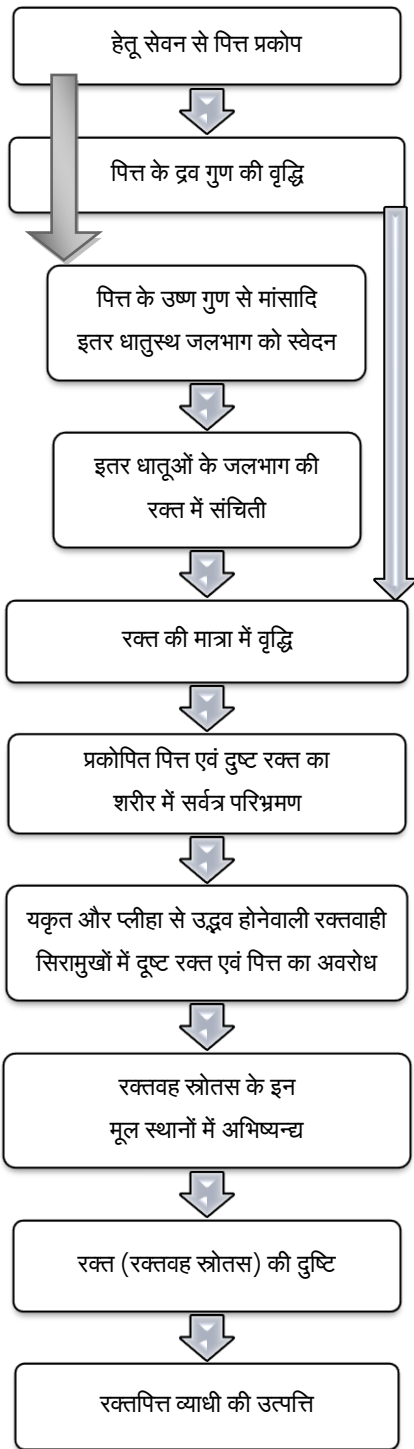
१) कफज रक्तपित्त :-

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।

(च. चि. ४/११)

गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं
पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं;.....।।

(सु. सू. १४/२२)

- कफज रक्तपित्त में रक्त का वर्ण श्वेत हो जाता है।
- रक्त में स्निग्धता, पिच्छिलता और स्नेहभाव की वृद्धि हो जाती है।
- सुश्रुताचार्य ने कफज रक्त का वर्ण गैरीक पानी जैसा कहा है ।
- यह पिच्छिल, बहल (घना), शीतल, मांसपेशी सदृश होता है ।
- रक्तस्राव रुकता नहीं, चिरस्रावी अर्थात दीर्घकाल के लिए स्राव होते ही रहता है ।

२) वातज रक्तपित्त :-

श्यावारुणं सफेनं च तनु रुक्षं च वातिकम् ।।

(च. चि. ४/ ११)

तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु
शीघ्रगमनस्कन्दि च वातेन दुष्टं; ..... ।।

(सु. सू. १४/२२)

- वातज रक्तपित्त में रक्त श्याव- अरुण वर्ण का हो जाता है।
- रक्त में फेन (झाग), तनुता, रुक्षता, परुषता इन भावों की वृद्धि हो जाती है।
- इसमें शीघ्रता से स्राव हो जाता है इस लिए इसे आशुप्रसृत कहा है ।
- स्रावित रक्त में स्कंदन नहीं होता ।

३) पित्तज रक्तपित्त :-

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ।।

(च. चि. ४/ १२)

नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्त्रमनिष्टं पिपीलिका
मक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन् दुष्टं; ...।।

(सु. सू. १४/२२)

- पित्तज रक्तपित्त में रक्त का वर्ण मंजिष्ठा के क्वाथ (कषाय) के वर्ण जैसा होता है ।
- नील, हरित, श्याव, कृष्ण वर्णी, आमगंधी, गोमूत्र के सदृश, मेचक (विविध वर्णवाला), गृहधूम जैसा, अंजन के वर्ण समान होता है।
- यह चींटीयों और मक्खियों को अप्रिय होता है।

४) ते ७) दुन्दुज व सान्निपातज रक्तपित्त :-

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

(च. चि. ४/ १३)

......द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम् ।। (सु. सू. १४/२२)

दुंद्वज और सान्निपातज रक्तपित्त में दोषों के अनुसार संमिश्र लक्षण उत्पन्न होते है।

रक्तपित्त के दोषों की परिक्षा :-

तत्र दोषानुगमनं सिरास्त्र इव लक्षयेत् ।

(अ. हृ. नि. ३ / १६)

वाताच्छ्यावारुणं रुक्षं वेगस्त्राव्यच्छफेनिलम् ।
पित्तात् पीतासितं विस्त्रमस्कन्द्यौष्ण्यात्सचन्द्रिकम् ।।
कफात् स्निग्धमसृक्पाण्डु तन्तुमत्पिच्छिलं घनम् ।
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिदोषं मलिनाविलम् ।।

(अ. हृ. सू. २७ /४०-४१)

सिरावेध विधि से रक्तमोक्षण करके प्राप्त रक्त के दोषानुबंधजन्य लक्षण वाग्भटने अ. हृदय के सूत्रस्थान के सिराव्यध विधि अध्याय में वर्णन किए है। इन्हीं लक्षणों को रक्तपित्त के दोषानुबंध के लिए ग्रहीत धरने का निर्देश वाग्भटने दिया है

१) वातज रक्तदुष्टि :-

श्याव एवं अरुण वर्ण, रुक्षता, तनु और फेनिल ऐसा रक्त होता है। वेग से रक्तस्त्राव होता है ।

२) पित्तज रक्तदुष्टि:-

पित एवं आसित (कृष्णता) वर्ण, विस्त्र गंधी रक्त होता है । इसमें स्कंदन जल्द हो जाता है । उष्ण रहने से चन्द्रिकायें रक्त में दिखती है।

३) कफज रक्तदुष्टि:-

कफ दुष्टि से स्निग्ध, तन्तुल, पिच्छिल तथा श्वेत वर्ण का रक्त निर्माण होता है ।

४) सन्निपातज:-

त्रिदोष दुष्टि से रक्त में मलिनता आने से रक्त आविल बन जाता है ।

रक्तपित्त के मार्ग तथा दोष संबंध :-

मार्गो पुनरस्य द्वौ चाधश्च ।
तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रतिपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवे, बहुवाते तु शरीरेवातसंसर्गादधः प्रतिपाद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते बहुश्लेष्मवाते तु शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गाद् द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य ।।
तत्र यदूर्ध्वभागं तत् साध्यं विरेचनोक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च यदधोभागं तद् याप्यं वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च; यदुभयभागं, वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्चेति ।

(च.नि. २/८- ९)

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः।।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवतर्तते ।

(अ. हृ. नि. ३ / ७)

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम् ।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुबध्यते ।।

(च. चि. ४/ २४)

रक्तपित्त के विधी संप्राप्ति के अनुसार प्रकार किए है । उनका दोषानुबंध निम्न तरह से स्पष्ट किया है।

- कफ प्रकृति के पुरुष अथवा कफ संचित व्यक्ति में कफ के संसर्ग से रक्त कर्ण, नासा, नेत्र और मुख मार्ग से बाहर निकलने लगता है।
- वात प्रकृति के पुरुष अथवा वात संचित व्यक्ति में वायु के संसर्ग से रक्त अधोतः मूत्र या मल मार्ग से बाहर निकलता है।
- वात तथा कफ के संचित व्यक्ति में रक्त ऊर्ध्व और अधोमार्ग से बाहर निकलता है

विधी- प्रकार	दोषानुबंध	मार्ग
ऊर्ध्वतः	कफज	नासा, नेत्र, कर्ण, मुख
अधोतः	वातज	मेढ्र, योनि, गुद
तिर्यक	सन्निपातज	अधो, ऊर्ध्व मार्ग व रोमकुप
उभय मार्ग	कफ वातज	उर्ध्व, अधो

रक्तपित्त के उद्भवस्थान :-

आमाशयाद् व्रजेदूर्ध्वमधः पक्वाशयाद् व्रजेत् ।
विदग्धयोर्द्वयोश्चापि द्विधाभागं प्रवर्तते ।
केचित् सयकृतः प्लीह्नः प्रवदन्त्यसृजो गतिम् ।।

(सु.उ. ४५/५-६)

प्रभवत्यसृजः स्थानात्प्लीहतो यकृतश्च तत् ।

(अ. हृ. नि. ३ / ४)

रक्तपित्त की उत्पत्ति प्लीहा एवं यकृत इन रक्तवह स्त्रोतस के मूलस्थान में अभिष्यंद होने से होती है ।

रक्तपित्त की गति :-

गतिरुर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता ।
ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः ।।

(च. चि. ४/ १५)

सप्तच्छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः साध्यमूर्ध्वगम् ।
याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ।।
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च ।

वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ।।

(च. चि. ४/ १६-१७)

रक्तपित्त के गति के प्रकार का संख्या संप्राप्ति के उपभेद में विधी संप्राप्ति का उदाहरण दिया गया है।

रक्तपित्त के गति के एकूण ९ प्रकार होते है ।

ऊर्ध्वग	अधोग	तिर्यक्
दो नासा, दो नेत्र, दो कर्ण, एक मुख	दो मार्ग	रोमकुप
शिरस्थ-सप्तछिद्र	गुद और उपस्थ	अपरिसंख्येय
साध्य	याप्य	प्राणनाशक

रक्तपित्त का साध्यासाध्यत्व :-

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ।।
यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नश्च यत् ।।

(च. चि. ४/ १३-१४)

रक्तपित्त का साध्यासाध्यत्व निम्न प्रकार से होता है।

एकदोषज	साध्य
द्विदोषज	याप्य
त्रिदोषज	असाध्य

रक्तस्त्राव तीव्र वेग से उत्पन्न हुआ हो, रक्तपित्त से पीड़ित रोगी में अग्निमान्द्य हो, जिसका देह क्षीण हो अथवा वृद्धव्यक्ति हो तो रक्तपित्त असाध्य हो जाता है ।

साध्य रक्तपित्त के लक्षण:-

साध्यं लोहितपित्तं तद् यदूर्ध्वं प्तिपद्यते ।
विरेचनस्य योगित्वाद् बहुत्वाद् भेषजसस्य च ।।
भवेद् योगावहं तत्र मधुरं चैव भेषजम् ।
तस्मात् साध्यं मतं रक्तं यदूर्ध्वं प्तिपद्यते ।।

(च.नि. २/ १२-१४)

ऊर्ध्वं साध्यं कफाद्यस्मात्तद्विरेचनसाधनम् ।।
बह्वौषधं च, पित्तस्य विरेको हि वरौषधम् ।
अनुबन्धी कफो यश्च तत्र तस्यापि शुद्धिकृत् ।।
कषायाः स्वादवोऽप्यस्य विशुद्धश्र्लेष्मणो हिताः ।
किमु तिक्ताः कषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः ।।

(अ. हृ. नि. ३ / ८-१०)

- ऊर्ध्वग रक्तपित्त कफ प्रधान होता है ।
- ऊर्ध्वर्ग रक्तपित्त की विरेचन यह संशोधन चिकित्सा है।
- रक्तपित्त का प्रधान दोष पित्त है, इसका संशोधन करने के लिए भी विरेचन यह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है ।
- ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अनुबन्धी कफ की भी शुद्धि विरेचन से हो जाती है ।
- कफ के शुद्धी के लिए कषाय एवं मधुर रस के रक्तपित्त शामक द्रव्यों का उपयोग हितकारक होता है।
- कषाय एवं तिक्त रस के द्रव्य रक्तपित्त शामक होते है तथा वे स्वभावतः कफदोष शामक भी होते है।
- ऊर्ध्वग रक्तपित्त की चिकित्सा के लिए औषधी स्वरुप में उपयोग में आनेवाले कषाय एवं तिक्त रस अनेक विरेचक द्रव्य सहज उपलब्ध होते है ।
- इस तरह संशोधन सुलभता तथा द्रव्य उपलब्धता के कारण से ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य होता है ।

याप्य रक्तपित्त के लक्षण :-

रक्तं तु यदधोभागं तद् याप्यमिति निश्चितम् ।
वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद् भेषजस्य च ।।
वमनं हि न पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते ।
यश्च तत्रान्वयो वायुस्तच्छान्तौ चावरं स्मृतम् ।।
तच्चायोगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च ।
तस्माद् याप्यं समाख्यातं यदुक्तमनुलोगम् ।।

(च.नि. २/ १५-१७)

यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं प्रकुप्यति ।
मार्गान्मार्गं चरेद् यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ।।

(च. चि. ४/२१)

अधो याप्यं चलाद्यस्मात्तत्प्रच्छर्दनसाधनम् ।
अल्पौषधं च पित्तस्य वमनं न वरौषधम् ।।
अनुबन्धी चलो यश्च शान्तयेऽपि न तस्य तत् ।
कषायाश्च हितास्तस्य मधुरा एव केवलम् ।।

(अ. हृ. नि. ३ / ११-१२)

- अधोग रक्तपित्त वात प्रधान होता है ।
- अधोग रक्तपित्त की चिकित्सा वमन यह संशोधन चिकित्सा है।
- रक्तपित्त यह पित्त प्रधान रोग है और पित्त संशोधन का वमन यह सर्वश्रेष्ठ उपाय नही है ।
- वमन से वात दोष का शोधन होने के बजाए वृद्धि ही हो जाती है।

- रक्तस्तम्भक द्रव्य कषाय एवं तिक्त रस प्रधान होती है, जो वात प्रकोपक भी रहती है।
- वात शमन के लिए रक्तपित्त की चिकित्सा के अनुसार सिर्फ मधुर रस के द्रव्य ही उपयुक्त होते है ।
- लवण एवं अम्ल रस के द्रव्य वातशामक होते है लेकिन वे रक्तपित्तकर है इस लिए चिकित्सा के लिए मर्यादित स्वरुप में विकल्प उत्पन्न होते है ।
- वामक एवं रक्तपित्त शामक औषधी अल्प प्रमाण में उपलब्ध है ।
- इस तरह संशोधन अनिश्चीतता तथा द्रव्यों की अल्प उपलब्धता के कारण से अधोग रक्तपित्त याप्य होता है ।

असाध्य रक्तपित्त के लक्षण:-

रक्तपित्तं तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते ।
असाध्यमिति तज्ज्ञेयं पूर्वोक्तादेव कारणात् ।।
नहि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम् ।
प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ।।
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।
संसष्टेषु च सर्वजिच्छमनं मतम् ।।
इत्युक्तं त्रिविधोदकं रक्तं मार्गविशेषतः ।

(च.नि. २/ १८-२१)

यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते ।
तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ।।
संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति यत् ।
यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ।।
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम् ।
क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिद्ध्यति ।।

(च. चि. ४/ १८-२०)

मांसप्रक्षाकनाभं क्वथितमिव च यत् कर्दमाम्भोनिभं वा भेदः
पूयास्त्रकल्पं यकृदिव् दि वा पक्वजम्बूफलाभम् ।
यत् कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता
विकारास्तद्वर्ज्यंरक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ।।

(सु.उ. ४५/१०)

कफमारुतसंसृष्टमसाध्यमुभयायनम् ।
अशक्यप्रातिलोम्यत्वादभावादौषधस्य च ।।
न हि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिलोमगम् ।
शोधनं प्रतिलोमं च रक्तपित्ते भिषग्जितम् ।।
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।
संसृष्टेषु हि दोषेषु सर्वजिच्छमनं हितम् ।।

(अ. हृ. नि. ३ /१३-१५)

- उभयमार्गी रक्तपित्त में कफ एवं वात दोष का अनुबंध होता है।
- संशोधन यह रक्तपित्त की उत्तम चिकित्सा है । लेकिन उभयमार्गी रक्तपित्त के रुग्ण को प्रतिलोम चिकित्सा (अधोग रक्तपित्त में वमन तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन) का उपयोग किया नहीं जा सकता ।
- इसके दोष संसृष्टता को ध्यान में रखकर ही सिर्फ दोषशामक औषधीयों का ही प्रयोग करना पड़ता है ।
- लेकिन उभयमार्गी रक्तपित्त के शमन औषधीयों का अभाव होने के कारण उपशमन चिकित्सा भी कर नहीं सकते ।
- इस तरह संशोधन अयोग्यता तथा द्रव्यों की अनुपलब्धता के कारण से उभयमार्ग का रक्तपित्त असाध्य होता है ।

रक्तपित्त के रक्त की परिक्षा :-

यत् कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम् ।
रक्तपित्तमसाध्यं तद् वाससो रञ्जनं च यत् ।।
भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रवच्च यत् ।
बलमांसक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ।।
येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यं न संशयः ।।
तत्रासाध्यं परित्याज्यं याप्यं यत्नेन यापयेत् ।
साध्यं चावहितः सिद्धैर्भेषजैः साधयेद् भिषक् ।।

(च.नि. २/ २४-२७)

रक्त के स्वरुप, वर्ण आदि से असाध्य लक्षणों को समझा जा सकता है वे निम्न प्रकार से है ।

- **वर्ण :-** कृष्ण-नील-इन्द्रधनुष्यी रंग बेरंगी, वस्त्र पर लगा दाग धोकर भी न नकले ।
- **गन्ध:-** अत्यन्त दुर्गन्धित ।
- **मात्रा:-** प्रभूत प्रमाण में ।

सार्वदैहिक लक्षण:- बल, मांसक्षय, पदार्थ एवं आकाश में आरक्त वर्णी रुपदर्शन ।

दुष्ट रक्त के स्तम्भन से उत्पन्न होनेवाले रोग :-

गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ।।
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्प वर्णनाशं भगन्दरम् ।
बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात् स्तम्भितमादितः ।।

(च. चि. ४/ २६-२७)

दूषित रक्त का स्तंभन करने से गलग्रह, अरुचि, आनाह, गुल्म, ज्वर, नासागत पूयस्त्राव, वर्णनाश, किलास, कुष्ठ, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र,

अर्श, भगन्दर, बुद्धि तथा इन्द्रियों का उपरोध (अवरोध) से कर्म अल्पता और मूर्च्छा ये विकार उत्पन्न होते है।

रक्तपित्त के उपद्रव :-

उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकास
ज्वरातीसार शोफशोथपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च ।।

(च.नि. २/ ७)

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छाभुक्ते
चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा ।
तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दवनं पूतिनिष्ठीवनं च द्वेषो
भक्तेऽविपाको विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गाः ।।

(सु.उ. ४५/९)

उपद्रवांश्च विकृतिज्ञानस्तेषु चाधिकम् ।।
आशुकारी यतः कासस्तमेवातः प्रवक्ष्यति ।

(अ. हृ. नि. ३ /१६)

वृद्धं पाण्डुज्वरच्छर्दिकासशोफातिसारिणम् ।

(अ. हृ. शा. ५/ ७४-७६)

रक्तपित्त के कारण निम्न उपद्रव उत्पन्न होते है।

- दौर्बल्य, अरोचक, अविपाक, भक्तद्वेष, विदाह, छर्दि एवं अतिसार ये अन्नवह स्त्रोतस दूष्टि के विकार उत्पन्न होते है ।
- ज्वर एवं पाण्डु ये रसवह स्त्रोतस दूष्टि के विकार उत्पन्न होते है ।
- पूयष्ठीवन, स्वरभेद (कण्ठभेद), श्वास, कास एवं हद्शूल ये प्राणवह स्त्रोतस दूष्टि के विकार उत्पन्न होते है ।
- शोफ, शोथ, तृष्णा एवं उदकवह स्त्रोतस दूष्टि के विकार उत्पन्न होते है ।
- शिरःदवन (उष्णता की अनुभूति) एवं दाह ये रक्त दूष्टि के विकार उत्पन्न होते है ।
- तंद्रा, मद और मुर्च्छा ये मज्जावह स्त्रोतस दूष्टि के विकार उत्पन्न होते है ।

रक्तपित्त के अरिष्ट :-

रक्तपित्तं भृशं रक्तं कृष्णमिन्द्रधनुष्प्रभम् ।
ताम्रहारिद्रहरितं रुपं रक्तं प्रदर्शयेत् ।।
रोमकूपप्रविसृतं कण्ठास्यहृदये सजत् ।
वासवोऽरञ्जनं पूति वेगवच्चाति भूरि च ।।

(अ. हृ. शा. ५/ ७४-७५)

निम्न लक्षणों से युक्त रक्तपित्त व्याधी घातक होता है।

- रक्तस्त्राव का वर्ण अत्याधिक आरक्त, कृष्ण, ताम्र, हारिद्र, हारित अथवा इन्द्रधनुष्य के जैसे विविध वर्ण का होना ।
- रोगी को दृष्टि पथ के सभी दृश्य रक्त वर्ण के दिखना ।
- शरीर के सभी रोमकूपों से रक्तस्त्राव उत्पन्न होना ।
- रक्तस्त्राव के कारण कण्ठ, मुख, एवं हृदय इन स्थानों में अवरोध उत्पन्न होना ।
- रक्त के वस्त्र के उपर दाग न गिरना ।
- रक्त की दुर्गन्ध आना ।
- तीव्र वेग से, अधिक मात्रा में रक्तस्त्राव होना ।

लाक्षारक्ताम्भराभं यः पश्यत्यम्बरमन्तिकात् ।
स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय ना
रक्तस्त्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् ।
यः स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्तं प्राप्य सीदति ।।

(च. इं. ५/ १०-११)

- लाल वर्ण के फुलों की माला धारण की है ***अथवा*** संपुर्ण शरीर लाल हुआ है ***अथवा*** लाल वस्त्र से आच्छादित किया है और बार बार हँसता है ऐसी अवस्थाओं में उसे कोई स्त्री खींचकर ले जा रही है ऐसा स्वप्न देखना ।
- लाक्षारस के समान लाल वर्ण का आकाश दिखलाई देना ।

ये सभी रक्तपित्त रोग के अरिष्ट अर्थात मृत्युसुचक लक्षण है ।

प्राकृत रक्त के लक्षण :-

शुद्ध रक्त का स्त्राव आघातादि कारणों से या इतर व्याधी के कारण भी हो सकता है । रक्तपित्त से शुद्ध रक्त स्त्राव का विभेद होना आवश्यक है इसलिए शुद्ध रक्त के निम्न लक्षण यहाँ वर्णन किए है।

इन्द्रगोपप्रतीकाशमसंहतवमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् ।

(सु. सू. १४/२३)

इन्द्रगोप किटक के समान लाल वर्ण शुद्ध रक्त (प्रकृतिस्थ) का होता है । यह असंहत (न बहुत पतला न बहुत गाढ़ा) और अविवर्ण (धोने के बाद वस्त्रादि पर दाग न रहनेवाला) होता है ।

जीव (प्राकृत)रक्त एवं रक्तपित्त के भेद :-

तेनान्नं निश्चितं दद्याद् वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुङ्क्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत् ।।
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ।।

(च. सि. ६/ ७९-८०)

अशुद्ध या शुद्ध रक्त की परीक्षा करने के लिए निम्न दो परीक्षण पद्धति का वर्णन किया है ।

१) प्राणी भक्षण :- रक्त को अन्न में मिलाकर कौए या कुत्ते को खाने के लिए दिया जाए तो वे इसका भक्षण नहीं करते तो ये समझे की वह रक्त दूषित है। यह परिक्षा रक्तपित्त आदि रोग के कारण रक्त की दूष्टि स्पष्ट करने के लिए की जा सकती है।

२) वस्त्र प्रक्षालण:- रक्त से सफेद वस्त्र भिगाकर सुखा लेने के बाद उसे गुनगुने पानी से धोयें । धोने के बाद वस्त्र अगर दाग साफ न हो तो, रक्त दूषित है ऐसा समझे । अगर दाग निकल जाय और विवर्णता न हो तो उसे शुद्ध रक्त समझ लेना चाहिए ।

शुद्धरक्त स्त्रावजन्य लक्षण :-

तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात् क्रियाम् ।
तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या हिता ।।

(च. सि. ६/८१)

यदि जीवरक्त शरीर से निकल जाय तो तृष्णा, मूर्च्छा, मद आदि प्राणघातक लक्षण उपद्रव स्वरुप में उत्पन्न होते है । इस स्थिती में पित्त का शमन करने वाली चिकित्सा मृत्युतक करते रहने चाहिए ऐसा सुझाव चरकाचार्य देते है ।

रक्तपित्त प्रकरण समाप्त

9 वातरक्त

संदर्भः-

चरक	शुश्रुत	**अ.**हृदय	**अ.**संग्रह
नि. ७, चि. ९	उ.तं. ६२	नि. १६,	नि. १६,

वातरक्त के पर्यायः-

आढ्यरोग, खुडवात, वातशोणित, वातबलास

वातरक्त की व्याख्याः-

रक्तगतेवाते तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छतिती भेदः ।
वातरक्ताभ्यां जनितो व्याधिः वातरक्तम् ।।

(चक्रपाणि)

वात और रक्त दोनों के दूष्टि के कारण उत्पन्न हुए व्याधी को वातरक्त कहते है ।

वात दोष का प्रकोपक करनेवाले यानगमन आदि हेतूओं के साथ रक्त की दूष्टि उत्पन्न करनेवाले विदाहि-अम्ल आदि हेतू एकत्रित सेवन करने से वातरक्त व्याधी उत्पन्न हो जाता है ।

वातरक्त के हेतू :-

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः।
क्लिन्न-शुष्काम्बुजानुपमांसपिण्याकमूलकैः ।।
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ।।
विरुद्धाध्यशन-क्रोध-दिवास्वप्न-प्रजागरैः।
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहार-विहाराणाम् ।

(च. चि. २९/ ५-७) (मा.नि. २३/१-३)

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याऽऽहारविहारिणाम् ।
रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ।।
ऋतुसात्म्यविपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात् ।
अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ।।
हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः कोपं यातः कारणैःसेवितैः स्वैः।
तीक्ष्णोष्णाम्लक्षारशाकादिभोज्यैः सन्तापाद्यैर्भूयसा सेवितैश्च ।।

(सु. नि. ४०-४२)

स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ।।

(सु. चि. ५/५)

विदाह्यन्नं विरुद्धं च तत्तच्चासृक्प्रदुषणम् ।
भजतां विधिहीनं च स्वप्नजागरमैथुनम् ।।
प्रायेण सुकुमाराणामचङ्क्रमणशीलिनाम् ।
अभिघातादशुद्धेश्च नृणामसृजि दूषिते ।।
वातलैः शीतलैर्वायुर्वृद्धः क्रुद्धो विमार्गगः ।
तादृशैवासृजा रुद्धः प्राक्तदेव प्रदूषयेत् ।।
आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम् ।
तदाहुर्नामभिः तच्च पूर्वं पादौ प्रधावति ।।
विशेषाद्यानयानाद्यैः प्रलम्बी ....।

(अ. ह्र. नि. १६/ १-४)

- ○ लवण, अम्ल, कटु रसयुक्त पदार्थों का सेवन करना।
- ○ क्षार द्रव्य, स्निग्ध एवं उष्ण गुण के पदार्थों का सेवन करना ।
- ○ क्लिन्न, शुष्क, जल या जलीय द्रव्य, आनुप मांस का सेवन करना ।
- ○ पिण्याक, मूली, कुलित्थ, माष, निष्पाव, हारित शाक, पलल, इक्षुविकारों का सेवन करना ।
- ○ दहि, कांजी, सौविर, शुक्त, तक्र, सुरा, आसव आदि अम्ल पदार्थों का सेवन करना ।
- ○ अशास्त्रीय ढ़ंग से स्नेहपान आदि पंचकर्म उपचार करना ।
- ○ ऋतु तथा सात्म्य के विपरित आहार-विहार का सेवन करना ।
- ○ विरुद्ध आहार का सेवन करना ।
- ○ क्रोध करना, दिवास्वाप, रात्री जागरण, अतिमैथुन करना, पैदल न चलना ।
- ○ इन हेतूओं के सेवन से प्रायः सुकुमार व्यक्तियों में वातरक्त व्याधी उत्पन्न होता है।
- ○ सुकुमार वे व्यक्ति होते जो प्रायः शारीरीक परिश्रम नहीं करते, मैथुन नहीं करते और मैथुन करने पर होनेवाले शुक्र धातुक्षय के परिणामों को सहन कर नहीं सकते ।
- ○ यह रोग प्रायः स्थूल और सुखासिन व्यक्ति तथा स्त्रियों में होता है।
- ○ हाथी, उँट जैसे वाहनों पर सफर करने से पैर लटकते रहते है तथा सम्पुर्ण शरीर के अवयव और संधियों की हालचाल होते रहती है ।
  - ○ इस तरह के सफर में विदाहि, तीक्ष्ण-उष्ण-क्षार-अम्ल

द्रव्यों का सेवन, आतप सेवन आदि रक्त को दूषित करने वाले हेतूओं का सेवन होने से वातरक्त उत्पन्न होता है । इस लिए उभय हेतू प्रकार में वातरक्त के हेतूओं को वर्गीकृत किया है।

वातरक्त के पूर्वरुप :-

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् ।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ।।
जानु-जङ्घोरुकट्यंस-हस्त-पादाङ्गसन्धिषु ।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ।।
कण्डू: सन्धिषु रुगभूक्त्वा नश्यति चासकृत् ।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ।।

(च. चि. २९/ १६-१८) (मा.नि. २३/५-७)

प्राग्रूपे शिथिलौ स्विनौ शीतलौ सविपर्ययौ ।
वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वौषसमन्वितौ ।

(सु. नि. १/४७)

भविष्यतः कुष्ठसमं तथा सादः श्लथाङ्गता ।।
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
कण्डूस्फुरणनिस्तोदभेदगौरवसुप्तताः ।।
भूत्वा भूत्वा प्रणश्यन्ति मुहुराविर्भवन्ति च ।

(अ. हृ. नि. १६/ ५-७)

वातरक्त के निम्न पूर्वरुप होते है ।

- अति स्वेद प्रवृत्ति होती है या स्वेद का अभाव रहता है ।
- त्वचा का वर्ण काला हो जाता है ।
- स्पर्शज्ञान का अभाव रहता है ।
- क्षत होने पर अधिक वेदना उत्पन्न होती है ।
- संधि शैथिल्य उत्पन्न होता है ।
- आलस्य एवं अंगसाद उत्पन्न होता है ।
- पिडकोत्पत्ति होती है ।
- जानु, जंघा, उरु, कटी, हस्त-पाद संधि इन स्थानों में निस्तोदवत पीड़ा उत्पन्न होती है ।
- इन स्थानों में स्फुरण, भेदवत वेदना होता है ।
- संधियों में गौरव, सुप्ति, कण्डू एवं मण्डलाकार वैवर्ण्य उत्पन्न होता है ।

वातरक्त की सम्प्राप्ति :-

क्षिप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु यातः ।
क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात् स वायुरत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु ।।
तत् सम्पृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ।

(सु. नि. १/४३-४४)

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यान्नं स विदाहोऽशनस्य ।
कृत्स्नं रक्तं विदाहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु ।।
तत् सम्पृक्तं वायुनां दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ।।

(मा. नि. २३/४)

व्याधी नाम	**वातरक्त**		
	अशांश संप्राप्ति		
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान	पाचक	श्लेषक
दूष्य	रक्त एवं अस्थिधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
अवस्था	उत्तान, गम्भीर एवं उभयाश्रित		
दुष्ट स्रोतस	रक्तवह, अस्थिवह		
स्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	संधि		
उद्भवस्थान	आमाशय/ पक्वाशय		
अधिष्ठान	सन्धि		
संचरण स्थान	रक्तवह एवं अस्थिवह स्रोतस		
रोगमार्ग	बाह्य एवं अभ्यन्तर		
व्यक्ति	वातरक्त		
भेद (८)	एकदोषज -३ द्वंद्वज-३ सन्निपातज-१ एवं रक्तज		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एकदोषज, नव	
	असाध्य	सन्निपातज, उपद्रवयुक्त	
	याप्य	द्विदोष	

हाथी, ऊँट आदि के उपर सवारी करने के साथ विदाहकारक आहार का सेवन

रक्त धातु की दुष्टि और वात दोष का प्रकोप

दूष्ट रक्त का प्रकोपित वायु से पादगत (शाखागत संधियों में) स्थानसंश्रय

वातरक्त व्याधी की उत्पत्ति

हाथी, ऊँट आदि के उपर सवारी करके विदाहकारक आहार का सेवन करने से रक्त की दूष्ट हो जाती है । यह दूष्ट रक्त प्रकोपित वायु से पादस्थान में स्थानसंश्रय करके वातरक्त व्याधी उत्पन्न करता है। वातरक्त में वात और रक्त इन दोनों की प्रबल और स्वतन्त्र दूष्टि होती है ।

वातरक्त के प्रकार:-

१) वाताधिक्य वातरक्त :-

स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोषस्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ ।

(सु. नि. १/४५)

वातेऽधिकेऽधिकच तत्र शुल-स्फुरण-भञ्जनम् ।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावता-वृद्धि-हानयः ।।
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भ-वेपथु-सुप्तयः ।।

(अ. हृ. नि. १६/ १२-१३) (मा.नि. २३/ ८-९)

वाताधिक्यजन्य वातरक्त में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- संधियों में अधिक प्रमाण में शुल, स्फुरण, स्तम्भ एवं भंजनवत पीडा उत्पन्न होती है ।
- संधियों में उत्पन्न शोथ, रुक्षता, कृष्णता तथा श्यावता इनमें क्षय या वृद्धि होते रहती है ।
- धमनी, अंगुली, संधि आदि में संकोच, ग्रह एवं अत्याधिक वेदना उत्पन्न होती है ।
- शीत पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और शीतोपचार से अनुपशय मिलता है ।
- सुप्ति और सर्वांगकंप ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

२) रक्ताधिक्य वातरक्त :-

पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेतामत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ मृदु च ।।

(सु. नि. १/४५)

रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्ध-रुक्षैः शमं नैति कण्डू-क्लेदसमन्वितः ।।

(अ. हृ. नि. १६/१४) (मा.नि. २३/१०)

रक्ताधिक्य जन्य वातरक्त में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- संधियों में शोथ, तीव्र तोदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- संधि तथा त्वचा में चिमचिमायन, कण्डू और क्लेदाधिक्य उत्पन्न होता है।
- स्निग्ध और रुक्ष गुणों के द्रव्यों का सेवन करने से उपशय मिलता है ।

३) पित्ताधिक्य वातरक्त :-

पित्ते विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट् ।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता ।।

(अ. हृ. नि. १६/ १५) (मा.नि. २३/११)

पित्ताधिक्य जन्य वातरक्त में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- संधिस्थानों में स्पर्शासहत्व और वेदना उत्पन्न होती है।
- शोथ आरक्त वर्ण का, पाकवान और उष्ण स्पर्श का होता है।
- इन लक्षणों के साथ विदाह, मोह, स्वेदाधिक्य, मूर्च्छा, मद, तृष्णा आदि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते है ।

४) कफाधिक्य वातरक्त :-

कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ पीनस्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते ।

(सु. नि. १/४६)

कफे स्तैमित्य-गुरुता- सुप्ति- स्निग्धत्व-शीतताः ।
कण्डूर्मन्दा च रुक् ...। (अ. हृ. नि. १६/ १६)

कफाधिक्य जन्य वातरक्त में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- संधि स्थान गिले वस्त्र से लपेटा है (स्तैमित्य) ऐसी अनुभूति होती है ।
- संधियों में गौरव, सुप्ति, स्निग्धता, शीतता, कण्डू और मंदवेदना उत्पन्न होती है ।

द्वन्द्वज एवं सन्निपातज वातरक्त :-

सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः स्वं स्वं रुपं पादयोर्दर्शयन्ति ।।

(सु. नि. १/४६)

.....द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च सङ्करे। (अ. हृ. नि. १६/ १६)

द्वन्द्वज और सन्निपातज वातरक्त में दोषानुबंध के अनुसार लक्षण होते है।

वातरक्त की अवस्था :-

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं वातशोणितम् ।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्।।

(च. चि. २९/ १६)

त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः ।।
कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवत् ।

(अ. हृ. नि. १६/ ८)

दो प्रकार की अवस्थाएँ वातरक्त व्याधी में उत्पन्न होती है।

१) उत्तान	२) गम्भीर

- उत्तान वातरक्त त्वचा और मांस के आश्रय से उत्पन्न होता है ।
- गम्भीर वातरक्त में बाकी के सभी धातुओं के आश्रय से होता है।

१) उत्तान वातरक्त :-

कण्ड्वादिसंयुतोत्ताने त्वक्ताम्रा श्यावलोहिता ।।
सायामा भृशदाहोषा ......।

(अ. हृ. नि. १६/ ९)

- उत्तान अवस्था में कण्डू आदि लक्षणों के साथ त्वचा का वर्ण ताम्र-श्याव-लोहित हो जाता है ।
- त्वचा का आयाम (विस्तार) हो जाता है ।
- त्वचा में तीव्र दाह तथा उष्णता रहती है ।

२) **गम्भीर वातरक्त :-**

...........गम्भीरेऽधिजपूर्वरुक् ।

श्वयथुग्रथितः पाकी वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु ।।

छिन्दन्निव चरत्यन्तवक्रीकुर्वश्च वेगवान् ।

करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन् ।।

(अ. हृ. नि. १६/ १०-११)

- वातरक्त की गम्भीर अवस्था में तीव्र संधिशुल उत्पन्न होता है।
- संधियों में ग्रथित और पाकवान शोथ उत्पन्न होता है।
- संधि, अस्थि, मज्जा इन स्थानों में छेदवान, चक्राकार और वेगवान गति से वायु गमन करता है, जिसके कारण खंज या पंगुता उत्पन्न हो जाती है।

वातरक्त के प्रसार का क्रम :-

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।

आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुपसर्पति ।। (सु. नि. १/ ४८)

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।।

आखोरिव विषं क्रुद्धं कृत्स्नं देहं विधावति ।

(अ. हृ. नि. १६/ ७)

वातरक्त में प्रथम पांदागुली से विकृती की शुरुवात होती है । यह व्याधी प्रभावजन्य है। इसे आखु (चूहा) विष की उपमा दी गयी है । मन्द गति से इसका प्रसार शरीर में हो जाता यह दर्शाने के लिए आखुविष शब्द का प्रयोग किया है।

वातरक्त का साध्यासाध्यत्व :-

आजानुस्फुटतं यच्च प्रभिन्नं प्रसुप्तं च यत् ।

उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ।।

वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।

(सु. नि. १/ ४९) (मा.नि. २३/१४)

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्।

(च. चि. २९/३४) (मा. नि. ३२/ १८)

एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम् ।

त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ।।

(च. चि. २९/ ३०)(मा. नि.२३/१८)

एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजं ।

त्रिदोषजं त्यजेत्स्त्रावि स्तब्धमर्बुदकारि च ।।

(अ. हृ. नि. १६/ १७)

साध्य :- एक दोषज, एक वर्ष पुराना तथा उपद्रव विरहीत वातरक्त साध्य होता है ।

याप्य :- द्विदोषज, एक वर्ष से अधिक पुराना एवं उपद्रव रहित वातरक्त याप्य होता है।

असाध्य :- पादस्थान से लेकर जानु संधि तक पिडकोद्भव, त्वक् विदारण, स्वाप, प्राण और मांस क्षय जैसे उपद्रवों से युक्त तथा त्रिदोषज वातरक्त असाध्य होता है।

वातरक्त के उपद्रवः-

अस्वप्नरोसचक-श्वास-मांसकोथ-शिरोग्रहाः।।

सम्मूर्च्छा-मद-रुक्-तृष्णा-ज्वर-मोह-प्रवेपकाः ।

हिक्का- पाङ्गुल्य-वीसर्प-पाक-तोद-भ्रम-क्लमाः ।।

अङ्गुलीवक्रता-स्फोट-दाह-मर्मग्रहार्बुदाः ।

एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ।।

(च. चि. २९/ ३१-३२)

वातरक्त के निम्न उपद्रव होते है ।

- अग्निमांद्य के कारण अरुचि एवं तृष्णा उत्पन्न होती है ।
- मांसकोथ होने के कारण पांगुल्य एवं वेपथू (कंप) उत्पन्न होता है ।
- प्रकोपित वायु के कारण शिरःशूल, क्लम, निद्रानाश उत्पन्न होता है ।
- संधिशुल, संधिगत तोदवत पिडा, के कारण ग्रह होने से अंगुली वक्रता उत्पन्न होती है ।
- मोह, भ्रम, मद उत्पन्न होता है ।
- कभी-कभी मुर्च्छा उत्पन्न होती है ।
- ज्वर, हिक्का एवं श्वास ये विकार उत्पन्न होते है।
- विसर्प एवं विस्फोट उत्पन्न होते है ।
- उत्पन्न पिडकाओं का पाक होता है ।
- सर्वांगदाह उत्पन्न होता है ।
- मर्म स्थानों मे पीडा अर्थात हृदय, बस्ति (व्रक्क), मस्तिष्क के विकार उत्पन्न होते है ।
- अर्बुद उत्पन्न होते है ।
- इन उपद्रवों से युक्त वातरक्त असाध्य होता है।
- सिर्फ मुर्च्छा रहने से भी वातरक्त असाध्य हो जाता है।

वातरक्त प्रकरण समाप्त

शीतपित्त

10

संदर्भ:-

अ.हृदय	मा. नि.
उ. ३१	५०

शीतपित्त के हेतू और सम्प्राप्ति :-

शीतमारुतसंस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ ।
पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः ।।

(मा. नि. ५०/ १)

- शीत हवा के संपर्क से वात और कफ इन दो दोषों का प्रकोप होकर वे पित्त के साथ (जो स्वहेतूओं से पहले से ही प्रकोपित है।) अनुबंधित होता है ।
- प्रकोपित हुए तीनों दोष, रक्तादि धातुओं की दूष्टि उत्पन्न करते है ।
- इस तरह दूष्ट दोष-दूष्यों के सार्वदैहिक विसर्पण से त्वचा के बाहर और अभ्यन्तर में शोथ उत्पन्न होता है।
- व्यवहार में इसे पित्त उभड़ आया है, ऐसा कहते है।
- रोगी के त्वचा में चिऊँटी काँटने जैसा अनुभव और फफोले पैदा हो जाते है।
- शीघ्र गति से ये शरीर भर (सर्वगत) फैल जाते है।

शीतपित्त के पूर्वरुप -

पिपासारुचि हृल्लास देहसादाङ्गगौरवम् ।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरुपस्य लक्षणम् ।।

(मा. नि. ५०/ २)

तृष्णाधिक्य, अरुचि, हृल्लास, अंगसाद, अंगगौरव, आरक्तनेत्रता ये शीतपित्त के पूर्वरुप है।

उदर्द के लक्षण :-

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः सञ्जायते बहिः ।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दि ज्वर विदाहवान् ।।
उदर्दमिति तं विद्याच्छशीतपित्तमथापरे ।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ।।

(मा. नि. ५०/ ३-४)

बर्रे (भिड़ या ततैया) के काटने से उत्पन्न होने वाले शोथ के समकक्ष शोथ बाह्य त्वचा में उत्पन्न होता है। कण्डू, तोद, छर्दि, ज्वर, भुक्त अन्न का विदाह होना आदि लक्षण इसमें होते है ।

इन्हें कुछ आचार्य शीतपित्त और कुछ आचार्य उदर्द कहते है। शीतपित्त में वाताधिक्य और उदर्द में कफाधिक्य होता है।

शीतपित्त	वाताधिक्य
उदर्द	कफाधिक्य
उत्कोठ	पित्त और कफाधिक्य

उदर्द के अन्य लक्षण :-

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः ।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ।।

(मा. नि. ५०/५)

- आरक्त वर्ण के उत्सेध युक्त (मध्यस्थान में गहराई युक्त), कण्डू बहुल मंडलाकार फफोलों को उदर्द कहते है।
- ये शीतकाल में अधिकता से उत्पन्न होते है।
- इनमें कफ प्रधानता रहती है।

उत्कोठ :-

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः ।
मण्डलान्यतिकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ।

(अ. हृ. उ. ३१/३२-३३)

- आये हुए वमन वेग का धारण कर लेने से अथवा
- पित्त और कफ दोषों का वेग रोकने से अथवा
- वमन के साथ निकलने वाले अन्न को रोकने से

अत्याधिक कण्डूयुक्त आरक्तवर्ण की मंडलाकार चक्रिका त्वचा में ऊभर आती है, इन्हें कोठ कहते है।

- बार-बार इनके आने को उत्क्तोठ कहते है।
- उत्कोठ में चिरकारी दोषानुबंध रहता है ।

कोठ :-

क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः ।

मधुकोष

फफोलें जब कुछ समय तक बने रहते है और बाद में नष्ट होकर फिर से उत्पन्न होते है, तो उसे कोठ कहते है ।

शीतपित्त प्रकरण समाप्त

11 कुष्ठ

संदर्भः-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह
नि. ५; चि. -७;	नि. ५; चि.- ९; उ. -५५,	नि. १४	नि. १४

व्याख्या :-

त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टः कुष्ठमुशन्ति तत् ।
कालेनोपक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।।

(अ.सं.नि. १४/४)

कुष्णाति इति कुष्ठम् ।

मा. नि. टिका

त्वचा में वैवर्ण्य होकर उसमें कोथ (गल या सड जाना) उत्पन्न होने की त्वचा विकृति को कुष्ठ ऐसा कहते है।

कुष्ठ उत्पत्ति की कथा :-

.....तस्मिन् हि दक्षाध्वंरध्वंसे देहिनां नानादिक्षु
विद्रवतामभिद्रवणतरणधावनप्लवनलङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः
... हविष्प्राशात् प्रमेह कुष्ठानां .....।

(च. नि. ८/ ११)

दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस हो जाने पर भयभीत प्राणियों ने चारों ओर भग-दड मचने, तैरने, दौड़ने, कूदने, लांघने आदि से शरीर को पीडित करने वाली अनेक घटनायें पैदा हो गयी । बाद में घृतपान करने से प्रमेह तथा कुष्ठ की उत्पत्ति हुई ।

कुष्ठ के प्रकार :-

कुष्ठ के महाकुष्ठ और क्षुद्रकुष्ठ ऐसे दो मुख्य भेद किये है । महाकुष्ठ के सात एवं क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह उपप्रकार किये है।

चरक द्वारा कुष्ठ के असंख्य प्रकारों की मान्यता निम्न सूत्र से अधिक स्पष्ट होती है।

स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसङ्ख्येयविधो वा भवति ।
दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान्
अन्यत्रासाध्यभावात् ।
तेषां विकल्पविकारसङ्ख्यानेऽतिप्रसङ्गमभिसमीक्ष्य
सप्तविधमेवकुष्ठविशेषमुपदेक्ष्यामः ।।

(च.नि. ५/४)

कुष्ठ के सात प्रकार या अठ़हरा या असंख्य प्रकार हो सकते है क्यों कि दोषों की अशांश कल्पना के कारण व्याधी के अनेक प्रकार होते है। अशांश कल्पना का परिणाम असाध्य रोगों में दिखाई नहीं देता है। कुष्ठ में दोष और दुष्य इनके हेतू, गुण स्थानादि विकल्पों को ध्यान में रखकर कुष्ठ के प्रकार करने जाएगें, तो विस्तार विस्तृत हो जाएगा । इस कारण से कुष्ठ के सात प्रकारों का उपदेश किया है।

महाकुष्ठ कुष्ठ के प्रकार :-

तदेतेषु कुष्ठभेदेषु यथा नामविपर्ययस्तथा लक्षणविपर्ययोऽपि ।
किन्त्वेतेऽपि कुष्ठभेदा दृश्यन्ते एव, इत्येदपि
लक्षणमादरणीयमेवेतिमन्यामहेऽधिकं कुष्ठ्षु, इत्यादि ।

(अ. हृ नि. १४/३० टिका.)

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां
कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीककाकणक
एककुष्ठचर्माख्यकिटिमविपादिकालसकदद्रुचर्मदलपामा
विस्फोटशतारुर्विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ।।

(च .चि. ७ / १३)

महाकुष्ठ के प्रकारों के नाम चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट इनके अनुसार निम्न प्रकार से है ।

अ. क्र.	चरक /मा. नि.	सुश्रुत	वाग्भट
१	कापाल	कपाल	कापाल
२	औदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बर
३	मण्डल	----	मण्डल
४	ऋष्यजिव्ह	ऋक्षाख्य	ऋष्यजिव्ह
५	पुण्डरीक	पुण्डरीक	पुण्डरीक
६	सिध्म	-----	-----
७	काकणक	काकण	काकणक
८	----	अरुण	----
९	-----	दद्रु	दद्रु

क्षुद्र कुष्ठ के प्रकार :-

क्षुद्रकुष्ठ के प्रकारों के नाम चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट इनके अनुसार निम्न प्रकार से है ।

अ. क्र.	चरक /मा. नि.	सुश्रुत	वाग्भट
१	एककुष्ठ	एककुष्ठ	एककुष्ठ
२	चर्मकुष्ठ	किटिभ	चर्मकुष्ठ
३	किटिभ	चर्मदल	किटिभ
४	वैपादिक	रकसा	विपादिक
५	अलसक	स्थुल	अलसक
६	दद्रु	अरुष्क	दद्रु
७	चर्मदल	---	चर्मदल
८	पामा	पामा	पामा
९	विस्फोट	विसर्प	विस्फोट
१०	शतारु	परिसर्प	शतारुषी
११	विचर्चिका	विचर्चिका	विचर्चिका
१२	कच्छू (मा. नि.)	सिध्म	सिध्म

कुष्ठ के हेतू :-

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवास्निग्धगुरुणिच ।
भजतामागतां छर्दि वेगांश्चान्यान्प्रतिघ्नताम् ।।
व्यायाममतिसंतापमतिभुक्त्वोपसेविनाम् ।
शीतोष्णलंघनाहारान् द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ।।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ।
अजीर्णाध्यशिनां चैव पंचकर्मापचारारिणाम् ।।
नवान्नदधिमत्सातिलवणाम्लनिषेविणाम् ।
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ।।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ।
विप्रान् गुरुन् घर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।।

(च .चि. ७ / ४-८)

मिथ्याहाराविहारेण विशेषण विरोधिना ।
साधुनिन्दावधान्यस्वहराणाद्यैश्च सेवितैः ।।
पाप्मभिः कर्मभिः सद्यः प्राक्तनैर्वेरिता मलाः ।

(अ.हृ .नि. १४ / १-३)

तत्रेव सर्वकुष्ठनिदानं समासेनोपदेक्ष्यामः- शीतोष्णव्यत्यासमनानुपूर्व्योपसेवमानस्य तथा सन्तर्पणापतर्पणाभ्यवहार्यव्यत्यासं, मधुफाणितमत्स्यलकुचमूलककाकमाचीः सततमतिमात्रमजीर्णे च समश्नतः, चिलिचिमं च पयसा, हायनकयवकचीनकोद्दालककोरदूषप्रायाणि चान्नानि क्षीरदधितक्रकोलकुलत्थमाषातसीकुसुम्भस्नेहवन्ति, एतैरेवातिमात्रं सुहितस्य च व्यवायव्यायाम सन्तापानत्युपसेवमानस्य भयश्रमसन्तापोहतस्य च सहसा शीतोदकमवतरतः, त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते; त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते; छर्दि च प्रतिघ्नतः स्नेहांश्चातिचरतः त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमाद्यन्ते त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते; तेषु शिथिल्यषु दोषाः प्रकुपिताः स्थानमधिगम्य सन्तिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वयन्ति ।। (च. नि.५/६)

प्रसंगात् गात्रांस्पर्शात् वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ।
एकशय्याशनासनाच्चापि निश्वासात् सहभोजनात् ।।
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगांश्च संक्राम्यन्ति नरान्नरम् ।।

(सु. नि. ५/३३-३४)

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात् प्रायशो गदाः ।।
सर्वे सञ्चारिणो, नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः ।

(अ.हृ .नि. १४ / ४१)

कुष्ठ के हेतू निम्न प्रकार से है।

- नवान्न सेवन करना ।
- अतिलवण-अम्ल-तिल और मत्स्य सेवन करना ।
- अति प्रमाण में माष, मूली, पिष्टान्न तिल, गुड, दूध, तक्र, कोल, कुलत्थ, अतसी, कुसुम्भ, मधू, फाणित, लकुच, काकमाची, चिलिचिम (मत्स्य प्रकार), पायस, हायनक, यवक, चीन, कोद्दालक, दूषकोर, आदि द्रव्यों का सेवन,
- अजीर्णाशन, विरुद्धाहार, द्रव, स्निग्ध, गुरु, आदि गुणों के द्रव्यों का सेवन करना ।
- शीत और उष्ण द्रव्यों का (गरम और बाद में तुरंत थंडा सेवन करना) या संतपर्णजन्य और अपतर्पणजन्य द्रव्यों का व्यत्यास में सेवन करना ।
- मुख में आये हुए छर्दि वेग का विधारण करना ।
- भोजन के तुरंत व्यायाम या आतप सेवन करना।
- भोजनोत्तर तुरंत निद्रा लेना ।
- अन्न की अजीर्ण अवस्था में मैथुन करना।
- स्वेदाधिक्य या अति श्रम के बाद तुरंत शीत जलपान करना।

- पंचकर्म के हिन-मिथ्या-अति योग तथा पूर्व एवं पश्चात कर्म के मिथ्या उपचार करना ।

हविः प्राशान् मेहकुष्ठयोः । (च. नि. ८/ ११)

दक्षप्रजापति यज्ञ में घृत सेवन के परिणाम से प्रमेह एवं कुष्ठ ये व्याधी उत्पन्न हुए है।

ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः ।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम् ।।

(सु.नि. ५/३०)

ब्राह्मण, स्त्री, गुरु आदि सज्जन व्यक्तियों का द्वेष, अपमान करना या इनका वध करना यह भी कुष्ठ का कारण माना है।

कुष्ठ की संप्राप्ति :-

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बुच ।
दूष्ययन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ।।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ।
न चैकदोषजं किंचित् कुष्ठं समुपलभ्यते ।।

(च . चि. ७ / ९-१०)

सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषम् ।।
दूषयन्ति श्लथिकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहिः ।
त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत् ।।

(अ.हृ .नि. १४ / २-३)

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।
प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेद्य चावहेत् ।।
सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान् ।
लोमत्वक्स्नायुधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रामात् ।।
भक्षयेच्छि्वत्रमस्माच्च कुष्ठबाह्यमुदाहृतम् ।

(अ.हृ .नि. १४ / ४-६)

- हेतू सेवन से प्रकोपित हुए तीनों दोष त्वचा, रक्त और लसीका (अम्बु) इनकी क्रमशः दुष्टि करते है।
- ये तीनों दुष्ट दोष सिरागत होकर तिर्यक् गति प्राप्त करते है और त्वचा, रक्त, लसीका और मांस धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न करके शरीर के बाह्य त्वचा में वैवर्ण्य उत्पन्न करके कुष्ठ व्याधी की उत्पत्ति करते है।
- उपेक्षा करने पर दीर्घकाल के लिए कुष्ठ अगर शरीर में रहता है तो त्वचादि धातुओं में क्लेद उत्पत्ति हो जाती है ।
- स्वेद और क्लेद से कृमी उत्पन्न हो जाते है।
- ये कृमी सुक्ष्म और दारुण होते है।
- रोम, त्वचा, स्नायु, धमनी और तरुणास्थि इनका क्रमशः ये भक्षण करते रहते है।

व्याधी नाम	कुष्ठ		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान	भ्राजक	क्लेदक
दूष्य	त्वक् (रस), रक्त, मांस, उदक धातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
अवस्था	धातुगत (७)		
दुष्ट स्त्रोतस	रक्तवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	त्वचा		
उद्भवस्थान	आमाशय/ पक्वाशय		
अधिष्ठान	त्वचा		
संचरण स्थान	रक्तवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	बाह्य		
व्यक्ति	कुष्ठ		
भेद (२)	महा (७); क्षुद्र (११)		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एकदोषज, क्षुद्रकुष्ठ	
	कष्टसाध्य	द्वंद्वज,	
	असाध्य	सन्निपातज, उपद्रवयुक्त, महाकुष्ठ	

कुष्ठ के सप्तद्रव्य संग्रहः-

सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृतिर्विकृतिमान्नानि भवन्ति ।
तद्यथा - त्रयो दोषा वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृताः दूष्याश्च शरीरधातस्त्वङ्मांसशोणितलसिकाश्चतुर्धादोषोपघातविकृता इति।
एतत् सप्तधातुकमेवङ्गतमाजननं कुष्ठानाम् अतः प्रभवाण्यभिनिर्वर्तमानानि केवलं शरीरमुपतपन्ति ।

(च. नि. ५/३)

वात, पित्त, कफ, रस (त्वक्), रक्त, मांस, और उदक (लसीका) ये सात घटक विकृत होने से कुष्ठ व्याधी उत्पन्न होता है। त्रिदोषों के प्रकोप से रस (त्वक्), रक्त, मांस एवं उदक (लसीका) इन चारों शरीर घटकों पर उपघात करके विकृति उत्पन्न करते है । इन सात घटकों के विकृति से कुष्ठ उत्पन्न होता है इस लिए इन्हें **सप्तदूष्य संग्रह** कहा गया है।

वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों का प्रकोप

त्वचा, रक्त, लसीका (अम्बु) इनकी क्रमशः दूष्टि

दूष्ट दोषों की सिरागत तिर्यक् गति

त्वचा, रक्त, लसीका और मांस धातुओं में शैथिल्य

त्वचादि धातुओं में क्लेद उत्पत्ति

शरीर के बाह्य त्वचा में वैवर्ण्य तथा कोथ उत्पत्ति

स्वेद और क्लेद से कृमी उत्पत्ति

सुक्ष्म और दारुण कृमीयों से रोम, त्वचा, स्नायु, धमनी और तरुणास्थि इनका भक्षण

कुष्ठ व्याधी की उत्पत्ति
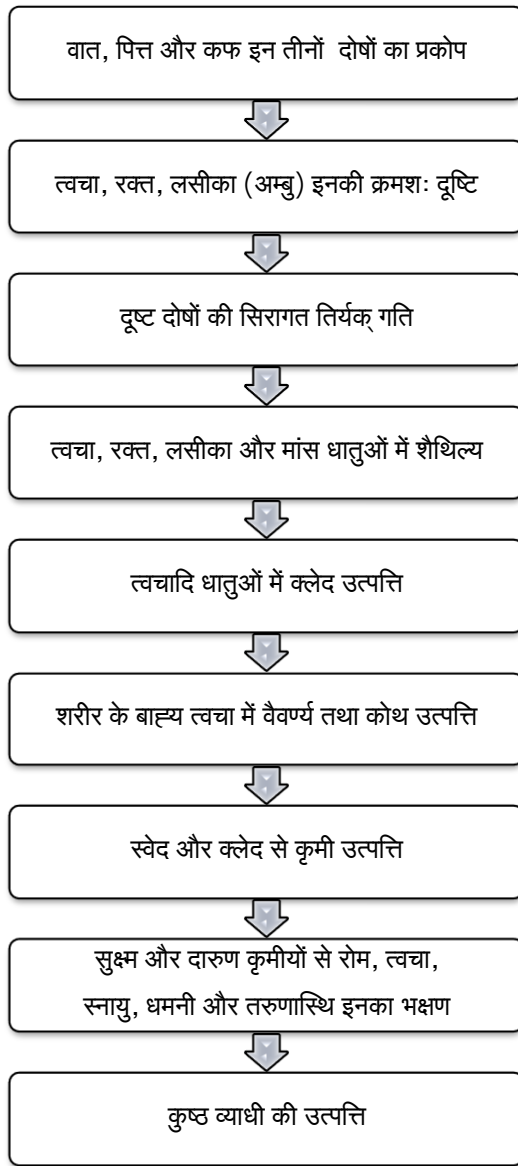
कुष्ठ के पूर्वरुप :-

अतिश्र्लक्षणखरस्पर्शस्वेदास्वेदविवर्णताः ।
दाहः कंडुस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिः श्रमः ।।
व्रणानामधिकं शुलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
रुढानापि रुक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपि कोपनम् ।
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् ।।

(अ.हृ. नि. १४ / ११-१३)

तेषामिमानि पूर्वरुपाणि भवन्ति; तद्यथा -अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डूनिस्तोदःसुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमुष्मायणं गौरवं श्वयथुर्वीसर्पागमनमभीक्ष्णं च काये कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्वदग्धदष्टभग्न क्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पानामपि च व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति ।।

(च. नि. ५/७)

कुष्ठ के पूर्वरुप निम्न प्रकार से है।

- स्वेद प्रवृत्ती अतिप्रमाण में होना या न होना, त्वचा खर/पारुष या अतिश्लक्षण होना ।
- त्वचा में वैवर्ण्य, कृष्णता, कण्डू, तोदवत पीडा, दाह, उष्णता, स्वाप, रोमहर्ष, गौरव उत्पन्न होना ।
- कायछिद्र अर्थात त्वचा-नेत्र-कर्ण-नासा-मुख-रोमकूप ये मलों से लिप्त रहना ।
- त्वचा में अगर पाक हो जाऐ, दग्ध या द्रंष्ट हो जाए, आघातादि कारणों से जैसे घाव, टुटना, काटना, फिसलना चोट लगना आदि से अगर जख्म हो जाए तो वह जख्म में अत्यन्त पीडा होना और रोपण शीघ्र न होना।
- व्रणों के रोपण के पश्चात वहाँ रुक्षता उत्पन्न होना ।
- अल्प हेतूओं के कारण से फिर से व्रण उत्पन्न हो जाना ।
- मंडलाकार कोठ उत्पत्ति होना ।
- अल्प प्रयास (श्रम) से तुरंत थकान महसुस करना ।

कुष्ठ में दोष प्राधान्यता :-

इह वातादिषु त्रिषु प्रकुपितेषु त्वगादीश्चतुरः प्रदूषयत्सु वातेऽधिकतरे कपालकुष्ठमभिनिर्वर्तते, पित्ते त्वौदुम्बरं, श्लेष्मणि मण्डलकुष्ठं, वातपित्तयोऋष्यजिह्वं, पित्तश्लेष्मणोः पुण्डरीकं, श्लेष्ममारुतयोः सिध्मकुष्ठं, सर्वदोषाभिवृद्धौ काकणकमभिनिर्वर्तते; एवमेव सप्तविधः कुष्ठविशेषो भवति । स चैष भूयस्तरतमतः प्रकृतौ विकल्पमानायां भूयसी विकारविकल्पसङ्ख्यामापद्यत ।।

(च. नि.५/५)

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे ।
पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात् काकणं तु त्रिदोषजम् ।।
वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके ।
ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते ।।
चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिमं सविपादिकम् ।
कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम् ।।
पामा शतारुविस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा ।
पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका ।।

(च. चि. ७ /२७-३०)

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथङ्मिश्रैः समागतैः ।।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ।
वातेन कुष्ठं कापालं पित्तादौदुम्बरं,कफात्।।

मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋक्षाख्यं वातपित्तजम् ।
चर्मैककुष्ठकिटिभसिध्मालसविपादिकाः ।।
वातश्लेष्मोद्भवाः, श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी ।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ।।
सर्वैः स्यात्काकणं .... । (अ.हृ .नि. १४ / ६-१०)

अ. क्र.	महाकुष्ठ	दोष प्राधान्यता
१	कापाल	वात
२	औदुम्बर	पित्त
३	मण्डल	कफ
४	ऋष्यजिव्ह	वात-पित्त
५	पुण्डरीक	पित्त-कफ
६	सिध्म	कफ-वात
८	काकणक	त्रिदोष
अ. क्र.	**क्षुद्रकुष्ठ**	**दोष प्राधान्यता**
१	एककुष्ठ	वात-कफ
२	चर्मकुष्ठ	वात-कफ
३	किटिभ	वात-कफ
४	वैपादिक	वात-कफ
५	अलसक	वात-कफ
६	दद्रु	पित्त-कफ
७	चर्मदल	पित्त-कफ
८	पामा	पित्त-कफ
९	विस्फोट	पित्त-कफ
१०	शतारु	पित्त-कफ
११	विचर्चिका	कफ

महाकुष्ठ :-

तेषां महत्त्वं क्रियागुरुत्वमुत्तरोत्तरं धात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वं चेति ।
(सु. नि. ५ /७

- लक्षणों में अधिकता और वेदनाओं की तीव्रता
- उत्तरोत्तर धातुओं में दोषों का अनुप्रवेश
- चिकित्सा दृष्टि से असाध्यता (गुरुता)
- इन कारणों से कापाल, औदुम्बर, मंडल, ऋष्यजिह्व, पुंडरीक, सिध्म और काकणक इन सात कुष्ठों को महाकुष्ठ कहा है। इसके विपरीत स्थिती क्षुद्रकुष्ठ की होती है।

१) कापाल :-

कृष्णारुणकापालाभं यद्रुक्षं परुषं तनु ।
कापालं तोदबहुलं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।।
(च. चि. ७ /१४)

ततोऽन्तरं कुष्ठान्यभिनिर्वर्तन्ते, तेषामिदं वेदनावर्णसंस्थानप्रभावनामविशेषविज्ञानं भवति ।
तद्यथा - रुक्षारुणपरुषाणि विषमविसृतानि खरपर्यन्तानि तनून्युद्वृत्तबहिस्तनीनि सुप्तवत्सुप्तानिहृषितलोभाचितानि निस्तोदबहुलान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकान्याशुगतिसमुत्थानान्याशुभेदीनिजन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि च कपालकुष्ठानि विद्यात् ।
(च. नि.५/८)

कृष्णारुणकपालभं रुक्षं सुप्तं खरं तनु ।।
विस्तृतासमपर्यन्तं हृषितैर्लोमभिश्चितम् ।
तोदाढ्यममल्पकण्डूकं कापालं शीघ्रसर्पि च ।।
(अ.हृ .नि. १४ / १३-१४)

- मिट्टी के नये घड़े के टुकड़े सदृश यह दिखता है, इस लिए इसे कापाल कुष्ठ कहते है ।
- प्रकोपित वायु से उत्पन्न होने से इसका वर्ण कृष्ण-अरुण होता है।
- त्वचा में खरता और रुक्षता अधिक होती है ।
- विषमता से सार्वदैहिक त्वचा पर जल्द फैल जाता है ।
- हस्त, पाद, उदर, पृष्ठ आदि स्थानों की त्वचा में पर वैवर्ण्य विषम आकार में फैलता है ।
- वैवर्ण्य त्वचा से उपर उठा हुआ नहीं रहता और जाड़ा भी नहीं रहता इस लिए इसे तनु कहा है।
- वैवर्ण्य गोल एवं बृहत् आकार का होता है।
- इसमें सुप्ति, रोमहर्ष, तोदाधिक्य, अल्प कण्डू और दाह ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- पिटिकाओं का आशुकारी गति से पाक होकर लसीका युक्त पुयस्त्राव बहता है।
- इसमें कृमी प्रादुर्भाव होता है।

२) औदुम्बर :-

रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिंजरम् ।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।।
(च .चि. ७ / १५)

ताम्राणि ताम्रखररोमराजीभिरवनद्धानि बहलानि बहुबहपूयरक्तलसीकानिकण्डूक्लेदकोथदाहपाकवान्त्या

शुगतिसमुत्थानभेदीनि ससन्तापक्रिमीणिपक्वोदुम्बर कुष्ठानीति विद्यात् ।

(च. नि.५/८)

पक्वोदुम्भरताम्रत्वग्रोम गौरसिराचितम् ।
बहलं बहलक्लेदरक्तं दाहरुजाधिकम् ।।
आशूत्थानावदरणकृमि विद्यादुम्बरम् ।

(अ.हृ .नि. १४ / १५-१६)

- उत्पन्न वैवर्ण्य का वर्ण उदुम्बर फल के समान ताम्रवर्ण का होने से इसे औदुम्बर कुष्ठ कहा है।
- यह आरक्त वर्ण का, रोमराजी युक्त, दाह, उष्णता और कण्डू, इन लक्षणों से युक्त रहता है।
- इसमें क्लेद तथा कोथ से पाक होने से अत्याधिक पूय-रक्त-लसीकायुक्त स्त्राव उत्पन्न होता है ।
- बाद में इसमें कृमी प्रादुर्भाव होता है।
- औदुम्बर कुष्ठ पित्त प्रधान होने से शीघ्र गति से फैलता है।

३) मण्डल :-

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ।
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।।

(च. चि. ७ /१६)

स्निग्धानि गुरुण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिरपीतपर्यन्तानि शुक्लरक्तावभासानि शुक्लरोमराजीसन्तानानि बहुबहलशुक्लपिच्छिलस्त्रावीणि बहुक्लेदकण्डूक्रिमीणि सक्तगतिसमुत्थानभेदीनि परिमण्डलानिमण्डलकुष्ठानि विद्यात् ।

(च. नि.५/८)

स्थिरं स्त्यानं गुरु स्निग्धं श्वेतरक्तमनाशुगम् ।।
अन्योऽन्यसक्तमुत्सन्नं बहुकण्डुस्त्रतिक्रिमि ।
श्र्लक्ष्णपीताभपर्यन्तं मण्डलं परिमण्डलम् ।।

(अ.हृ .नि. १४ / १६-१७)

- उत्पन्न वैवर्ण्य का आकार गोलाकार होने से इसे मण्डल कुष्ठ कहते है।
- यह श्वेत वर्ण का, स्थिर, स्त्यान, स्निग्ध, उत्सेधयुक्त जाडा और शुक्ल रोमराजी युक्त होता है।
- इसमें उत्पन्न स्त्राव गाढ़ा, श्वेत-पिच्छिल और प्रमाण में अधिक होता है।
- इसमें अत्याधिक प्रमाण में क्लेद उत्पन्न होने से कण्डू और कृमी उत्पन्न होते है ।
- यह धीरे-धीरे (सक्त गति से) सार्वदैहिक त्वचा पर फैल जाता है।
- इसमें उत्पन्न मंडल अन्योन्य संयुक्त अर्थात एक दूसरें में सलग्न हुए रहते है ।
- मण्डल कुष्ठ कफ प्रधान होता है।

४) ऋष्यजिह्व :-

ककर्शं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ।
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं यदुच्यते ।।

(च.चि. ७/१७)

परुषाण्यवर्णानि बहिरन्तःश्यावानि नीलपीतताम्रावभासान्याशुगति समुत्थानान्यल्पकण्डूक्लेदक्रिमीणि दाहभेदनिस्तोद (पाक)बहुलानि शूकोपहतोपमवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्यन्तानि ककर्शपिडकाचितानि दीर्घपरिमण्डलान्यृष्याकृतानि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात् ।

(च. नि.५/८)

परुषं तनु रक्तान्तमन्तःश्यावं समुन्नतम् ।।
सतोददाहरुक्क्लेदं कर्कशैः पिटिकैश्चितम् ।
ऋक्षजिह्वाकृति प्रोक्तमृक्षजिह्वं बहुक्रिमि ।।

(अ.हृ .नि. १४ / १८-१९)

- उत्पन्न वैवर्ण्य का आकार एवं वर्ण ऋष्यजिह्व अर्थात ऋष्य नामक हिरण के प्रजाति के जिह्वा के समान होता है इस लिए इसे ऋष्यजिह्व कहा है।
- यह बाह्यतः नील, पीत या ताम्रवर्ण का एवं अभ्यन्तरतः कृष्ण वर्ण का होता है ।
- इसमें उत्पन्न मंडल लम्ब गोलाकर और उँचाई में मध्यम रहते है ।
- ये बाह्यतः झुकावदार होकर इसकी धार पतली रहती है ।
- इन मंडलों के उपर ककर्श (कठीण) पीडकायें उत्पन्न होती है।
- शुक् अर्थात धान्य के तुस चुभने या मसलने की वेदना इसमें उत्पन्न होती है।
- इसमें अत्याधिक प्रमाण में कृमी प्रादुर्भाव भी होता है।
- यह आशुकारी होता है ।
- यह वात एवं पित्त प्रधान होता है।

५) पुण्डरीक :-

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरिजिदलोपमम् ।
सोत्सधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।।

(च .चि. ७/१८)

शुक्लरक्तावभासानि रक्तपर्यन्तानि रक्तराजीसिरासन्ततान्युत्सेधवन्ति बहुबहलरक्तपूयलसीका

निकण्डूक्रिमिदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि
पुण्डरीकपलाशसङ्काशानि पुण्डरीकाणीति विद्यात् ।
(च. नि.५/८)

रक्तान्तमन्तरा पाण्डु कण्डूदाहरुजान्वितम् ।
सोत्सेधमाचितं रक्तैः पद्मपत्रमिवांशुभिः ।।
घनभूरिलसीकासृक्प्रायमाशु विभेदि च ।
पुण्डरीकं ....।।
(अ.हृ .नि. १४ / २६-२७)

- यह मध्य में श्वेत और बाह्यतः ताम्र वर्ण का कमल फुल के पंकुडीयों के आकार के जैसा दिखने के कारण इसे पुण्डरीक कुष्ठ कहते है।
- मध्य में उत्सेध युक्त, आरक्त वर्ण का और सिराजाल युक्त रहता है।
- इसमें कण्डू बाहुल्य, दाह, वेदना ये लक्षण रहते है।
- क्लेदाधिक्य होने से इसमें से गाढ़े स्वरुप का लसीका स्राव बहने लगता है ।
- इसमें से रक्तस्राव भी होते रहता है।

६) सिध्म :-

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुंचति ।
अलाबुपुष्पवर्ण तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि ।।
(च. चि. ७ / १९)

(प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।।)
(च. चि. ७ / १९)

परुषाणानि विशीर्णबहिस्तनून्यन्तःस्निग्धानि
शुक्लरक्तावभासानि बहून्यल्पवेदनान्यल्पकण्डू
दाहपूयलसीकानि लघुसमुत्थानान्यल्पभेदक्रिमीण्यलाबु
पुष्पसङ्काशानि सिध्मकुष्ठानीति विद्यात् ।
(च. नि.५/८)

सिध्मं रुक्षं बहिः स्निग्धमन्तर्घृष्टं रजः किरेत् ।।
श्लक्ष्णस्पर्श तनु श्वेतताम्रं दौग्धिकपुष्पवत् ।
प्रायेण चोर्ध्वकाये स्यात् ....।।
(अ.हृ .नि. १४ / २१-२२)

- यह आलाबु पुष्प (लौकी) सदृश श्वेत-ताम्र वर्ण का दिखता है।
- यह बाह्यतः रुक्ष अन्दर से स्निग्ध तथा तनु रहता है।
- मर्दन करने पर रज कण गिरते है।
- इस कुष्ठ में वेदना, कण्डू, दाह तथा पूय-लसीका स्राव कम रहता है।
- इसमें भेद-पाक आदि होता नहीं ।
- यह प्रायः उरः, ग्रीवा या पृष्ठ आदि भागों की त्वचा में उत्पन्न होता है।
- सिध्म कुष्ठ वात एवं कफ प्रधान होता है।
- सिध्म कुष्ठ का अन्तर्भाव वाग्भट ने **क्षुद्रकुष्ठ** में किया है।

७) काकणक :-

यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम् ।
त्रिदोषलिंगं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ।।
(च .चि. ७/२०)

काकणन्तिकावर्णान्यादौ पश्चात्तु सर्वकुष्ठलिङ्गसमन्वितानि
पापीयसासर्वकुष्ठलिङ्गसम्भवेनानेकवर्णानि
काकणानीति विद्यात्।
तान्यसाध्यानि, साध्यानि पुनरितराणि ।।
(च. नि.५/८)

........काकणं तीव्रदाहरुक् ।।
पूर्वं रक्तं व कृष्णं च काकणन्तीफलोपमम् ।
कुष्ठलिङ्गैर्युतं सर्वैर्नैकवर्णं ततो भवेत् ।।
(अ.हृ .नि. १४ / २९-३०)

- प्रारंभ में यह गुँजा फल के लाल वर्ण जैसा होता है।
- बाद में अन्य कुष्ठ में वर्णन किये हुए अनेक वर्ण और लक्षण इसमें उत्पन्न होते है।
- इसमें दाह और पाक तथा तीव्र वेदना रहती है ।
- काकणक कुष्ठ त्रिदोषज होने से असाध्य होता है।

क्षुद्रकुष्ठ :-

१) एक कुष्ठ :- अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्सशकलोपमम् ।
यदेककुष्ठं .... ।
(च. चि. ७/२१)

...एकाख्यं महाश्रयम् । अस्वेदं मत्स्यशकलसन्निभं...।।
(अ.हृ .नि. १४ / २०)

- एक कुष्ठ में स्वेद प्रवृत्ती नहीं होती ।
- त्वचा में बृहत् आकार के मत्स्य के जैसे शकल उत्पन्न होते है।
- ये शरीर के अधिकांश भाग में यह फैलते है।

२) चर्मकुष्ठ :-

... चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ।(च. चि. ७/२१)
हस्तिचर्मखरस्पर्श चर्म .....। (अ.हृ .नि. १४ / २०)

- चर्म कुष्ठ हस्तिचर्म के जैसा जाड़ा होता है ।
- यह काले वर्ण का और खरस्पर्शी होता है।

३) किटीभ :-

श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ।

(च. चि. ७/२२)

....किटिभं पुनः ।। रुक्षं किणखरस्पर्शं कण्डूमत्परुषासितम् ।

(अ.हृ .नि. १४ / २०-२१)

- किटीभ कुष्ठ कण्डूयुक्त होता है।
- यह श्याव वर्ण का और खर स्पर्शी होता है ।
- यह दिखने के लिए रुक्ष (परुष) होता है ।

४) वैपादिक (विपादिका) :-

वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ।

(च.चि. ७/२२)

........पाणिपाददार्या विपादिकाः ।

- विपादिका में हस्त और पाद में दारण (भेद) उत्पन्न होता है।
- हस्त और पाद में तीव्र स्वरुप की वेदना भी रहती है।

५) अलसक :-

कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ।

(च. चि. ७/२३)

- अलसक में आरक्त वर्ण के कण्डुयुक्त गण्ड (फफोलें) उत्पन्न होते है।

६) दद्रु : -

सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।

(च. चि. ७/२३)

- मंडलाकार, आरक्त वर्ण के कण्डुयुक्त पिटिकाओं को दद्रु कहते है ।

७) चर्मदल :-

रक्तं सशूलं कण्डूमत् संस्फोटं गलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ।।

(च.चि. ७/२४)

सस्फोटमस्पर्शसहं कण्डूषातोददाहवत् ।
रक्तं दलच्चर्मदलं ....।। (अ.हृ .नि. १४ / २९)

- चर्मदल में सरक्त, सशूल एवं कण्डू युक्त स्फोट उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है ।
- विस्फोट नष्ट होने के बाद त्वचा में भेद उत्पन्न करते है ।
- इनमें तोद, दाह और स्पर्शासहत्व ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

८) पामा :-

सूक्ष्मा बह्वयऽपिडकाःस्त्रावत्यः ।
पामेत्युक्ताः कण्डुमश्चः सदाहः ।।

(च .चि. ७/२५)

....पिटिका पामा कण्डूक्लेदरुजाधिकाः ।
श्यावारुणा बह्व्यः प्रायः स्फिक्पाणिकूर्परे ।।

(अ.हृ .नि. १४ / २८)

- पामा में हस्त-पाद-कुर्पर-स्फिक् आदि स्थान की त्वचा पर सुक्ष्म स्वरुप की असंख्य पिटिका उत्पन्न होती है।
- ये पिटिका श्याव-अरुण वर्ण की होती है ।
- इनमें क्लेद, वेदना, दाह और कण्डू अधिक रहता है।

९) कच्छु :-

सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेताज्ञेया पाण्याः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ।

- स्फिक्, उरः और हस्त स्थान में उत्पन्न होने वाले तीव्र दाह युक्त स्फोट को कच्छु कहते है ।

१०) विस्फोट :-

स्फोटाः श्यावरुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।

(च. चि. ७/२५)

...तनुत्वग्विश्चितं स्फोटैः सितारुणैः ।। विस्फोटं....।

(अ.हृ .नि. १४ / २७)

- तनु त्वचा युक्त, श्याव (वाग्भट-श्वेत)-अरुण वर्ण के शरीर पर सर्वत्र उत्पन्न होनेवाले स्फोट को विस्फोट कहते है ।

१०)शतारु :-

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम्।

(च. चि. ७/२६)

स्थूलमूलं सदाहार्ति रक्तश्यावं बहुव्रणम् ।
शतारुः क्लेदजन्त्वाढ्यं प्रायशः पर्वजन्म च ।।

(अ.हृ .नि. १४ / २५)

- संख्या में अनेक पिटिकाएँ उत्पन्न होती है इस लिए इसे शतारु कहते है।
- ये आरक्त-श्याव वर्ण की होती है ।
- इनमें दाह और वेदना तीव्र स्वरुप का होता है ।
- इसमें क्लेद और कृमी उत्पन्न होते है ।
- ये मूल स्थूल के होकर प्रायः पर्व संधियों में उत्पन्न होते है ।

११) विचर्चिका :-

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्त्रावा विचर्चिका ।

(च. चि. ७/२६)

कण्डूपिटिका श्यावा लसीकाढ्या विचर्चिका ।

(अ.हृ .नि. १४ /१८)

- अत्याधिक कण्डू युक्त, श्याव वर्ण की स्त्रावयुक्त पिटिका को विचर्चिका कहते है ।

दोष के अनुसार कुष्ठ के लक्षण :-

१) वातज कुष्ठ :-

खरं श्यावारुणं रुक्षं वातात्कुष्ठं सवेदनम् ।

(मा. नि. / कुष्ठ / २३)

तत्र वातः श्यावारुणवर्णं परुषतामपि च

रौक्ष्यशूलशोषतोदवेपथुहर्षसङ्कोचायासस्तम्भसुप्तिभेदभङ्गान्,..।।

(च. नि. ५/१०)

रौक्षं शोषस्तोदः शूलं संकोचनं तथाऽऽयामः ।

पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ।

कुष्ठेषु वातलिंगं......... ।

(च. चि. ७/ ३४)

वात प्रकोप के कारण कुष्ठ में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- त्वचा स्पर्श को परुष (खर) लगती है ।
- त्वचा श्याव-अरुण वर्ण की होती है ।
- वैवर्ण्य स्थान में तीव्र स्वरुप का शूल (तोद, भेद वत) उत्पन्न होता है ।
- त्वचा में रौक्ष, शोष, संकोच और आयाम उत्पन्न होता है ।
- रोमहर्ष उत्पन्न होता है ।

२) पित्तज कुष्ठ :-

पित्तात्प्रक्वथितं दाहरागस्रावान्वितं मतम् ।

(मा. नि. /कुष्ठ /२४)

...पित्तं दाहस्वेदक्लेदकोथपाकरागान् .... ।।

(च. नि. ५/१०)

.... दाहौ रागः परिस्त्रवः पाकः ।

विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृत् ।

(च.चि. ७/३५)

पित्त प्रकोप के कारण कुष्ठ में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- त्वचा में दाह होने लगता है ।
- त्वचा का वर्ण आरक्त हो जाता है ।
- त्वक् दूष्टि के स्थान का पाक होता है ।
- पाक होने से उत्पन्न स्राव विस्र गंध का क्लेदयुक्त होता है।
- त्वचा का कोथ होता है ।
- अंगपतन अर्थात अवयव झड़ जाते है ।

३) कफज कुष्ठ :-

कफात्क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डुशैत्यगौरवम् ।

(मा. नि. /कुष्ठ /२४)

...श्लेष्मा त्वस्य श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवोत्सेधोप

स्नेहोपलेपान्, क्रिमयस्तु त्वगादींश्चतुरः सिराः

स्नायूश्चास्थीन्यपि च तरुणान्याददते ।।

(च. नि. ५/१०)

श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं चोत्सेधगौरवस्नेहाः ।

कुष्ठेषु तु कफलिंगं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः ।।

(च.चि. ७/३६)

कफ प्रकोप के कारण कुष्ठ में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- दूष्ट त्वचा के स्थान स्निग्ध एवं उत्सेध युक्त होते है।
- इसमें उत्पन्न दूष्टि धिरे-धिरे फैलनेवाली और स्थिर होती है।
- दूष्ट स्थान की त्वचा स्पर्श में शीत लगती है ।
- दूष्ट स्थान की त्वचा में गौरव उत्पन्न होता है ।
- क्लेद उत्पन्न होने से कृमी प्रादुर्भाव होता है ।
- त्वचा, सिरा, स्नायु तथा तरुणास्थि आदि का कृमि भक्षण करते है ।

कुष्ठ की धातुगत अवस्था:-

१) त्वक्गत कुष्ठ :-

त्वक्स्थे वैवर्ण्यमंगेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ।

त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्।।

तत्र त्वचि स्थिते कुष्ठे तोदवैवर्ण्यरुक्षताः ।।

(अ.हृ .नि. १४ / ३३)

- त्वचागत कुष्ठ में वैवर्ण्य उत्पन्न होता है ।
- वायु के कारण रुक्षता, स्वाप (स्पर्श संज्ञा नाश), तोद और रोमहर्ष उत्पन्न होता है ।
- इस अवस्था में त्वचा से स्वेद प्रवृत्ती नहीं होती या अत्याधिक स्वेद प्रवृत्ती होती है ।

२) रक्तगत कुष्ठ :-

कण्डूर्विपूयकश्च कुष्ठे शोणितसंश्रिते ।

स्वेदस्वापश्वयथवः शोणिते, ...।(अ.हृ .नि. १४ / ३४)

- रक्तगत कुष्ठ में स्वेद प्रवृत्ति अधिक प्रमाण में होती है ।
- कण्डू और पूय उत्पत्ति होती है ।
- दूष्ट त्वचा के स्थान में संज्ञानाश (स्वाप) और शोथ उत्पन्न होता है ।

३) मांसगत कुष्ठ :-

बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।

तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ।।

.............पिशिते पुनः ।

पाणिपादश्रिताः स्फोटाः क्लेदः सन्धिषु चाधिकम् ।।

(अ.हृ .नि. १४ / ३४)

- मांसगत कुष्ठ में कठीण स्वरुप की पिड़िका या स्फोट सार्वदैहिक त्वचा पर उभर आते है ।
- उत्पन्न पिड़िकाएँ धिरे-धिरे फैलनेवाली और स्थिर होती है।
- इनमें तोदवत वेदना उत्पन्न होती है और क्लेद बहुलता होती है।
- पिड़िकाएँ हस्त-पाद के संधि स्थानों में प्रायः उत्पन्न होता है।
- इसमें मुखशोष लक्षण उत्पन्न होता है।

४) मेदगत कुष्ठ :-

कौण्यं गतिक्षयोंऽगानां सभेदः क्षतसर्पणम् ।
मेदःस्थानगते लिगं प्रागुक्तानि तथैव च ।।
कौण्यं गतिक्षयोंऽगानां दलनं स्याच्च मेदसि ।

(अ.हृ .नि. १४ / ३५)

- हस्त-पाद के अंगुलीयों का नाश होता है।
- हस्त-पाद आदि कर्मो की हानि होती है।
- अंग-दलन अर्थात अवयव कोथ होकर झड़ जाते है।
- ये मेदगत कुष्ठ में लक्षण उत्पन्न होते है।

५, ६) अस्थि एवं मज्जागत कुष्ठ :-

नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेक्षु क्रिमीसंभवः ।
स्वरोपघातश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते ।।
नासाभङ्गोऽस्थिमज्जस्थे नेत्ररागः स्वरक्षयः ।।

(अ.हृ .नि. १४ / ३५)

- अंगदलन के कारण नासाभंग उत्पन्न होता है।
- इसमें आरक्त नेत्रता एवं स्वरक्षय रहता है ।
- अस्थिगत अवस्था में उत्पन्न हुए व्रणों में कृमी प्रादुर्भाव होता है।

७) शुक्रगत कुष्ठ :-

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद्दुष्टशोणितशुक्रयोः ।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ।।
क्षते च कृमयः , शुक्रे स्वदारापत्यबाधनम् ।

(अ.हृ .नि. १४ / ३६)

माता और पिता में अगर शुक्रगत कुष्ठ की अवस्था उत्पन्न हो जाती है तो, उनसे उत्पन्न होनेवाली संतान भी कुष्ठ से पीडित हो जाती है ।

कुष्ठ के उपद्रव :-

अस्यां चैवावस्थायामुद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति ।
तद्यथा- प्रस्त्रवणमङ्गभेदःपतनान्यङ्गावयवानां
तृष्णाज्वरातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाश्च
तथाविधमसाध्यं विद्यादिति ।। (च. नि.५/११)

- क्लेद, लसीका, पूय या रक्त का स्त्राव निरंतर होना।
- अंगभेद, अंगपतन, तृष्णा, ज्वर, अतिसार, दाह, दौर्बल्य, अरुचि और अविपाक इन उपद्रवों से युक्त कुष्ठ को असाध्य समझना चाहिए ।

कुष्ठ का साध्यासाध्यत्व :-

तत्र यदसाध्यं तदसाध्यतां नातिवर्तते, साध्यं पुनः किञ्चित्
साध्यतामतिवर्तते कदाचिदपचारात् ।
साध्यानि हि षद्
काकणकवर्ज्यान्यचिकित्स्यमानान्यपचारतो वा
दोषैरभिष्यन्दमानान्यसाध्यतामुपयान्ति ।।

(च. नि.५/९)

- जो कुष्ठ असाध्य है, वह हमेशा असाध्य ही रहता है।
- साध्य कुष्ठ में अपचार या आहार-विहार के हेतुओं का सेवन किया जाए, तो वह असाध्य बनता है ।
- महाकुष्ठ में काकणक कुष्ठ को छोडकर बाकी छः कुष्ठ साध्य होते है।
- शेष छः कुष्ठ यथा समय चिकित्सा न करने से, अपचार से और दोषों के सशक्त आक्रमण से (अत्याधिक प्रकोप से) असाध्य बन जाते है।

सर्वैलिङ्गैर्युक्तं मतिमान् विवर्जयेदबलम् ।
तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ।।
वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत् कृच्छ्रम्।
कफपित्त-वातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रसाद्यानि ।।

(च. चि. ७ /३७-३८)

साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्लेष्माधिकं च यत् ।
मेदसि द्वंद्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम् ।।
क्रिमितृड्दाहमन्दाग्निसंयुक्तं यत् त्रिदोषजम् ।
प्रभिन्नं प्रस्नुतांगं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ।।
पंचकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम् ।।

(सु. सू. ३३/९)

......सर्वदोषोल्बणं त्यजेत् ।।
रिष्टोक्तं यच्च यच्चास्थिमज्जशुक्रमाश्रयम् ।
याप्यं मेदोगतं कृच्छ्रं पित्तद्वन्द्वास्रमांसगतम् ।।

(अ.हृ .नि. १४ / ३१-३२)

अकृच्छ्रं कफवाताढयं त्वक्स्थमेकमलं च यत् ।

साध्य कुष्ठ के लक्षण :-

- **त्वचा, रक्त, मांस धातु** से आश्रित कुष्ठ । या
- कफ-वात दोष प्रधान या सन्निपातज कुष्ठ में तीनों दोषों में से किसी एक दोष की प्रधानता रहनेवाला कुष्ठ साध्य होता है ।

याप्य कुष्ठ के लक्षण :-

- **मेद धातु** से आश्रित और द्वंद्वज दोष युक्त कुष्ठ याप्य होता है।
- जिन कुष्ठों में कफ-पित्त या वात-पित्त अर्थात दो ही दोष प्रबल होते है, वे कृच्छ्रसाध्य या याप्य होते है।

असाध्य कुष्ठ के लक्षण :-

- **मज्जा एवं अस्थि** आश्रित उत्पन्न हुआ ।
- त्रिदोषज कुष्ठ ।
- हिनबल, तृष्णा, दाह, जाठराग्निमांद्य, आरक्त नेत्रता, स्वरक्षय इन लक्षणों से युक्त कुष्ठ।
- कृमीयों द्वारा शरीर के अंगों का भक्षण किया हुआ कुष्ठ ।
- पंचकर्म चिकित्सा करने पर भी जो कुष्ठ साध्य न हुआ कुष्ठ ।

कुष्ठ के अरिष्ट लक्षण:-

कुष्ठं विशीर्यमाणाङ्ग रक्तनेत्र हतस्वरं ।
मन्दाग्नि जन्तुभिर्जुष्टं हन्ति तृष्णातिसारिणम् ।।

(अ. हृ. शा. ५/ १८)

अंगभंग, मंदाग्नि, कृमी प्रादुर्भाव, आरक्त नेत्रता, स्वरक्षय, तृष्णा, अतिसार ये कुष्ठ के अरिष्ट लक्षण है ।

कुष्ठ के उदर्क :-

नासाभंग, हस्त-पादों की अंगुलीयों का दलन (झड़ जाना) ये कुष्ठ के उदर्क है ।

कुष्ठ प्रकरण समाप्त

12

श्वित्र / किलास

संदर्भ

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय
चि. ७	नि. ५	नि. १४

किलास / श्वित्र के पर्याय :-

दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः ।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ।।

(च. चि. ७/ १७३)

दारुण, चारुण (चारण), तथा श्वित्र ये किलास के पर्यायी नाम है। यह प्रायः त्रिदोषज होता है।

श्वित्र के हेतू एवं सम्प्राप्ति :-

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुघर्षणं च ।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् ।।

(च. चि. ७ /१७७)

कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं दारुण भवेत् ।
निर्दिष्टमपरिस्त्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ।।

(मा. नि./ कुष्ठ/) (अ.हृ .नि. १४ / ३७)

श्वित्र निम्न हेतुओं के सेवन से उत्पन्न होता है ।

- असत्य वचन बोलना ।
- अकृतघ्नता अर्थात उपकार न मानना ।
- देवताओं की निंदा करना, गुरुजनों की निंदा या अपमान या तिरस्कार करना ।
- पाप कर्म करना ।
- पूर्व जन्म के पापकर्म के कारण ।
- विरुद्धान्न सेवन करना ।
- श्वित्र एवं कुष्ठ के हेतू एक समान होते है, इस लिए श्वित्र, किलास और दारुण को एक समान कहा जाता है।
- श्वित्र में स्त्राव नहीं होता ।
- श्वित्र में वात, पित्त और कफ ये त्रिदोष तथा रक्त, मांस और मेद ये त्रिधातु दुषित रहते है।

श्वित्र के प्रकार :-

वाताद्रूक्षारुणं, पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि, कफाच्छेतं घनं गुरु ।।
सकण्डु च क्रमाद्ररक्तमांसमेदः सु चादिशेत् ।

(अ. हृ. नि. १४ / ३८-३९)

तद्वातेन मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसि च ।
पित्तेन पद्मपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च, श्लेष्मणा श्वेतं
स्निग्धं बहलं कण्डूमच्च । (सु. नि. ५ / १७)
किलासमपि कुष्ठविकल्प एव, तत् त्रिविधं वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणः चेति ।
कुष्ठकिलासयोन्तरं- त्वग्गतमेव किलासमपरिस्त्रावि च ।

(सु. नि. ५ /१७)

१) वातज श्वित्रः-

- रुक्ष और अरुण वर्ण का होता है ।
- इसमें रक्त दुष्टि रहती है ।

२) पित्तज श्वित्रः-

- इसमें मांस दुष्टि रहती है ।
- ताम्र; कमलपत्र के वर्ण के समान होता है ।
- इसमें दाह तथा रोमनाश ये लक्षण होते है।

३) कफज श्वित्र :-

- इसमें मेद दुष्टि रहती है ।
- यह श्वेत वर्ण का, घन, गुरु और कण्डुयुक्त होता है ।

श्वित्र का साध्यासाध्यत्व :-

दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांसमाश्रिते ।
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तराम् ।।

(च. सू. ७/१७४)

वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ।।

(अ. हृ. नि. १४ / ३९)

- वातज एवं रक्ताश्रित श्वित्र कच्छ्रसाध्य होता है ।
- पित्तज एवं मांसाश्रित श्वित्र कृच्छ्रतर होते है ।
- कफज एवं मेदोधातु से आश्रित श्वित्र कृच्छ्रतम होता है ।

दोषाधिक्य	आश्रित धातु	वर्ण
वातज	रक्ताश्रित	रक्त वर्ण
पित्तज	मांसाश्रित	ताम्रवर्ण
कफज	मेदोधातु	श्वेत वर्ण

अशुक्लरोमाबहलमसंसृष्टं मिथो नवम् ।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं, वर्ज्यमतोन्यथा ।।
गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।
(अ. हृ. नि. १४ / ४०-४१)

साध्य श्वित्र के लक्षणः-

- श्वित्र के स्थान की त्वचा के रोम श्वेत न हुए हो,
- विस्तृत न फैला हो,
- जिसमें वैवर्ण्य एक दुसरें से संमिश्र न हुए हो,
- जो नया हो,
- दग्ध के बाद श्वेत हुआ न हो,

इन लक्षणों से युक्त श्वित्र साध्य होता है।

असाध्य श्वित्र के लक्षणः-

- उपरोक्त साध्य लक्षणों के विपरीत लक्षण वाला,
- भग, लिंग या हस्ततल या ओष्ठ में उत्पन्न हुआ श्वित्र असाध्य होता है ।

कुष्ठ एवं श्वित्र के भेद दर्शक लक्षण :-

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।
प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेद्य चावहेत् ।।
सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान् ।
लोमत्वक्स्नायुधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रमात् ।।
भक्षयेच्छ्वित्रमस्माच्च कुष्ठबाह्यमुदाहृतम् ।
(अ.हृ .नि. १४ / ४-६)

कुष्ठ	श्वित्र
त्वचा, रक्त, लसीका और मांस धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न होता है ।	श्वित्र बाह्य त्वचा के आश्रय से उत्पन्न होता है।
कुष्ठ में वैवर्ण्य, क्लेद, स्वेद, कोथ उत्पन्न होता है ।	ये सभी लक्षण श्वित्र में नहीं होते । श्वित्र में सिर्फ त्वक् वैवर्ण्य उत्पन्न होता है।
स्वेद और क्लेद के कारण कुष्ठ में सुक्ष्म और दारुण कृमी उत्पन्न होते है।	श्वित्र में कृमी उत्पन्न नहीं होते है।
ये कृमी रोम, त्वचा, स्नायु, धमनी और तरुणास्थि इनका क्रमशः ये भक्षण करते है।	

श्वित्र प्रकरण समाप्त

विसर्प

13

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह
चि. २१	नि. १० चि.१७	नि. १३	नि. १३

चरक ने छर्दि के उपद्रव में विसर्प का उल्लेख किया है इस कारण से छर्दि के बाद इसका वर्णन किया है। वाग्भट ने विसर्प में उत्पन्न होनेवाले त्वचा शोथ इस लक्षण के कारण शोथ के बाद इसका वर्णन किया है।

विसर्प की व्याख्या :-

सर्वतो विसर्पणात् विसर्पः / मा.नि. / विसर्प /टिका
विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।
परिसर्पोथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ।
(च. चि. २१/९)

- सर्वत्र फैलनेवाले उत्सेध विरहित शोथ को विसर्प कहते है।
- यह आशुकारी गति से तिर्यक्, अधो और ऊर्ध्व दिशा में फैलता है।
- यह शरीर के बाह्य और अभ्यन्तर इन दोनों स्थानों में उत्पन्न होता है ।
- यह आरक्तवर्णी एवं छोटे या बड़े आकार का उत्पन्न होता है।

विसर्प के प्रकार :-

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः ।
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ।।
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ।
चत्वारः एते विसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ।।
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ।
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ।।
(च. चि. २१/ १२- १४)

स्यादविसर्पोऽभिघातान्तैर्दोषैदूष्यैश्च शोफवत् ।
त्र्यधिष्ठानं च तं प्राहुर्बाह्यान्तरुभयाश्रयात् ।।
(अ. हृ. नि. १३/४३)

बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः ।
विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ।।
(च. चि. २१/२३)

विसर्प के दोष अनुसार :- विसर्प दोषानुसार एकुण सात (**७**) प्रकार होते है ।

विसर्प के आश्रय भेद से:- ३

आश्रय भेद से :- तीन

विसर्प के नाम निम्न प्रकार से है ।

अ. क्र.	चरक (७)	सुश्रुत (५)
१	वातज	वातज
२	पित्तज	पित्तज
३	कफज	कफज
४	वातपित्तज (आग्नेय)	सान्निपातज
५	वातकफज (ग्रंथी)	क्षतज
६	कफपित्तज (कर्दम)	
७	सान्निपातज	
आश्रय भेद से तीन		
१	बहिःश्रित	
२	अंतःश्रित	
३	उभयाश्रित	

विसर्प के हेतू :-

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात् ।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ।।
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात् ।
शाकानां हरितानां च सेवानाच्च विदाहिनाम् ।।
कुर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च ।
दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात् ।
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च ।
ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ।।
प्रक्लिन्नानामसात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात् ।
अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात् ।।

क्षतबन्धप्रपतनाद्धर्मकर्मातिसेवनात् ।
विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ।।

(च. चि. २१/ १४ ते १९)

- कटु-लवण-अम्ल रस के तथा उष्ण पदार्थों का अतिसेवन करना।
- दहि, अम्लक, मस्तु (दही का जल), शुक्त (सिरका), सौविरक (यह तुष रहित जौ की सन्धान प्रक्रिया से बनाया गया काँजी का प्रकार है ।) आदि अम्ल द्रव्यों का सेवन करना।
- राग (आचार, चटनी आदि), षाडव, हारितशाक, तिल, माष (उड़द), कुलथी, लशुन आदि पित्तकर द्रव्यों का सेवन करना ।
- विदाही अन्न पदार्थो का सेवन करना ।
- कुर्चिका (दही के साथ दूध पकाना-दधिकूर्चिका), किलाट (अम्ल द्रव्य से दूध को फाड़कर बनाया गया दूध का पदार्थ), मन्दक (अपक्व/ अधःजमा दही), आदि दुग्ध पदार्थों का सेवन करना।
- सुरा (मद्य), व्यापन्नमद्य (विकृत/सडा हुआ मद्य), सण्डाकी, आसुत (मद्य के रुप में जिनका संधान किया हो), इन मद्य प्रकारों का अतिसेवन करना ।
- ग्राम्य या आनुप प्राणियों का मांस भक्षण करना ।
- प्रक्लिन्नान्न (सड़े हुए पदार्थ), असात्म्य, विरुद्धान्न सेवन, अजीर्णाशन, अध्यशन आदि अग्निमांद्यकर आहार सेवन विधी का प्रयोग करना ।
- क्षत उत्पन्न होना या क्षतपर लगाया क्षतबंध निकल जाना।
- हीन कर्मों का अधिक सेवन (शास्त्र द्वारा वर्जित कर्म वेगविधारणादि-जो स्वास्थ्य को हानिकारक होते है ।) करना ।
- विष, जहरिली हवा, अग्निदग्ध आदि पित्त प्रकोपक द्रव्यों से विसर्प उत्पन्न होता है ।

विसर्प की संप्राप्ति :-

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः
सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम् ।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ।। **(सु. नि. १०/३)**
रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवाः ।।

(च. चि. २१/ १४)

व्याधी नाम	विसर्प		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान	भ्राजक	क्लेदक
दूष्य	रक्तधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्रोतस	रक्तवह		
स्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	**त्वचा**		
उद्भवस्थान	आमाशय/		
अधिष्ठान	बाह्य अथवा अभ्यन्तर त्वचा		
संचरण स्थान	त्वचा		
रोगमार्ग	बाह्य एवं अभ्यन्तर		
व्यक्ति	विसर्प		
भेद (७)	एकदोषज -३ द्वंद्वज-३:-आग्नेय (वातपित्त); ग्रन्थि (कफवातज); कदर्म (कफपित्त) सन्निपातज-१, क्षतज		
स्वभाव	आशुकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एकदोषज	
	असाध्य	सन्निपातज, क्षतज	
	कष्टसाध्य	मर्मगत एवं द्वंद्वज	

एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः ।
दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ।।
अन्तः प्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये ।
बहिर्बहिः प्रकुपिता सर्वत्रोभयसंश्रिताः ।।

(च. चि. २१/ २२-२३)

यस्य पित्तं प्रकुपितं सरक्तं त्वचि सर्पति ।
शोकं सरागं जनयेद्विसर्पस्तस्य जायते ।

(च. सू. १८ / २९)

......तत्र दोषा यथायथम् ।
प्रकोपणैः प्रकूपिता विशेषेण विदाहिभिः।।
देहे शीघ्रं विसर्पन्ति तेऽन्तरन्तः स्थिता बहिः।
बहिःस्था द्वितये द्विस्था.........।।

(अ. हृ. नि. १३/४४-४५)

हेतू सेवन से प्रकोपित हुऐ दोषों से त्वचा, रक्त, मांस और

लसीका की दुष्टि होती है । रक्त के आश्रय से बाह्यतः, अभ्यन्तरतः या उभयतः आशुकारी गति से आरक्त वर्ण का उत्सेध रहित शोथ उत्पन्न होता है । इस तरह से विसर्प की उत्पत्ति होती है ।

विसर्प के दोष एवं दुष्य :-

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः ।।

(च. चि. २१/१५)

वात, पित्त और कफ ये तीन दोष तथा त्वचा, रक्त, लसीका और मांस ये चार दूष्य इन सातों को विसर्प का **सप्त दूष्य संग्रह** कहा है ।

अभ्यन्तर एवं बाह्याश्रित विसर्प की सम्प्राप्ति :-

....................विद्यात्तत्रान्तराश्रयम् ।
मर्मोपतापात्सम्मोहादयनानां विघट्टनात् ।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ।।
आशु चाग्निबलभ्रंशादतो बाह्यं विपर्ययात् ।

(अ. हृ. नि. १३/४५-४७)

अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये ।
बहिर्बहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ।।
मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात् ।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात् ।।
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात् ।
अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणैः ।।

(च. चि. २१/ २५-२७)

- अभ्यन्तरतः हृदय, बस्ति या शिरः इन तीनों मर्म स्थानों में विसर्प उत्पन्न होने से उपघात (कार्यहानि होना) या उपताप (कार्य कम होना) उत्पन्न होता है।
- आयनन अर्थात कर्ण, नासा, नेत्र आदि पंचज्ञानेन्द्रियों का विघट्टन (कार्य हानि) हो जाता है।
- तृष्णाधिक्य उत्पन्न होता है ।
- मल, मूत्र आदि वेगों की विषम प्रवृत्ति होने लगती है ।
- शीघ्रता से जाठराग्नि मंद होने से शरीर तथा मन का बल ऱ्हास होता है ।
- मूर्च्छा उत्पन्न होती है ।
- ये अभ्यन्तर विसर्प के लक्षण है ।
- इन लक्षणों के विपरीत बाह्य विसर्प के लक्षण होते है ।

विसर्प के सामान्य लक्षण :-

त्वङ्मांसशोणितगताःकुपितास्तु दोषाः
सर्वांगसारिणामहास्थितमात्मलिङ्गम् ।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं तं सर्वतो विसरणाच्च
विसर्पमाहुः ।।

(सु, नि. १०/३)

सभी अवयवों में विस्तृत स्वरुप का उत्सेध रहित आशुकारी शोथ उत्पन्न होना यह विसर्प का सामान्य लक्षण है ।

प्रकार के अनुसार लक्षण :-

१) वातज विसर्प के हेतु :-

रुक्षोष्णैः केवलो वायुः पूरणैर्वा समावृतः ।
प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ।।

(च. चि. २१/२९)

रुक्ष और उष्ण आहार-विहार से प्रकोपित हुआ वायु अथवा अत्याधिक मात्रा में सेवन किए आहार से आवृत्त हुआ वायु रक्तादि दूष्यों को दूषित करके अपने बल के अनुसार वातज विसर्प को उत्पन्न करता है ।

वातज विसर्प के लक्षण:-

तस्य रुपाणि - भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्प ज्वरतमककासास्थिसंधिभेदविश्लेषणवेपनारोचका- विपाकाश्चक्षुषोराकुल त्वमस्त्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणाभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायाम संकोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविशदारुणाल्पास्त्रावैः, विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः ।।

(च. चि. २१/ ३०)

तत्र वातात्स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ।।
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान् ।

मा.नि. विसर्प (अ. हृ. नि. १३/ ४७)

वातात्मकोऽसितमृदुः
परुषोऽङ्गमर्दसंभेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः ।
गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वाद्युक्तः स एव
कथितः खलु वर्जनीयः ।। (सु. नि. १०/४)

भ्रम, दवथु, तृष्णा, तोद, शूल, अंगमर्द, पिंड़िकोदद्वेष्टन, कम्प, ज्वर, तमकश्वास, कास, अस्थि-संधि भेद और विश्लेष (ढीला पडना), वेपन (कंप), अरोचक, अविपाक, व्याकुल नेत्र, नेत्रस्त्राव, पिपीलिका संचार (शरीर में चिऊँटियाँ के रेंगने जैसा अनुभव होना), मल-मूत्र-अधोवात का अवरोध होना ये लक्षण उत्पन्न होते है।

जिस अवयव में विसर्प होता है, वह श्याव-अरुण होता है । इसमें

संकोच, स्फुरण और तोद, भेद या आयाम (तनाव) जैसी वेदनाएँ उत्पन्न होती है। अगर चिकित्सा की न जाए तो इसमें शीघ्र ही भेद हो जाता है। छोटी-छोटी, पतली तथा आरक्त वर्ण की पिटिकायें उस अवयव में उभर आती है।

उक्त (हेतूओं में कहे गये) कारणों से अनुपशय और तद् विपरीत द्रव्यों के सेवन से उपशय मिलता है। ये वातज विसर्प के लक्षण है।

२) पित्तज विसर्प के हेतु :-

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम् ।
दूष्यान् संदुष्य धर्मनीः पूरयन् वै विसर्पति ।।

(च. चि. २१/३१)

गुण एवं वीर्य में उष्ण रहने वाले पदार्थों का अतिसेवन करना और विदाही तथा अम्ल रस के पदार्थों का सेवन करना। ये पित्तज विसर्प के हेतू है ।

हेतू सेवन से प्रकोपित पित्त त्वक्, रक्त, मांस और लसीका इन दूष्यों को दूषित करके पित्तज विसर्प उत्पन्न करता है।

पित्तज विसर्प के लक्षण:-

पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ।।

मा. नि. (अ. हृ. नि. १३/ ४८)

तस्य रुपाणि - ज्वरस्तृष्णामूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं हरितहारिद्ररुपदर्शनं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्र हरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसंभेदनपरीतैः स्फोटकैरुपचीयते तुल्यवर्णास्त्रावैश्चिरपाकैश्च, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः ।।

(च. चि. २१/ ३२)

पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाकस्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः ।
दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात् स्त्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ।। (सु. नि. १०/५)

पित्तज विसर्प के निम्न लक्षण होते है।

- ज्वर, तृष्णा, मूर्च्छा, मोह, छर्दि, अरोचक, अंगभेद, स्वेदाधिक्य, अन्तर्दाह, प्रलाप, शिर:शूल, व्याकुल नेत्र, अनिद्रा, अरति तथा भ्रम ये सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते है।
- शरीर में दाह होने से शीतल हवा सेवन करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।
- नेत्र-मूत्र-पुरीष आदि में हरिद्र-हारित वर्ण उत्पन्न होता है ।
- आँखो के सामने हारित-हारिद्र वर्ण का दृश्य दिखलाई देता है।
- पित्तज विसर्प में उत्पन्न पिटिकाएँ अत्यन्त दाह युक्त, लाल-हरित-हारिद्र-नील-कृष्ण या आरक्त वर्ण की तथा देर से पाकने वाली होती है ।
- उक्त (हेतूओं में कहे गये) कारणों से अनुपशय और तद् विपरीत द्रव्यों के सेवन से उपशय मिलता है।

३) कफज विसर्प के हेतु :-

स्वादृम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसंचितः ।
कफः संदूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति ।।

(च. चि. २१/३३)

- स्निग्ध, गुरु गुण के एवं मधुर-अम्ल-लवण रस के पदार्थों का अतिसेवन करना, निद्राधिक्य आदि कारणों से कफ दोष प्रकोपित होता है ।
- प्रकोपित कफ और दूषीत दूष्यों की समुर्च्छना होकर कष्टतापूर्वक कफज विसर्प उत्पन्न होता है ।
- यह धीरे-धीरे शरीर अवयवों में फैल जाता है ।

कफज विसर्प के लक्षण:-

कफात् कण्डुयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।

मा.नि. (अ. हृ. नि. १३/ ४९)

तस्य रुपाणि -शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रातन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकै श्चिरकारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबद्धयते, प्रभिन्नस्तु पिच्छिलं तन्तुमद्धन मनुबद्धं स्निग्धमास्त्रावं स्त्रवति, ऊर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहुलत्वगुलपलेर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं, निदानोक्तानि चास्य नोपशरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः ।।

(च. चि. २१/ ३४)

श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुगुग्रकण्डुः ।
सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढः पक्वो न सिध्यति च मांससिराप्रशातात् ।।

(सु. नि. १०/६)

कफज विसर्प के निम्न लक्षण होते है।

- प्रतिश्याय, शीत पूर्वक ज्वर आना, अंगगौरव, निद्राधिक्य, तन्द्रा, अरोचक, मधुरास्यता, मुख कफ से उपलिप्त रहना, ष्ठिवनाधिक्य, छर्दि, आलस्य, स्तैमित्य, अग्निमांद्य और दौर्बल्य ये सार्वदैहिक लक्षण कफज विसर्प में उत्पन्न होते है।
- कफज विसर्प में स्थानिक त्वचा जाड़ी एवं स्निग्ध हो जाती है और गुरु और स्थिर स्वरुप के सिराजाल बनते है ।
- वहाँ पर श्वेत और अल्प आरक्त वर्ण का शोथ उत्पन्न होता है।
- इस शोथ में स्निग्धता, सुप्तता, गौरव और अल्पवेदना ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- यह शोथ देर से पकनेवाला, चिरकारी रहनेवाला होता है ।
- इसमें गाढ़े पूय की संचिती होती है ।
- पाक होने पर पिच्छिल, तन्तुल, स्त्यान एवं स्निग्ध स्राव बहने लगता है।
- उत्पन्न व्रण दीर्घकाल के लिए बने रहते है ।
- नख, नेत्र, मुख, त्वक्, मल, मूत्र आदि श्वेत वर्ण के बन जाते है।
- उक्त (हेतूओं में कहे गये) कारणों से अनुपशय और तद् विपरीत द्रव्यों के सेवन से उपशय मिलता है।

४) सन्निपातज विसर्पः-

सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ।

मा.नि.

सर्वजो लक्षणैः सर्वैः सर्वधात्वतिसर्पणः ।

(अ. हृ. नि. १३/ ६५)

सन्निपातज विसर्प त्रिदोषज हेतूओं के सेवन से होता है और इसमें तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण दिखलाई देते है।

उपेक्षित विसर्प के लक्षण :-

स्वदोषलिङ्गैश्चीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः ।।
ते पक्वभिन्नाः स्वं स्वं च बिभ्रति व्रणलक्षणम् ।

(अ. हृ. नि. १३/ ४९)

अगर विसर्प की उपेक्षा की गयी तो विस्फोट उत्पन्न होकर उनमें भेद होता है। इन विस्फोटों में व्रण उत्पन्न होने के बाद दोषाधिक्यानुसार लक्षण उत्पन्न होते है।

५) वातपित्तज (आग्नेय) विसर्पः-

सम्प्राप्ति :-

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः ।
परस्परं लब्धबलं दहद्गात्रं विसर्पति ।।

(च. चि. २१/३५)

स्वहेतू से वात और पित्त प्रकोपित होकर, दोनों एक दुसरे का बल प्राप्त करके, आग्नेय विसर्प को उत्पन्न करते है।

वातपित्तज (आग्नेय) विसर्प के लक्षण :-

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्यतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थि सन्धिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयतेयं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति, अग्नि दग्धप्रकारैश्चस्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्मानुसारी भवति, चोपतप्तो पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां, हिक्काश्वासौ जनयति, नाशयति निद्रा, स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलबते, अरतिपरीतःस्थानादासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति, क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति, दुर्बलो दुःखप्रबोधश्च भवति,तमेवंविधमग्नि विसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ।।

(च. चि. २१/ ३६)

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ।
ग्रन्थिभेदाग्निसदनमतमकारोचकैर्युतः ।।
करोति सर्वमंगं च दीप्तांगारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ।।
शान्तागारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतं च सः ।।
मर्मानुसारी विसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथतेंऽगं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ।।
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ।।
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहप्रमोहवान् ।
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रा सोऽग्निवीसर्प उच्यते ।।

मा. नि. (अ. हृ. नि. १३/ ५०-५६)

- पित्त स्वयं अग्नि है और वायु अग्नि का संधुक्षण करता है । ये दोनों साथ में मिलकर जलते हुए अंगार पर शरीर रख दिया है ऐसी अत्यन्त तीव्र पीडा रोगी को देते है।
- छर्दि, अतिसार, मुर्च्छा, दाह, मोह, भ्रम, ज्वर, तमःप्रवेश, अरोचक, अस्थि-संधि में भेदवत वेदना, तृष्णा, अविपाक, श्वास, हिक्का आदि लक्षण उत्पन्न होते है।
- जिस स्थान में यह आग्नेय विसर्प होता है वह स्थान शान्त अंगार (बुझे हुए कोयले के अंगारे) के वर्ण का अथवा अत्यन्त रक्तवर्ण का हो जाता है ।

- यह द्वंद्वज आग्नेय विसर्प शीघ्रगामी होने से जल्द ही मर्मगामी (ह्रदय) होकर पीडा उत्पन्न करता है।
- बलवान वायु से अत्यन्त तीव्र स्वरुप की अंगभेदनवत पीडा उत्पन्न होती है।
- अनिद्रा, श्वास, हिक्का से पिडीत व्यक्ति बैचेन और दु:खी रहता है।
- इन लक्षणों से ग्रस्त होने से रोगी को जल्द नींद आ जाती है तथा वह देर तक सोते रहता है ।
- रोगी जल्द ही बेहोश हो जाता है।
- अग्नि विसर्प असाध्य होता है।

५) कफवातज (ग्रन्थी) के हेतू :-

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दि सेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिशीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते,........।

(च. चि. २१/३९)

निम्न कारणों से वातकफज विसर्प उत्पन्न होता है ।

- स्थिर, गुरु, कठिन, मधुर, शीत, स्निग्ध ऐसे अन्नपान का सेवन करना।
- अभिष्यन्दी आहार का सेवन करना।
- व्यायाम न करना ।
- समय-समय पर संशोधन (पंचकर्म) कर्म न करना।

कफवातज (ग्रन्थी) के सम्प्राप्ति :-

तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदुष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते, तत्र वायुः श्लेष्मणाविबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधाभिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशयेसंजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितं ग्रन्थीनां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां वा दीर्घवृत्तरक्तानां ...।

(च. चि. २१/३९)

- हेतू सेवन से बलवान हुए दोष त्वचा, रक्त, मांस और लसीका इन दूष्यों में स्थानसंश्रय करके ग्रन्थी विसर्प उत्पन्न करते है।
- इसमें वात और कफ ये दोनों दोष प्रकोपित रहते है । प्रवृद्ध कफ से प्रकोपित वात अधिक बलवान होकर कफ को अनेक छोटे-छोटे टुकडों-टुकड़ों में विभक्त कर देता है।इससे कफाशय अर्थात उर:स्थान में अनेक छोटी-छोटी, कठीन और पाक न होने वाली कष्टसाध्य अनेक ग्रन्थियों की माला उत्पन्न हो जाती है ।
- रक्त अधिक मात्रा में बढ़ा हो तो प्रकोपित कफ और वात अधिक दूषित करके वे इस दूषित रक्त की सिरा, स्नायु, मांस तथा त्वचा के आश्रय से ग्रंथियों की माला को पैदा कर देते है।
- इन ग्रंथियों में तीव्र वेदना होती है।
- ये ग्रन्थियाँ आरक्त वर्ण की, लंब गोलाकार या छोटे-बड़े आकार की होती है।

कफवातज (ग्रन्थी) के उपद्रव/लक्षण:-

तदुपतापाज्ज्वरातिसारकासहिक्काश्वासशोष प्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकप्रसेकच्छर्दिर्मूर्च्छाङ्गभङ्ग निद्रारतिसदनाद्याः प्रादुर्भन्त्युपद्रवाः स एतैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितोविवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ।।

(च. चि. २१/३९)

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुदा कफम् ।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम् ।।
दूषयित्वा तु दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम् ।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम् ।।
श्वासकासातिसारास्यशोषहिक्कावमिभ्रमैः ।
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छांगभंगाग्निसदनैर्युताम् ।।
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः ।

मा. नि. (अ. हृ. नि. १३/५६-५९)

ग्रंथी विसर्प की पीडा से ज्वर, अतिसार, कास, हिक्का, श्वास, शोष, प्रमोह, वैवर्ण्य, अरोचक, अविपाक, छर्दि, मूर्च्छा, अंगभंग, निद्रा, अरति, अंगसाद, आदि उपद्रव (वाग्भटाचार्य ने इन्हें लक्षण कहा है ।) उत्पन्न होते है ।

यह ग्रंथी विसर्प असाध्य होता है ।

कफपित्तज (कर्दम) की सम्प्राप्ति :-

कफपित्तं प्रकुपित्तं बलवत् स्वेन हेतुना ।
विसर्पतत्कदेशे तु प्रक्लेदयति देहिनम् ।।

(च. चि. २१/३७)

- स्वहेतु से कफ और पित्त बलवान होकर कफ-पित्तज (कर्दम) विसर्प उत्पन्न करते है ।
- इस विसर्प में क्लेदाधिक्य रहता है।

कफपित्तज (कर्दम) के लक्षण :-

तद्विकाराः - शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्त्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रायोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायश्चामाशये विसर्पत्यलसक एकदेशग्राही च, यस्मिंश्चावकाशे

विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभःकालो मलिनः स्निग्धो बहुष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयतुमान् गम्भीरपाको निरास्त्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति संज्ञास्मृतिहन्ता च तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात्।

(च. चि. २१/ ३८)

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजः ।
अंगावसादविक्षेपौ प्रलेपारोचकभ्रमाः ।।
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ।
आमोपवेशनं लेपः स्त्रोतसां स च सर्पति ।।
प्रायेणामाशयेगृठन्नेकदेशं न चातिरुक् ।
पिटकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः ।।
मेचकाभोऽसितं स्निग्धो मलिनः शोफवात् गुरुः ।
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ।
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ।।
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः।
शवगन्धिश्च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम् ।

(मा. नि.) (अ. हृ. नि. १३/ ४७)

- अग्निमांद्य के कारण अरोचक, शीत पूर्वक ज्वर, तन्द्रा, तृष्णा एवं दौर्बल्य उत्पन्न होता है ।
- अंगदाह, अंगसाद, अंगमर्द, अंगविक्षेप ये उत्पन्न होते है ।
- औत्सुक्य (उत्सुकता), अरति, भ्रम एवं मूर्च्छा उत्पन्न होती है ।
- शिरोगौरव एवं शिरःशूल उत्पन्न होता है ।
- अस्थियों में भेदनवत पीड़ा उत्पन्न होती है ।
- प्रलाप उत्पन्न होता है ।
- स्त्रोतसों में उपलेप उत्पन्न होता है ।
- इन्द्रिय जडता अर्थात बधिरता उत्पन्न होती है । इस कारण इन्द्रिय स्व-विषयों का आकलन कर नहीं पाते है; उनके शक्ति का ऱ्हास होता है।
- **प्रायोपवेशन** (उपवास या प्रायः मल त्यागते रहना), (इस शब्द का पाठभेद **आमोपवेशन** भी है । इसका अर्थ प्रायः आमयुक्त मल का त्याग करना है) इस शब्द से मलत्याग करना यही अर्थ यहाँ उचित है।
- यह विसर्प आमाशयोद्भव है ।
- शरीर के किसी एक अवयव पर यह आक्रमण करता है ।
- इस स्थान पर आरक्तता, पीतवर्ण या श्वेतवर्ण की पिडिकाऐं उत्पन्न हो जाती है ।
- यह स्थान मेचक के वर्ण समान, काला, मलिन, स्निग्ध, अत्यन्त उष्ण, गुरु, अल्प वेदनायुक्त, शोथ युक्त, स्राव विरहित, जल्द ही गीला होने वाला होता है।
- इस विसर्प के स्थान की त्वचा और मांस में स्वेद तथा क्लेद से दुर्गंध आने लगती है ।
- धीरे-धीरे से इसकी वेदना कम होने लगती है।
- इस कर्दम विसर्प के स्थान पर अगर हाथों से स्पर्श किया जाय तो उस स्थान की त्वचा फटने या कटने लगती है ।
- अगर दबाया जाय तो वहाँ किचड़ की भाँति गड्डा बन जाता है।
- इस स्थान से क्लेद युक्त मांस निकलने लगता है।
- इस व्रण के स्थान की सिरा तथा स्नायु दिखने लगते है।
- इससे कुणपगंध (सडे हुए प्रेत की गंध) आने लगती है ।
- यह विसर्प संज्ञा और स्मृति का नाश करता है।
- यह असाध्य होता है ।

अभिघातज (क्षतज -मा. नि.) विसर्प के हेतू :-

बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ।
वीसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशैश्चितम् ।।
स्फोटैः शोथज्वररुजादाहाढ्यं श्यावशोणितम् ।

मा. नि. (अ. हृ. नि. १३/ ६५-६६)

- शस्त्र, लाठी आदि बाह्य कारणों से प्रकोपित हुआ वात दोष पित्त दोष को रक्त सहित दूषित करके क्षतज विसर्प उत्पन्न करता है।
- इस विसर्प में कुलथी के सदृश काले एवं लाल वर्ण की पिडिकायें उत्पन्न होती है ।
- इसमें शोथ, ज्वर, वेदना तथा दाह ये लक्षण उत्पन्न होते है।

विसर्प के उपद्रव :-

ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः ।
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ।।

मा. नि.

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा ....।। (च. चि. २१/४०)

विसर्प का साध्यासाध्यत्व :-

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।

पित्तात्मकोऽजनवपुश्च भवेदसाध्यः कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ।।

मा. नि.

पृथग्दोषैस्त्रयः साध्या द्वन्द्वजाश्चानुपद्रवाः ।
असाध्यौ क्षतसर्वोत्थौ सर्वे चाक्रान्तमर्मकाः ।।
शीर्णस्नायुसिरामांसाः प्रक्लिन्नाः शवगन्धयः ।।

(अ. हृ. नि. १३/ ६७-६८)

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्या भवन्तिः अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टे मर्मणि अनुपगते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम् अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्याद् देहमाश्वेवाशीविषवत्; तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम्, उपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्; सन्निपातजं तु सर्वधात्वनसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात् ।

(च. चि. २१/ ४२)

श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितश्च कीर्णम् ।
सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ।।
पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिङ्गौ सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्याः ।। (सु. नि. १०/७-८)

विसर्प साध्य :-

एकदोषज विसर्प तथा उपद्रव विरहित द्वंद्वज विसर्प साध्य होते है।

विसर्प असाध्य :-

क्षतज, त्रिदोषज, मर्म गति प्राप्त विसर्प, सिरा-स्नायु-मांस में क्लेद उत्पन्न हो, कुनपगंध के विसर्प असाध्य होते है ।

त्र्यधिष्ठानं च तं प्राहुर्बाह्यान्तरुभयाश्रयात् ।।
यथोत्तरं च दुःसाध्याः..........।

(अ. हृ. नि. १३/४३)

- बाह्यस्थान- त्वचा, अभ्यन्तर- अंतस्तः अवयव रक्तादि धातु और उभय- त्वचा और अभ्यन्तर अवयव ये तीन विसर्प के अधिष्ठान है ।
- इन तीन स्थानों में उत्पन्न हुआ विसर्प उत्तरोत्तर असाध्य होता है ।

विसर्प के अरिष्ट लक्षण :-

विसर्पः कासवैवर्ण्यज्वरमूर्च्छांगभंगवान् ।
भ्रमास्यशोषहृल्लास देहसादातिसारवान् ।।

(अ.हृ. शा. ५ /९७)

कास, वैवर्ण्य, ज्वर, मूर्च्छा, अंगभंग, भ्रम, मुखशोष, हृल्लास, अंगसाद और अतिसार ये लक्षण विसर्प में उत्पन्न होना अरिष्ट सुचक होता है ।

विसर्प प्रकरण समाप्त

विद्रधि

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह
सू. १७,	नि.९	नि. ११	नि. ११

व्याख्या:-

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते ।
ततःशीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ।।

(च.सू. १७ / ९५)

दूष्ट रक्त की मात्रा में वृद्धि होने से शीघ्र विदाह उत्पन्न होता है । रक्त के शीघ्र विदाही होने को विद्रधि कहते है । इसके कारण त्वचा पर बाह्यतः अथवा अभ्यन्तर अवयव में बड़े आकार का व्रणशोथ उत्पन्न होता है ।

विद्रधि के हेतू :-

भुक्तैः पर्युषितात्युष्णरुक्षशुष्कविदाहिभिः ।
जिह्मशय्याविचेष्टाभिस्तैस्तैश्चासृक्प्रदुषणैः ।।
दुष्टत्वङ्मांसमेदोऽस्थिस्नाय्वसृक्कण्डराश्रयः ।
य शोफो बहिरन्तर्वा महामूलो महारुजः ।।

(अ.हृ.नि.११/१-२)

शीतकान्नविदाह्युष्णरुक्षशुष्कातिभोजनात् ।
विरुद्धाजीर्णसंक्लिष्टविषमासात्म्यभोजनात् ।।
व्यापन्नबहुमद्यत्वाद्वेगसंधारणाच्छ्रमात् ।
जिह्मव्यायामशयनादतिभाराध्वमैथुनात् ।।

(च.सू. १७ /९१-९२)

आभ्यन्तरानतस्तुर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते ।
गुर्वसात्म्यविरुद्धाशुष्कसंसृष्टभोजनात् ।।
अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविदाहिभिः ।
पृथक् सम्भूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरुपिणम् ।।
वल्मीकवत्समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।

(सु. नि. ९/ १५-१६)

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदुष्यास्थिसमाश्रिताः ।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ।।
महामूलं रुजान्वतं वृतं चाप्यथवाऽऽयतम् ।

(सु. नि. ९ / ४-५)

विद्रधि के सामान्य हेतु निम्न प्रकार से होते है ।

- पर्युषित अन्नसेवन, शीत, उष्ण, रुक्ष, शुष्क तथा विदाहि अन्न का अति सेवन करना ।
- विरुद्धाशन, विषमाशन, संक्लिष्ट भोजन, अजीर्णाशन करना।
- व्यापन्न (सड़ा हुआ) मद्य सेवन, अतिमद्यपान करना।
- वेगसंधारण, अतिव्यायाम, अतिभार उठाना, अतिश्रम, अतिचंक्रमण, अतिमैथुन करना।
- ऊँची-नीची या टेढ़ी-मेढ़ी शय्या पर नींद लेना।

विद्रधि की सम्प्राप्ति:-

व्याधी नाम	विद्रधि		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान	पाचक	क्लेदक
दूष्य	त्वचा		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	रक्तवह स्त्रोतस		
स्त्रोतोदुष्टी	संग		
ख वैगुण्य	त्वचा		
उद्भवस्थान	आमाशय		
अधिष्ठान	त्वचा		
संचरण स्थान	रक्तवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	बाह्य एवं अभ्यन्तर		
व्यक्ति	विद्रधि		
भेद (६)	वात, पित्त, कफ, सन्निपातज, रक्तज, क्षतज		
स्वभाव	आशुकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	वात, पित्त, कफ,रक्तज, क्षतज	
	कष्टसाध्य	सन्निपातज	
	असाध्य	उपद्रवयुक्त	

अन्तःशरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः ।
तदा संजायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ।।

(च.सू. १७ /९३)

इन हेतुओं से प्रकोपित दोष, रक्त और मांस को दूषित करके दारुण (अत्यन्त पीडादायक) तथा गंभीर स्वरुप के विद्रधि उत्पन्न करते है । दोष और दूष्यों का संग्रहण या ग्रथन होने से विद्रधि को ग्रंथि स्वरुप कहा है ।

विद्रधि के प्रकार :-

तमाहुर्विद्रधिं धीरा विज्ञेयः स च षड्विधः ।।
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।
षण्णामपि तेषां तु लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते ।।

(सु. नि. ९ / ५-६)

विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरी तथा ।
बाह्या त्वक्स्नायुमांसोत्था कण्डराभा महारुजा ।।

(च. सू. १७/९०)

दोषैः पृथक्समुदितैः शोणितेन क्षतेन च ।।
बाह्योऽत्र तत्र तत्राङ्गे दारुणो ग्रथितोन्नतः ।
आन्तरो दारुणतरो गम्भीरो गुल्मवद्धनः ।।
वल्मीकवत्समुच्छ्रायी शीघ्रघात्यग्निशस्त्रवत् ।

(अ.हृ.नि.११/३-५)

स्थानसंश्रय के अनुसार विद्रधि के दो भेद :-

१) बाह्य	२) अभ्यन्तर

विद्रधि के छः प्रकार :-

१) वातज	२)पित्तज	३)कफज
४)सन्निपातज	५)क्षतज	६) रक्तज

१) बाह्य विद्रधिः-

- बाह्य विद्रधि त्वचा, स्नायु और मांस धातु में उत्पन्न होती है।
- यह कण्डरा के (स्थूल स्नायु) आकार की ग्रथित एवं उत्सेध युक्त तथा अत्यन्त कष्टप्रद होती है।

२) अभ्यन्तर विद्रधिः-

- शरीर अवयव के अभ्यन्तर में रक्त और मांस धातु के आश्रय से अभ्यन्तर विद्रधि उत्पन्न होती है ।
- अभ्यन्तर विद्रधि बाह्य विद्रधि से भी दारुण, गम्भीर होती है ।
- यह गुल्म के समान कठोर, वल्मीक के जैसे उभार युक्त और शीघ्र मारक होता है।
- अभ्यन्तर विद्रधि को शस्त्र और अग्नि की उपमा देकर घातक बताया है ।

अभ्यन्तर विद्रधी के स्थान :-

हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः ।
नाभ्यां वंक्षणयोर्वाऽपि बस्तौ वा तीव्रवेदनः ।।

(च.सू. १७ /९४)

गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ।।
वृक्कयोर्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा ।
तेषां लिङ्गानि जानियाद् बाह्यविद्रधिलक्षणैः ।।
आमपक्वैषणीयाच्च पक्वाव ।

(सु. नि. ९/१७-१९)

नाभिबस्तियकृत्प्लीहक्लोमहृत्कुक्षिवङ्क्षणे ।।
स्याद् वृक्कयोरपाने च....।

(अ. हृ. नि. ११/५-६)

नाभि, बस्ति, यकृत, प्लीहा, क्लोम, हृदय, कुक्षि, वंक्षण, दोनों वृक्क और गुद इन स्थानों में अभ्यन्तर विद्रधि उत्पन्न होती है।

दोष और हेतू नुसार विद्रधि के छः प्रकार होते है ।

१)वातज	२) पित्तज	३)कफज
४)सन्निपातज	५)रक्तज	६)क्षतज

विद्रधि के सामान्य लक्षण :-

सर्वासु च महच्छूलं विद्रधीषूपजायते ।।

(च.सू. १७ /९७)

वातज विद्रधि के लक्षणः-

कृष्णोऽरुणो वा परुषो भृशमत्यर्थवेदनः ।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः ।।

(सु. नि. ९/७)

...वातात्तत्रातिरुक् ।
श्यावारुणश्चिरोत्थानपाको विषमसंस्थितिः ।।

(अ. हृ. नि.११/६)

व्यधच्छेदभ्रमानाहस्पन्दनसर्पणशब्दवान् ।
व्यधच्छेदभ्रमानाहशब्दस्फुरणसर्पणैः ।।

(च.सू. १७ /९६)

- वातज विद्रधि विषमाकार एवं श्याव-अरुण वर्ण की होती है।
- यह चिरकारी (धीरे-धीरे बढ़ना) और चिरपाकी (देर से पकनेवाला) होती है।
- इसमें छेदनवत या भेदनवत तीव्र पीडा होती है ।

○ भ्रम, आनाह, स्फुरण, सशब्दता आदि लक्षण वातज विद्रधि में उत्पन्न होते है ।

वातज विद्रधि के स्राव का स्वरुप :-

तनु रुक्षारुणं श्यावं फेनिलं वातविद्रधी ।।

(च. सू. १७ /९९)

○ वातज विद्रधि में उत्पन्न स्राव श्याव-अरुण वर्ण का, रुक्ष एवं फेनिल होता है ।

पित्तज विद्रधि :-

पक्वोदुम्बरसङ्काशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् ।

क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः ।।

(सु. नि. ९/८)

रक्तताम्रासितः पित्तातृष्मोहज्वरदाहवान् ।।

(अ. हृ. नि. ११/७)

क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च ...। ...पैत्तिकीं तृष्णादाहमोहमदज्वरैः।।

(च. सू. १७ /९६)

○ पित्तज विद्रधि आरक्त-ताम्र-कृष्ण वर्ण की होती है ।

○ यह तृष्णा, मोह, ज्वर और दाह इन लक्षणों से युक्त होती है।

○ यह आशुकारी होने से शीघ्रता से उत्पन्न होकर तीव्र गति से फैल जाती है ।

○ इसका शीघ्रता से पाक होता है ।

पित्तज विद्रधि के स्राव का स्वरुप :-

तिलमाषकुलत्थोदसन्निभं पित्तविद्रधी ।।

(च. सू. १७ /९९)

○ पित्तज विद्रधि में उत्पन्न स्राव तिल, माष या कुलथी के क्वाथ सदृश स्राव होता है।

कफज विद्रधि :-

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्तब्धोऽल्पवेदनः ।

चिरोत्थानप्रपाकश्च सकण्डुश्च कफोत्थितः ।।

(सु. नि. ९/९)

.....पाण्डुः कण्डूयुक्तः कफात ।

सोत्क्लेशशीतस्तम्भजृम्भारोचकगौरवः ।।

(अ. हृ. नि. ११/८)

चिरोत्थानप्रपाकश्च ....।

जृम्भोत्क्लेशारुचिस्तम्भशीतकैः श्लैष्मिकीं विदुः ।।

(च. सू. १७ /९७)

○ कफज विद्रधि श्वेत वर्ण की होती है ।

○ यह चिरकारी, चिरपाकी एवं कण्डूयुक्त होती है ।

○ इसमें जृम्भा, उत्क्लेश, अरुचि, शीतक (सर्दि), आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।

कफज विद्रधि के स्राव का स्वरुप :-

श्लेष्मिकी स्रवति श्वेतं पिच्छिलं बहलं बहु ।।

(च.सू. १७ /१००)

○ कफज विद्रधि में उत्पन्न स्राव श्वेत, पिच्छिल, सान्द्र और मात्रा में अधिक होता है ।

सन्निपातज विद्रधिः-

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ।।

विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः ।

(सु. नि. ९/१०-११)

......सङ्कीर्णः सन्निपाततः । (अ. हृ. नि. ११/९)

○ तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण सन्निपातज विद्रधि में उत्पन्न होते है।

सन्निपातज विद्रधि में स्राव का स्वरुप :-

लक्षणं सर्वमेवैतद्भजते सान्निपातिकी ।।

(च.सू. १७ /१००)

○ सन्निपातज विद्रधि के स्राव में तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण दिखलाई देते है ।

रक्तज विद्रधि :-

कृष्णस्फोटावृतः श्यावतीव्रदाहज्वरः ।

पित्तलिङ्गोऽसृजा बाह्यः स्त्रीणामेव तथाऽऽन्तर ।।

(अ.हृ.नि.११/१०)

○ रक्तज विद्रधि काले वर्ण के स्फोट से व्याप्त श्याव वर्ण युक्त होती है ।

○ यह अत्यन्त दाह एवं पीडाकर तथा तीव्र ज्वर से युक्त होती है ।

○ रक्तज विद्रधि जब पुरुषों में उत्पन्न होती है, तब उसके लक्षण बाह्य पित्तज विद्रधि के समान होते है ।

जब यह स्त्रियों में उत्पन्न होती है, तब इसके लक्षण अभ्यन्तर पित्तज विद्रधि के समान होते है ।

क्षतज विद्रधि :-

तैस्तैर्भावरभिहते क्षते वाऽपथ्यसेवनः ।।

क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।

ज्वरतृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ।।

एष विद्रधिरागन्तुः पित्तविद्रधिलक्षणः ।

(सु. नि. ९/७)

शस्त्राद्यैरभिघातेन क्षते वाऽप्यपथ्यकारिणः ।

क्षतोष्मो वायुविक्षिप्तः सरक्तं पित्तमीरयन् ।।

पित्तासृग्लक्षणं कुर्याद्विद्रधिं भूर्यपद्रवम् ।

(अ.हृ.नि.११/११)

- शस्त्र, अभिघात आदि कारणों से व्रण से पीडित हुए मनुष्य से अपथ्यकर आहार-विहार सेवन करने से व्रण हो जाता है।
- इस व्रण से उत्पन्न उष्मा (पित्त) के साथ वायु समुर्च्छित होकर सार्वदैहिक हो जाती है।
- वायु से दूष्ट हुआ पित्त, रक्त के साथ संयुक्त होकर क्षतज विद्रधि उत्पन्न करता है।
- इसमें ज्वर, तृष्णा, दाह जैसे रक्त और पित्त के संयुक्त लक्षण तथा अनेक उपद्रव उत्पन्न होते है।
- इस विद्रधि को सुश्रुताचार्य ने आगन्तुज विद्रधि कहा है।

विद्रधि की आमादि अवस्था :-

आमपक्वविदग्धत्वं शोफवदादिशेत् ।।

(अ.हृ.नि.११/१५)

विद्रधि के आम-पच्यमान-पक्व आवस्था के लक्षण व्रणशोथ की अवस्था के समान होते है ।

अन्तर्विद्रधि के स्राव के मार्ग :-

पक्वप्रभिन्नासूर्ध्वजासु मुखात् स्रावः स्रवति, अधोजासु
गुदात्, उभयतस्तु नाभिजासु ।।

(च.सू. १७ /१०२)

नाभेरुर्ध्व मुखात्पक्वाः प्रस्रवन्त्यधरे गुदात् ।
गुदास्यान्नाभिजो ...।। (अ.हृ.नि.११/१६)

- नाभि के ऊर्ध्व भाग में उत्पन्न विद्रधि का भेद होने पर पूयस्राव मुखमार्ग से निकलता है।
- अधोतः उत्पन्न विद्रधियों का भेद होने पर पूयस्राव गुदमार्ग से निकलता है।
- अन्त्रगत विद्रधि का पूयस्राव मुख एवं गुद दोनों मार्ग से निकलता है।

अभ्यन्तर विद्रधि के लक्षण:-

गुदे वातनिरोधस्तु बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ।
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ।।
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ।
वृक्कयोः पार्श्वसङ्कोचः प्लीह्नयुच्छ्वासावरोधनम् ।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि शूलश्च दारुणः ।
श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ।।

(सु. नि. ९/२०-२२)

अथासां विद्रधीनां साध्यासाध्यत्वविशेषज्ञानार्थं स्थानकृतं लिङ्गविशेषमुपदेक्ष्यामःतत्र प्रधानमर्मजायां विद्रध्यां हृद्घट्टनतमकप्रमोहकासश्वासाः, क्लोमजायां पिपासा मुखशोषगलग्रहाः, यकृज्जायां श्वासः, प्लीहजायामुच्छ्वासोपरोधः, कुक्षिजायां कुक्षिपार्श्वान्तरांसशूलं वृक्कजायां पृष्ठकटिग्रहः, नाभिजायां हिक्का, वंक्षणजायां सक्थिसादः, बस्तिजायां कृच्छ्रपूतिमूत्रवर्चस्त्वं चेति ।।

(च.सू. १७ /१०१)

तेषूपद्रवभेदश्च स्मृतोऽधिष्ठानभेदतः ।।
नाभ्यां हिध्मा, भवेद्वस्तौ मूत्रं कृच्छ्रेण पूति च ।
श्वासो यकृति, रोधस्तु प्लीह्नयुच्छासस्य, तृट् पुनः ।।
गलग्रहश्च क्लोम्नि, स्यात्सर्वाङ्गप्रग्रहो हृदि ।
प्रमोहस्तमकः कासो हृदये घट्टनं व्यथा ।।
कुक्षिपार्श्वन्तरांसार्तिः कुक्षावाटोपजन्म च ।
सक्थ्नोर्ग्रहो वङ्क्षणयोर्वृक्कयोः कटिपृष्ठयोः ।।
पार्श्वयोश्च व्यथा पायौ पवनस्य निरोधनम् ।

(अ.हृ.नि.११/१२-१५)

शरीर अवयव के अनुसार अलग-अलग स्थानों पर विद्रधि उत्पन्न होती है । इन स्थानों के अनुसार विद्रधि के निम्न लक्षण (सुश्रुत एवं चरक) (उपद्रवः वाग्भट) उत्पन्न होते है ।

स्थान	उपद्रव
नाभी	हिक्का
बस्ति	मूत्रकृच्छ्र, पूय मूत्रता
यकृत	श्वास
प्लीहा	श्वासावरोध
क्लोम	कण्ठावरोध, गलग्रह, तृष्णा, मुख शुष्कता
हृदय	सर्वांग ग्रह, मोह, तमकश्वास, कास, हृदय में घट्टन (हृद्द्रव ?) तथा पीडा
कुक्षि	कुक्षि शूल, अंसफलक और पर्शुका शूल, कुक्षि आटोप
वंक्षण	सक्थिग्रह, सक्थिसाद
वृक्क	पृष्ठ-कटि और पार्श्व शूल
गुद	अधोवात अवरोध, मलावरोध

अन्तर्विद्रधि दोष निर्णय के लक्षण:-

गुदास्यान्नाभिजो विद्याद्दोषं क्लेदाच्च विद्रधौ ।।
यथास्वं व्रणवत्.............। (अ.हृ.नि.११/१७)

व्रण से उत्पन्न पूय की वर्णादि अनुसार जिस तरह दोष निश्चिती

करते है । उसी प्रकार से अन्तर्विद्रधि में उत्पन्न पूय की दोष निश्चिती करनी चाहिए ।

विद्रधि का साध्यासाध्यत्व :-

उक्ता विद्रधियो ह्येते तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः ।।

(सु. नि. ९/१४)

.... तत्र विवर्ज्यः सन्निपातजः ।

पक्वो हृन्नाभिबस्तिस्थो भिन्नोऽन्तर्बहिरेव वा ।।

पक्वश्चान्तः स्त्रवन् वक्त्रात् क्षीणस्योपद्रवान्वितः।

(अ.हृ.नि.११/१८-१९)

तासां हृन्नाभिबस्तिजाः परिपक्वाः सान्निपातिकी च मरणाय; शेषाः पुनः कुशलमाशुप्रतिकारिणं चिकित्सकमासाद्योपशाम्यन्ति ।

तस्मादचिरोत्थितां विद्रधीं शस्त्रसर्पविद्युदग्नितुल्यां स्नेहविरेचनैश्चैवोपक्रमेत् सर्वशो गुल्मवच्चेति ।।

(च.सू. १७ /१०३)

- त्रिदोषज विद्रधि का और बस्ति, हृदय, नाभि इन स्थानों में उत्पन्न विद्रधि का पाक होकर भेद कोष्ठ में अभ्यन्तरतः और त्वचा की ओर बाह्यतः हो जाय तो वह असाध्य हो जाती है ।
- अभ्यन्तरतः पाक होकर भेद हो जाने से पूय स्त्राव अगर मुखमार्ग से निकलता है तो वह विद्रधि असाध्य होती है ।
- कृश, क्षीण बलवान रुग्ण तथा उपद्रव युक्त विद्रधि भी असाध्य होती है ।
- चरकाचार्य ने विद्रधि के वेदना की तुलना सर्प दंश, शस्त्राघात, विद्युत दाह या अग्निदाह से उत्पन्न होने वाली वेदना से की है ।
- इस प्रकार की तीव्र वेदना विद्रधि में उत्पन्न होती है इसलिए जल्द से जल्द विद्रधि की चिकित्सा करने चाहिए ।

स्तन विद्रधि :-

एवेमेव स्तनसिरा विवृताः प्राप्य योषिताम् ।।

सूतानां गर्भिणीनां वा सम्भवेच्छ्वयथुर्घनः ।

स्तने सदुग्धेऽदुग्धे वा बाह्यविद्रधिलक्षणः ।।

नाडीनां सूक्ष्मवक्त्रात्कन्यानां न स जायते ।

(अ.हृ.नि.११/१९-२०)

- गर्भिणी या सुतिका अवस्था में विवृत्त दुग्धवाहिनी सिराओं में दोषों का स्थानसंश्रय होने से उत्पन्न हुए कठोर शोथ को स्तनविद्रधि कहते है।
- दूध विरहीत या दूधयुक्त स्तन में स्तन विद्रधि उत्पन्न होती है।
- इसके लक्षण बाह्य विद्रधि के समान होते है ।
- दुग्धवाहिनी सिराओं के मुख सुक्ष्म होने से (अविकसित) कन्याओं के स्तन में विद्रधि उत्पन्न नहीं होता है ।

तालु-विद्रधि :-

स्यात् तालुविद्रध्यपि दाहरागपाकान्वितस्तालुनि सा त्रिदोषात्।

(च .चि. १२ /७७)

- तीनों दोषों के प्रकोप से तालु में उत्पन्न शोथ को तालु विद्रधि कहते है।
- यह दाह, आरक्तता और पाक इन लक्षणों से युक्त होता है।

दंत विद्रधि :-

स्याद् दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे शोफः

कफाच्छोणितसञ्चयोत्थः ।।

(च .चि. १२ /७८)

- दंतमांस में कफ और रक्त के संचय होकर शोथ उत्पन्न होता है तो उसे दंत विद्रधि कहते है ।
- ये दो **स्थानिक विद्रधि** के प्रकार चरकाचार्य ने स्थानिक शोथ के अनुषंग से किए है ।

विद्रधि प्रकरण समाप्त

विस्फोट

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ. हृदय	मा. नि.
चि. १२	नि. १३		५३

विस्फोट के हेतू :-

कट्वम्ल तीक्ष्णोष्ण विदाहि रुक्ष क्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।
तथर्तुदोषेण विर्पुयेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ।।
त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदुष्य च ।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ।।

(मा. नि. ५३/ १-२)

- कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, रुक्ष एवं क्षार द्रव्यों का अतिसेवन करना ।
- अजीर्णाशन, अध्यशन करना, अताप सेवन करना ।
- शीत के बाद उष्ण का सेवन करना। (ऋतुदोष)
- ऋतु के विपरीत आचरण करना । (ऋतु-विपर्ययेण)

विस्फोट की सम्प्राप्ति

उपरोक्त कारणों से प्रकोपित तीनों दोष त्वचा के आश्रय से रक्त, मांस और अस्थि को दुषित करके ज्वर युक्त विस्फोट उत्पन्न करते है।

विस्फोट के लक्षण :-

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा पित्तरक्ततः ।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति ।।

(सु. नि. १३/१९) (मा. नि. ५३/३)

रक्त एवं पित्त की दुष्टि से ज्वर और अग्नि दग्ध के समान विस्फोट उत्पन्न होना ये विस्फोट के सामान्य लक्षण है । विस्फोट सार्वदैहिक त्वचा या स्थानिक त्वचा पर उत्पन्न हो सकते है।

विस्फोट के प्रकार :-

१. **वातज विस्फोट :-**

शिरोरुक् शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम् ।
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ।।

(मा. नि. ५३/ ४)

- वात दुष्टी से उत्पन्न विस्फोट का वर्ण काला होता है।
- इसमें तीव्र शिरःशूल, ज्वर और तृष्णा ये लक्षण उत्पन्न होते है।

२. **पित्तज विस्फोट :-**

ज्वर दाह रुजा स्राव पाक तृष्णाभिरन्वितम् ।
पीत लोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ।।

(मा. नि. ५३/ ५)

- पित्तज विस्फोट आरक्त वर्ण के होते है ।
- इनमें तीव्र वेदना रहती है और पाक होने से स्राव उत्पन्न होता है ।
- ये ज्वर, दाह, तृष्णा, इन लक्षणों से युक्त होते है।

३. **कफज विस्फोट :-**

छर्दरोचक जाड्यानि कण्डू काठिन्य पाण्डुताः ।
अवेदनश्चिरात् पाकी स विस्फोटः कफात्मकः ।।

(मा. नि. ५३/ ६)

- कफज विस्फोट गुरु, काठिन और श्वेत वर्ण के होते है ।
- इनमें कण्डु रहता है लेकिन शूल उत्पन्न नहीं होता ।
- इन विस्फोटों का पाक दीर्घ काल से होता है ।
- इनमें अरोचक तथा च्छर्दि ये कफज लक्षण उत्पन्न होते है।

४. **वातपित्तज विस्फोट :-**

वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।

(मा. नि. ५३/७)

- वातपित्तज विस्फोट में तीव्र वेदनाएँ होती है ।

५. **कफवातज विस्फोट :-**

कण्डू स्तैमित्य गुरुभिर्जानीयात् कफवातिकम् ।।

(मा. नि. ५३/ ७)

- कफवातज विस्फोट में गौरव, कण्डू और स्तैमित्य ये लक्षण होते है।

६. **कफपित्तज विस्फोट :-**

कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः ।

(मा. नि. ५३/८)

- कफपित्तज विस्फोट में कण्डू, दाह, ज्वर और छर्दि ये लक्षण होते है।

७. **सन्निपातज विस्फोट :-**

मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ।
दाह राग तृषा मोह च्छर्दि मूर्च्छा रुजा ज्वराः ।।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात् त्रिदोषजः ।।

(मा. नि. ५३/ ८-९)

- सन्निपातज विस्फोट आरक्तवर्ण के होते है ।
- ये मध्य में निम्न और अन्त में उन्नत, कठिन होते है ।
- इनमें दाह तथा वेदना उत्पन्न होती है।
- ये अल्प पाकवान होते है।
- इसमें ज्वर, तृष्णा, मोह, छर्दि, मुर्च्छा, प्रलाप, कंप और तन्द्रा ये सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते है।
- सन्निपातज विस्फोट असाध्य होता है।

८. **रक्तज विस्फोटः-**

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जा विद्रुमसन्निभाः ।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ।।
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।

(मा. नि. ५३/ १०-११)

- रक्तज विस्फोट का वर्ण गुंजा या विद्रुम (मूंगा) के सदृश आरक्त होता है ।
- इनमें पित्त और रक्त की दुष्टि होती है ।
- सेकडों सिद्धयोगो का प्रयोग करने पर भी ये असाध्य रहते है ।

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ।
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्यपद्रवः ।।

(मा. नि. ५३/ ११)

विस्फोट का साध्यासाध्यत्वः-

विस्फोटक का साध्यासाध्यत्व निम्न प्रकार से है ।

एकदोषज विस्फोट	साध्य
द्विदोषज	कष्टसाध्य
सन्निपातज तथा उपद्रव युक्त एवं रक्तज विस्फोट	असाध्य

विस्फोटक :-

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु स्फोटाः
सरागज्वरतर्षयुक्ताः ।।

(च .चि. १२ /९०)

ज्वर एवं तृष्णा इन लक्षणों से युक्त एवं सार्वदैहिक त्वचा पर आरक्तवर्ण के स्फोट उत्पन्न होना ये विस्फोटक के लक्षण चरकाचार्य ने स्थानिक शोथ के अनुषंग से किए है ।

विस्फोट प्रकरण समाप्त

व्रणशोथ

संदर्भः-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह	मा. नि.
	सू. १७	उ. त. २५	**उ. तं. २९**	४१

व्रणशोथ की व्याख्याः-

व्रणाय शोथः व्रणशोथः ।

उत्पन्न शोथ कुछ काल व्यतित होने के बाद जब पक्व होकर व्रण में परिवर्तित हो जाता है, तब उसे व्रणशोथ कहते है।

व्रणशोथ में व्रण का अन्तर्भाव होने के कारण व्रण की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। यह व्याख्या निम्न प्रकार से है ।

व्रण गात्रविचुर्णने ।

शरीर अवयव में (बाह्य अथवा अभ्यन्तर त्वचा में) विदारण (विभक्त होना) उत्पत्ति होने को व्रण कहते है ।

यावदायुर्वृणीते विवृणोति वा शरीरमति व्रणः ।

(अ. सं. उ. २९/२)

त्वचा पर व्रण होने के उपरांत उसका संधान होकर शेष रहने वाले चिह्न को व्रण कहते है।

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयस्तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंङ्घातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते।। (सु. सू.१७/३)

शोथ के हेतु और लक्षण के समान अनेक विकार है, जैसे- ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी आदि । इन सभी विकारों में त्वचा तथा मांस के आश्रय से उत्पन्न हुए शोथ का आकार पृथु (फैला हुआ), उन्नत (उभारयुक्त), ग्रथित (निबीड़), सम अथवा विषम होता है ।

प्रायः तीनों दोषों के संघात से शरीर के किसी भी स्थान में उत्सेध या उभार उत्पन्न होने को शोफ (व्रणशोथ) कहते है।

व्रणशोथ के प्रकारः-

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम् ।
षड्विधः स्यात्र पृथक्-सर्वरक्तागन्तुनिमित्तजः ।।
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुकगुक्तैः शोथलक्षणेः ।
विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ।।

(मा. नि. अ.४१/१-२)

स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमितः ।

(सु.सू. अ.१७/४)

व्रणशोथ के छः प्रकार होते है ।

१)वातज	२)पित्तज	३)कफज
४)सन्निपातज	५)रक्तज	६)अभिघातज/ आगन्तुज

इन प्रकारों के लक्षण शोथ के समान ही होते है, ऐसा वाग्भटचार्य ने कहा है ।

सुश्रुताचार्य ने व्रणशोथ के निम्न प्रकार वर्णन किए है ।

तत्र वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति; पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्योषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति; श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः कठिनः स्निग्धाःशीतः मन्दानुसारी कण्डवादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति; सर्ववर्णवेदनः सन्निपातश्वयथुः; पित्तवत् शोणितजोऽतिकृष्णश्च आगन्तुर्लोहितावभासश्च ।।

(सु. सू. १७/४)

१)वातज व्रणशोथः-

- वातज व्रणशोथ अरुण-कृष्ण वर्ण का, परुष (खुरदरा), और मृदु होता है ।
- इसमें उत्पन्न तोद, भेद जैसी वेदनाओं में अनवस्थित (कम-जादा या चल अर्थात एक जगह न रुकने वाली) रहती है ।

२)पित्तज व्रणशोथः-

- पित्तज व्रणशोथ पित-आरक्त वर्ण का तथा मृदु होता है।
- यह शीघ्रता से फैलता है ।
- इसमें ओष, चोष, दाह आदि पित्तज वेदनाएँ होती है ।

३)कफज व्रणशोथः-

- कफज व्रणशोथ श्वेत वर्ण का, स्निग्ध और आकार में बड़ा होता है ।
- यह स्पर्श से कठिन और शीत होता है ।
- इसमें वेदनाएँ मन्द स्वरुप की रहती है और वह धीरे-धीरे बढ़ता है ।

४)सन्निपातज व्रणशोथ:-

- सन्निपातज व्रणशोथ में सभी दोषों के संमिश्र लक्षण उत्पन्न होते है।

५)रक्तज व्रणशोथ:-

- रक्तज व्रणशोथ में त्वचा का वर्ण अधिक काला हो जाता है।
- बाकी लक्षण पित्तज व्रणशोथ के समान होते है ।

६)आगन्तुज व्रणशोथ:-

- आगन्तुज व्रणशोथ पित्तज और रक्तज व्रणशोथ के समान होता है परंतु इसमें उत्पन्न वर्ण में लालवर्ण की आभा रहती है ।

व्रणशोथ का पाक कालः-

विषमं पच्यते वातात्, पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् ।
कफजः, पित्तवच्छोथो रक्तान्तुसमुद्भवः ।।

- वातज व्रणशोथ में पाक कभी जल्द या कभी विलम्ब (विषम गति) से होता है।
- पित्तज व्रणशोथ में शीघ्र गति से तथा कफज व्रणशोथ में मन्द गति से पाक होता है।
- रक्तज और आगन्तुज व्रणशोथ में पाक पित्तज व्रणशोथ के समान शीघ्र गति से होता है।

व्रणशोथ की आमावस्था के लक्षण :-

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैतच्छोनामामलक्षणम् ।।

(मा. नि. अ.४१/४)

व्रणशोथ की आमावस्था में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- मन्द उष्णता की अनुभूति होती है ।
- शोथ अल्प प्रमाण में उत्पन्न होता है ।
- व्रणशोथ का स्थान कठिन और मन्द वेदनायुक्त रहता है ।

व्रणशोथ की पच्यमानावस्था के लक्षण :-

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ।।
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सुचीभिरिव तुद्यते ।।
सोषाचोषो विवर्णः स्याद्ङ्गुल्येवावघट्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ।।
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातबस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ।।

(मा. नि. ४१/५-८)

आमावस्था के बाद, व्रण में पच्यमानावस्था उत्पन्न होने लगती है। इस अवस्था में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- अग्निदहन वत, क्षारदग्ध वत, चिंटियों के काटने के समान, अंगुली से रगड़ने जाने जैसी, या शस्त्र से काँटने या चिरने के समान वेदना उत्पन्न होती है ।
- ओष (दाह) तथा चोष (पास में रखी आग के तपन से होने वाली पीडा के समान) उत्पन्न होता है ।
- स्थानिक त्वचा में वैवर्ण्य उत्पन्न होता है ।
- अत्यंत तीव्र वेदना होने से शयन या आसन की स्थिती में भी वेदनाएँ कम नहीं होती ।
- इसमें वेदना का स्वरुप बिच्छु काटने जैसा होता है ।
- व्रणशोथ आकार संपुर्ण भरे हुए मूत्राशय के समान दिखता है।
- सार्वदैहिक स्वरुप में ज्वर, तृष्णा, अरुचि, ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

व्रणशोथ की पक्वावस्था के लक्षण :-

वेदनापशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ।।
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।
बस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गलिपीडिते ।।
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ।।

(मा. नि. ४१/९-११)

- व्रणशोथ की पक्वावस्था में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।
- पच्यमानावस्था में उत्पन्न हुई वेदनायें धीरे-धीरे शान्त होने लगती है ।
- त्वचा की आरक्तता कम होने लगती होती है ।
- व्रणशोथ का आकार कम होकर उसमें वलि प्रादुर्भाव होने लगता है ।
- सुचितोद वत वेदना एवं बार-बार कण्डु उत्पन्न होने लगती है।
- व्रणशोथ को दबाने पर पूयस्त्राव निकलने लगता है ।
- शोथ को एक ओर दबाने से दूसरी ओर तक पूय का दबाव

पड़ने (Fluctuation test) लगता है ।

- जाठराग्नि प्रदिप्त होने से भोजन करने की प्रबल लालसा उत्पन्न होती है ।

नर्तेऽनिलाद्रुङ्ग विना च पित्तं पाकः, कफं चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः ।।
(सु. सू. १७/८)

व्रणशोथ के परिपाक काल में तीनों दोष अपना-अपना प्रभाव दिखता है । वात दोष के कारण वेदना, पित्त से पाक और कफ के कारण पूयोत्पत्ति होती है । इस तरह व्रणशोथ त्रिदोषज होता है ।

वात	वेदनाजनक
पित्त	पाककर
कफ	पूयजनक

कक्षं समासाद्य यथैव बह्विर्वाय्यीरितः संदहति प्रसह्य ।
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ।।
(सु. सू. १७/१७)

घास के ढ़ेर के अंदर की हवा जिस तरह आग को प्रदिप्त करके ढ़ेर को जलाते रहती है, उसी तरह व्रणशोथ के अभ्यन्तर उत्पन्न हुए पूय द्वारा मांस, सिरा, कण्डरा एवं स्नायु का भक्षण होते रहता है ।

वाग्भटाचार्य ने व्रणविज्ञान प्रतिषेध नामका अध्याय में व्रण का वर्णन निम्न तरह से किया गया है ।

व्रणो द्विधा निजागन्तुदुष्टशुद्धविभेदतः ।
निजो दोषैः शरीरोत्थैरागन्तुर्बाह्यहेतुजः।।
दोषैरधिष्ठतो दुष्टः शुद्धस्तैरनधिष्ठतः।
(अ. हृ. उ. तं. २५/१)

व्रण के निम्न प्रकार वाग्भटाचार्यने किए है।

१) निजः-
शरीरस्थ वातादि दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुए व्रण को निजव्रण कहते है ।

२) आगन्तुज :-
आघातादि कारणों से उत्पन्न हुए व्रण को आगन्तुज व्रण कहते है ।

३) शुद्धः-
दोषों का अधिष्ठान जिनमें नहीं होता उन्हें व्रण शुद्ध कहते है।

४) दुष्टः-
दोषों के आश्रय से उत्पन्न होने वाले व्रण को दुष्टव्रण कहते है ।

दुष्ट व्रण के लक्षणः-

संवृतत्वं विवृतता काठिन्यं मृदुताऽति वा ।।
अत्युत्सन्नावसन्नत्वमत्यौष्णमतिशीतता ।
रक्तत्वं पाण्डुता कार्ष्ण्यं पूतिपूयपरिस्रुतिः ।।
पूतिमांससिरास्नायुच्छन्नतोत्सङ्गिताऽतिरुक् ।
संरम्भदाहश्वयथुकण्ड्वादिभिरुपतः ।
(अ. हृ. उ. तं. २५/२-४)

दुष्ट व्रण के लक्षण निम्न प्रकार से होते है ।

- इन व्रणों का मुख बंद (संवृत), या खुला रहता (विवृत) है।
- ये व्रण अति कठिन, अतिमृदु, उभार युक्त (अतिउत्सन्न) अथवा बहुत दबे हुए (अति अवसन्न) रहते है ।
- ये व्रण अतिउष्ण या अतिशीत रहते है ।
- इन व्रणों का वर्ण लाल, श्वेत या काल होता है ।
- ये सड़े हुए पूयस्त्राव युक्त, सड़े मांस, सिरा, स्नायु से युक्त होते है ।
- इन व्रणों में अवकाश (उत्संगित) उत्पन्न होता है ।
- इसमें वेदनाऐं तीव्र स्वरुप की रहती है ।
- इसमें आरक्त वर्ण के सिराजाल (संरम्भ) उत्पन्न होते है ।
- दुष्ट व्रण दाह, शोथ, कण्डु आदि लक्षणों से युक्त और चिरकालानुबंधी रहता है ।

दुष्टव्रण के प्रकारः-

स पञ्चदशधा दोषैः सरक्तैः...। (अ. हृ. उ. तं. २५/२-४)

दुष्टव्रण के पन्द्रह प्रकार होते है ।

१)वातज	८)वात-रक्तज
२)पित्तज	९)पित्त-रक्तज
३)कफज	१०)कफ-रक्तज
४)सन्निपातज	११)सन्निपातज-रक्तज
५)वात-पित्तज	१२)वात-पित्त-रक्तज
६)वात-कफज	१३)वात-कफ-रक्तज
७)कफ-पित्तज	१४)कफ-पित्त-रक्तज
	१५)रक्तज

१)वातज दुष्टव्रण :-

..तत्र मारुतात् ।।
श्यावः कृष्णोऽरुणो भस्मकपोतास्थिनिभोऽपि वा ।
मस्तुमांसपुलाकाम्बुतुल्यतन्वल्पसंस्रुतिः ।।
निर्मांसस्तोदभेदाढ्यो रुक्षश्चटचटायते ।
(अ. हृ. उ. तं. २५/६)

वातज दुष्टव्रण में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- वातज दुष्टव्रण श्याव, काला, अरुण या भस्म के वर्ण सदृश होता है । अथवा
- कबुतर के काले एवं सफेद मिश्र वर्ण सदृश होता है अथवा अस्थि के वर्ण समान सफेदी युक्त ऐसा होता है ।
- इस व्रण में उत्पन्न हुआ स्त्राव तनु और दही के पानी के समान या मांसधावन सदृश या चावल के धावन सदृश होता है ।
- व्रणस्थान के मांस का गलन होने से वहाँ मांस शेष नहीं रहता ।
- इसमें सुचितोद-भेद वत वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।
- त्वचा में रुक्षता उत्पन्न होने से खिंचाव जैसी संवेदना (चट-चटायते) होती है।

२) पित्तज दुष्टव्रण :-

पित्तेन क्षिप्रजः पीतो नीलः कपिलपिङ्गलः।।
मूत्रकिंशुकभस्माम्बुतैलाभोष्णबहुस्त्रुतिः ।
क्षारोक्षितक्षतसमव्यथो रागोष्मपाकवान् ।।

(अ. हृ. उ. तं. २५/७-८)

पित्तज दुष्टव्रण में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- तीव्र गति से व्रण का प्रसरण होकर उत्सेध उत्पन्न होता है ।
- इसका वर्ण पीला, नीला, कपिल (गाय के वर्ण सदृश), पिंगल (विविध वर्ण मिश्रित) होता है ।
- इसमें उत्पन्न होने वाला स्त्राव मूत्र के सदृश, टेसू के भस्म में मिले हुए पानी जैसा, तेल सदृश, स्पर्श में उष्ण और मात्रा में अधिक होता है ।
- यह व्रण उष्ण, आरक्त तथा पाक युक्त होता है ।

३) कफज दुष्टव्रण :-

कफेन पाण्डुः कण्डूमान् बहुश्वेतघनस्त्रुतिः ।
स्थूलौष्ठः कठिनः स्नायुसिराजालततोऽल्परुक् ।।

(अ. हृ. उ. तं. २५/९)

- कफज व्रण में श्वेत, कण्डु युक्त, कठिण और स्नायु-सिराजाल युक्त होता है ।
- इसके किनारे स्थुल (मोटे) होते है ।
- इसमें अल्प वेदना होती है ।

४) रक्तज दुष्टव्रण :-

प्रवालरक्तो रक्तेन सरक्तं पूयमुद्गिरेत् ।
वाजिस्थानसमो गन्धे युक्तो लिङ्गैश्च पैत्तिकैः ।।

(अ. हृ. उ. तं. २५/१०)

- रक्तज व्रण प्रवाल के सदृश लाल वर्ण का होता है ।
- पाक उत्पन्न होने का बाद इससे रक्तयुक्त स्त्राव उत्पन्न होता है ।
- इस स्त्राव की गंध घोड़े के मूत्र समान आती है।

५) संसर्गज व्रण के लक्षण :-

द्वाभ्यां त्रिभिश्च सर्वैश्च विद्याल्लक्षणसंङ्करात् ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/११)

- द्वंद्वज तथा सन्निपातज व्रण के लक्षण दोष प्राधान्यता के अनुसार उत्पन्न होते है ।

शुद्ध व्रण के लक्षण :-

जिह्वाप्रभो मृदुः श्लक्ष्णः श्यावौष्ठपिटिकः समः ।।
किञ्चिदुन्नतमध्यो वा व्रणः शुद्धोऽनुपद्रवः ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/११)

शुद्ध व्रण के निम्न लक्षण होते है ।

- व्रणरोपण होने के उपरांत व्रण का वर्ण जिह्वा सदृश लाल हो जाता है ।
- यह स्पर्श में मृदु, श्लक्ष्ण तथा किनारों में ओष्ठ सदृश श्याव वर्ण का होता है ।
- इसका मध्य भाग में उभार होता है ।
- यह उपद्रव विरहित होता है ।

दुःसाध्य व्रण के लक्षण :-

त्वगामिषसिरास्नायुसन्ध्यस्थीनि व्रणशय्याः ।
कोष्ठो मर्म च तान्यष्टौ दुःसाध्यान्युत्तरोत्तरम् ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/१२)

निम्न प्रकार के व्रण दु:साध्य होते है ।

- त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ तथा मर्म इन आठ स्थानों में उत्पन्न व्रण ।
- त्वचा-मांस-सिरा-स्नायु आदि क्रम से उत्तरोत्तर स्थान में उत्पन्न हुए व्रण ।

शय्याव्रण भी दु:साध्य होता है ।

सुखसाध्य व्रण के लक्षण :-

सुसाध्यः सत्वमांसाग्निवयोबलवति व्रणः ।।
वृत्तो दीर्घस्त्रिपुटकश्चतुरस्त्राकृतिश्च यः ।
तथा स्फिक्पायुमेढ्रौष्ठपृष्ठान्तर्वक्त्रगण्डगः ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/१३)

निम्न लक्षणों से युक्त व्रण सुखसाध्य होते है ।

- सत्व (मनोबल), मांस (शारीरिक), जठराग्नि अथवा वय इनके बलों से संपन्न होने पर उत्पन्न हुए व्रण ।
- गोलाकार, दीर्घ, त्रिकोनी आकार के व्रण ।

- स्फिक्, गुद, मूत्रमार्ग, ओष्ठ, मुख तथा कपोल इन स्थानों पर उत्पन्न हुए व्रण ।

कष्टसाध्य व्रण के लक्षण :-

कृच्छ्रसाध्योऽक्षिदशननासिकाऽपाङ्गनाभिषु ।
सेवनीजठरश्रोत्रपार्श्वकक्षास्तनेषु च ।।
फेनपूयानिलवहः शल्यवानुर्ध्वनिर्गमी ।
भगन्दरोऽन्तर्वदनस्तथा कट्यस्थिसंश्रितः ।।
कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिद्ध्यन्ति येषां च स्युर्व्रणे व्रणाः ।।

(अ. हृ. उ. तं. २५/१५-१७)

निम्न लक्षणों से युक्त व्रण कष्टसाध्य होते है ।

- नेत्र, नासिका, अपांग सन्धि, नाभि, सेवनी, उदर, कर्ण, पर्शूका, कक्षा तथा स्तन इन शरीर के स्थानों पर उत्पन्न व्रण।
- पूयस्त्राव युक्त, वायु तथा फेनिल स्त्राव युक्त, शल्य युक्त व्रण ।
- स्त्राव का बहाव बाह्य त्वचा की ओर रहने के बजाय अभ्यन्तरतः बहता हो ।
- कुष्ठ, मधूमेह, भगन्दर, विष आदि व्याधीयों से ग्रस्त रुग्ण में उत्पन्न हुए व्रण।
- व्रण के स्थान फिर से उत्पन्न हुए व्रण ।

असाध्य व्रण के लक्षण :-

नैव सिद्ध्यन्ति वीसर्पज्वरातीसारकासिनाम् ।
पिपासूनामनिद्राणां श्वासिनामविपाकिनाम् ।।
भिन्ने शिरःकपाले वा मस्तुलुङ्गस्य दर्शने ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/१८)

ज्वर, अतिसार, विसर्प, कास, तृष्णा, अनिद्रा, श्वास, अजीर्ण इन व्याधी से पिडीत व्यक्ति में उत्पन्न हुआ व्रण तथा शिर के कपालास्थि का भेद होकर मस्तुलुंग का अगर दर्शन होता है तो वह व्रण भी असाध्य होता है।

साध्य व्रण का असाध्य व्रण में परीवर्तन के कारण :-

स्नायुक्लेदात्सिराच्छेदाद्गाम्भीर्यात्कृमिभक्षणात् ।।
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात्सविषत्वादतर्कितात् ।
मिथ्याबन्धादतिस्नेहाद्रौक्ष्याद्रोमादिघट्टनात् ।।
क्षोभादशुद्धकोष्ठात्वात्सौहित्यादतिकर्शननात् ।
मद्यपानद्दिवास्वप्नाद्व्यवायाद्रात्रिजागरात् ।।
व्रणो मिथ्योपचाराच्च नैव साध्योऽपि सिध्यति ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/१९-२१)

निम्न कारणों से साध्य रहनेवाले व्रण भी संधान (रोहण) न होने से असाध्य हो जाता है ।

- स्नायु में क्लेद उत्पत्ति होना ।
- सिरा अथवा सिराओं का कट जाना ।
- गम्भीर धातुओं में व्रण स्थित होना ।
- क्रिमी द्वारा व्रणस्थान का भक्षण किया जाना ।
- अस्थिभंग होना, व्रण में शल्य का होना, ।
- विषज कारणों से व्रण का उत्पन्न होना ।
- व्रण के निदान में अनिश्चितता होना ।
- व्रणबंधन किया न होना ।
- व्रण के लेपन-स्नेहन आदि कर्मो का अधिक प्रमाण में प्रयोग किया जाना ।
- व्रणस्थान में रुक्षता आना ।
- व्रण स्थित रोमों का परस्पर रगड़ना ।
- चल (संधि) स्थानों पर (जैसे कूर्पर, जानु संधि की त्वचा में) उत्पन्न होना ।
- पक्वाशय में मल का संचित रहना ।
- अत्याधिक मात्रा में आहार सेवन करना ।
- बुभुक्षीत अवस्था में अत्याधिक कालावधी के लिए रहना ।
- अत्याधिक जागरण, मैथुन या मद्यपान करना ।
- व्रण के उपक्रम मिथ्या पद्धति से करना ।

व्रणरोपण होते समय के लक्षण :-

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ।।
स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहितीति तमादिशेत् ।

(अ. हृ. उ. तं. २५/२२)

- व्रण का अभ्यन्तर भाग कबुतर के वर्ण सदृश दिखलाई देता है ।
- क्लेद विरहित, स्थिर (न फैलनेवाला) और पपड़ी जैसे निकलना ये व्रण का प्ररोहण होने की अवस्था के लक्षण है ।

व्रणशोथ प्रकरण समाप्त

प्लीहा रोग

16

प्रकारः-

पंच गुल्मा इति वातपित्तकफसान्निपातशोणितजाः,
पंच प्लीहादोषा इति गुल्मैर्व्याख्याताः ।

(च .सु. १९ /४)

चरकाचार्य ने सूत्रस्थान के अष्टौदरीय अध्याय में प्लीहा रोग के पाँच प्रकार वर्णन किए है ।

१.	वातज
२.	पित्तज
३.	कफज
४.	सन्निपातज
५.	रक्तज

प्लीहा रोग की संप्राप्तिः-

वातः प्लीहानमूद्भूय कुपितो यस्य तिष्ठति ।
शनैः परितुदन् पार्श्व प्लीहा तस्याभिवर्धते ।।

(च. सु. १८ / २८)

प्रकोपित वात दोष प्लीहा की स्वस्थान से च्युत करता है । इसके परिणाम से वाम पार्श्व में धीरे-धीरे वेदना उत्पन्न होने लगती है और अन्ततः प्लीहा की वृद्धि होने लगती है, इसे प्लीहा रोग कहते है।

यह संम्प्राप्ति चरक ने स्थानिय शोथ के अनुषंग में त्रिशोथीय अध्याय में वर्णन की है। अतिकृशता के दोष में प्लीहावृद्धि का वर्णन किया है। संदर्भ **(च. सू. २१/१४)**

प्लीहा रोग प्रकरण समाप्त

ग्रन्थि

17

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
चि. १२	नि. ११	उ. तं. २९	१९

व्याख्या :-

स ग्रन्थिग्रथनात्स्मृतः ।

(अ. हृ. उ. २९ / १)

अंगैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात् ।

(च .चि. १२ / ७८)

शरीर के किसी अवयव में वातादि दोषों और रक्तादि दूष्यों के संमूर्च्छना से उत्पन्न हुए संगठ्न को ग्रन्थि कहते है ।

ग्रन्थि की सम्प्राप्ति :-

वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च ।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं कुर्वन्त्यो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ।।

(सु. नि. ११/३) (मा. नि. / गलगन्ड / १९)

कफप्रधानाः कुर्वन्ति मेदोमांसास्त्रगा मलाः ।
वृत्तोन्नतं यं श्वयथुं स ग्रन्थिग्रथनात्स्मृतः ।

(अ. हृ. उ. २९ / १)

कफ प्रधान वातादि दोष और मेद, मांस एवं रक्त ये सब एकत्रित होकर शरीर के किसी एक अवयव के स्थान में स्थिर हो जाते है। इसके परिणाम से उत्पन्न हुए गोलाकार एवं उन्नत शोथ को (ग्रथित होने के कारण) ग्रन्थि कहते है।

ग्रन्थि के प्रकार :-

दोषास्त्रमांसमेदोऽस्थिसिराव्रणभवा नव ।
ते .... ।। (अ. हृ. उ. २९ / २)

	सुश्रुत (५)	चरक (६)	वाग्भट (९)	
१)	वातज	वातज	वातज	७) रक्तज
२)	पित्तज	पित्तज	पित्तज	८) अस्थिज
३)	कफज	कफज	कफज	९) व्रणग्रन्थि
४)	मेदोज	मेदोज	मेदोज	
५)	सिराज	सिराज	सिराज	
६)	----	मांसज	मांसज	

ग्रन्थि प्रकार के अनुसार लक्षण:-

१) वातज ग्रन्थि:-

आयम्यते वृश्चति तुद्यते च प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च ।
कृष्णो मृदुर्बस्तिरिवाततश्च स्त्रवेच्चानिलजोऽस्त्रमच्छम् ।।

(सु. नि. ११/ ४)

.... तत्र वातादायामतोदभेदान्वितोऽसितः ।।
स्थानात्स्थानान्तरगतिरकस्माद्धानिवृद्धिमान् ।
मृदुर्बस्तिरिवानद्धो विभिन्नोऽच्छं स्त्रवत्यसृक् ।।

(अ. हृ. उ. २९ /२-३)

- वातज ग्रन्थि में तणाव पैदा होता है ।
- इसमें तोद और भेदवत वेदना उत्पन्न होती है।
- यह असित (कृष्ण) वर्ण की तथा अकारण चलायमान (एक स्थान से दुसरे स्थान तक उत्पन्न होनेवाली) होती है ।
- इसके आकार में अकारण वृद्धी एवं ऱ्हास होता है।
- यह बस्ति जैसी मृदु रहती है।
- इसका दारण होने पर इससे स्वच्छ रक्त का स्त्राव बहने लगता है ।

२) पित्तज ग्रन्थि:-

दन्दह्यते धुप्यति वृश्च्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद् स्त्रवेदुष्णप्रतीव चास्त्रम् ।।

(सु. नि. ११/ ५)

पित्तात्सदाहः पीताभो रक्तो वा, पच्यते द्रुतम् ।
भिन्नोऽस्त्रमुष्णं स्त्रवति .....।।

(अ. हृ. उ.२९ /४)

- पित्तज ग्रन्थि में दाह उत्पन्न होता है ।
- इसके अपक्वावस्था मे लाल वर्ण और पक्वावस्था में पीतवर्ण पैदा होता है।
- इसका शीघ्रता से पाक होता है तथा इससे निरंतर उष्ण रक्तस्त्राव होते रहता है ।

३) कफज ग्रन्थि :-

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः पाषाणवत् संहननोपन्नः ।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपात् भिन्नः स्त्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ।।
(सु. नि. ११/ ६)

...........श्लेष्मणा नीरुजो घनः ।।
शीतः सवर्णः कण्डूमान्, पक्वः पूयं स्त्रवेद्धनम् ।
(अ. हृ. उ.२९ / ५)

- कफज ग्रन्थि वेदना विरहित होती है ।
- यह स्पर्श से शीत और कठिन होती है।
- त्वचा के वर्ण सदृश्य एवं कण्डुयुक्त होती है ।
- पक्व हो जाने के बाद इससे पूयस्त्राव बहने लगता है।

४) मेदोज ग्रन्थि :-

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो मान् कण्डुयुतोऽरुजश्च ।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्नपिण्याकसर्पिः प्रतिमं तु मेदः ।।
(सु. नि. ११/ ७)

प्रवृद्धं मेदुरैर्मेदो नीतं मांसेऽथवा त्वचि ।।
वायुना करुते ग्रन्थिं भृशं स्निग्धं मृदु चलम् ।
श्लेष्मतुल्याकृतिं देहक्षयवृद्धिक्षयोदयम् ।।
स विभिन्नो घनं मेदस्ताम्रासितसितं स्त्रवेत् ।
(अ. हृ. उ.२९ /७-९)

मेद प्रधान आहार का सेवन करने से शरीरस्थ मेद धातु की दुष्टि होती है। प्रकोपित वायु दुष्ट मेद को त्वचा एवं मांस में स्थानसंश्रित करके मेदज ग्रन्थि की उत्पत्ति करता है ।

- मेदज ग्रंथि मृदु और स्निग्ध होती है ।
- इसके लक्षण कफज ग्रन्थि के समान लक्षण होते है।
- अगर दुष्ट वात से उत्पन्न होती है तो वृद्धी एवं ह्रास युक्त और चल रहती है ।
- इसका वृद्धी या ह्रास शरीर के वृद्धी या ह्रास के उपर अवलंबीत रहता है।
- इस ग्रन्थि का भेद होने पर लाल, काला या सफेद वर्णयुक्त मेद धातु का स्त्राव बहने लगता है।

५) सिराज ग्रन्थिः-

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम् ।
संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ।।
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च ।
अरुक्स एवाप्य चलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ।।
(सु. नि. ११/ ८-९) मा. नि.

पदातेस्तु सहसाऽम्भोवगाहनात् ।
व्यायामाद्वा प्रतान्तस्य सिराजालं सशोणितम् ।।
वायुः सम्पीड्य सङ्कोच्य वक्रीकृत्य विशोष्य च ।
निःष्फुरं नीरुजं ग्रन्थिं कुरुते स सिराह्वय :।।
(अ. हृ. उ.२९ / १०-११)

- अतिचंक्रमण या अतिव्यायाम करने के बाद तुरंत प्लवन (तैरना) करने से प्रकोपित हुआ वात दोष, रक्तपूर्ण सिराजालों में स्थानसंश्रय करता है।
- संपुरित वायु से सिराजाल संकुचित, वक्र एवं शुष्क होने से सिराग्रन्थी उत्पन्न होती है।
- सिराग्रन्थि में स्पन्दन शक्ती और वेदना का अभाव रहता है।

६) मांसज ग्रन्थिः-

मांसलैदूषितं मांसमाहारैग्रन्थिमावहेत् ।
स्निग्धं महान्तं कठिनं सिरानद्धं कफाकृतिम् ।।
(अ. हृ. उ.२९ / ६)

- मांस धातु की दुष्टि करनेवाला मांसाहार के सेवन करने से मांसज ग्रन्थि उत्पन्न होती है।
- यह कठिन स्पर्श की, स्निग्ध, एवं सिराजाल से व्याप्त और आकर में बड़ी होती है।

७) रक्तज ग्रन्थि :-

दोषैदृष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु ।
सिरामांसं च संश्रित्य सस्वापः पित्तलक्षणः ।।
(अ.हृ. उ.२९/ ५)

- सिरा एवं मांस के आश्रय से प्रकुपित वातादि दोष रक्त को दुष्ट करके रक्तज ग्रन्थि उत्पन्न करते है।
- इसमें स्वाप (संवेदना हानि) उत्पन्न होता है ।
- इतर लक्षण पित्तज ग्रन्थि के समान होते है।

८) अस्थि जन्य ग्रन्थि :-

अस्थिभंगाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत् ।
सोऽस्थिग्रन्थिः ... ।। (अ. हृ .उ. २९/ ९)

- अस्थिभग्न अथवा अस्थि पर आघात होने से अस्थिगत उन्नत या अवनत स्वरुप की अस्थि ग्रन्थि निर्माण होती है ।

९) व्रणग्रन्थिः-

अरुढे रुढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिनः ।
सार्दे वा बंधरहिते गात्रेऽश्माभिहतेऽथवा ।।
वातोस्त्रमस्त्रुतं दुष्टं संशोष्य ग्रथितं व्रणम् ।
कुर्यात्सदाहः कण्डूमान व्रणग्रन्थिरयं स्मृतः ।।
(अ. हृ. उ. २९/ १२,१३)

- व्रण की रुढ़ावस्था में अथवा अरुढ़ावस्था में सभी रस प्रधान द्रव्यों का (हितकर-अहितकर आहार) सेवन करना।
- स्त्रावी व्रण का बंधन न करना ।
- शरीर पर अश्मादि कठोर वस्तु द्वारा आघात होने त्वचा के अभ्यन्तर ही रक्तस्त्राव होने से दुष्ट रक्त उस स्थान में रहने शुष्क होकर रह जाना है ।

उपरोक्त कारणों से त्वचा के अभ्यन्तर हुआ रक्तस्त्राव शुष्क होकर ग्रथित होने से व्रणज ग्रन्थि उत्पन्न होती है।

- इसमें दाह एवं कण्डु यह लक्षण रहते है।

ग्रन्थि के असाध्य लक्षणः-

विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च ।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बाल-स्थविराबलानाम् ।।

(च .चि. १२ /८६)

असाध्य ग्रंथि के निम्न लक्षण होते है ।

- कुक्षि, उदर, कण्ठ या गल और मर्म के आश्रय से ग्रंथि का उत्पन्न होना ।
- ग्रंथि आकार में बडी और स्पर्श से खर होना ।
- अबलवान व्यक्ति, वार्धक्यावस्था और बालकों में ग्रंथि उत्पन्न होना ।

ग्रन्थि प्रकरण समाप्त

19 अर्बुद

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
चि. १२	नि.११, चि. १८	उ.तं. २९	३८

अर्बुद की संप्राप्ति :-

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्छिता मांसमसृक् प्रदुष्य ।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महन्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ।।
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्सगन्धं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।
(सु. नि. ११/१२-१३)

समूर्च्छित (सन्निपात) वातादि दोष, शरीर के किसी भी स्थान में मांस धातु को दूषित करके गोलाकार, स्थिर, अल्प वेदनायुक्त, बड़े आकार का, गहन मूलवाला, धीरे-धीरे बढ़नेवाला, पाक रहित मांसोच्छ्रय (मांससमूह) उत्पन्न करते है । इस तरह से शरीर में उत्पन्न हुए बृहत्ताकार के संहनन युक्त उन्नत भाग को अर्बुद कहते है।

अर्बुद के प्रकार :-

.... महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम् ।
तल्लक्षणं च मेदोऽन्तैः षोढा दोषादिभिस्तु तत् ।
(अ. हृ .उ. तं. २९/ १४-१६)

अर्बुद के निम्न प्रकार ६ प्रकार होते है ।

१) वातज	२) पित्तज	३) कफज
४) रक्तज	५) मांसज	६) मेदोज

अर्बुद के पाक न होने के कारण :-

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु ।
दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ।।
(सु. नि. ११/२१)

प्रायो मेदः कफाढयत्वात्स्थित्वाच्च न पच्यते ।।
(अ. हृ .उ. तं. २९/ १४-१६)

- इनमें प्रायः मेद और कफ का प्राबल्य रहता है ।
- ये स्थिर (दोष-दूष्यों का संघात बनकर) रहते है ।
- ग्रथन अर्थात गढ़न युक्त होने के कारण इनका पाक नहीं होता ।

वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च ।
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि भवन्ति ।।
(सु. नि. ११/१४)

१)वातज, २) पित्तज, ३) कफज, और **४) मेदोज** अर्बुद के लक्षण तद् तद् ग्रन्थि के प्रकार के अनुसार होते है। इन ग्रन्थियों का वर्णन ग्रन्थि-प्रकरण में वर्णन किया है ।

४) रक्तज अर्बुद :-

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च संकुच्य संपिण्ड्य गतस्त्वपाकम् ।
सास्त्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मांसाकुरैराचितमासशुवृद्धम् ।।
करोत्यजस्त्रं रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद्रुधिकरात्मकं तु ।
रक्तक्षयोपद्रवपीडित्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।।
(सु. नि. ११/१५-१६) (मा. नि. / गलगण्ड)

सिरास्थं शोणितं दोषः सङ्कोच्यान्तः प्रपीड्य च ।
पाचयेत तदानद्धं सास्त्रावं मांसपिण्डितम् ।।
मांसाङ्कुरैश्चितं याति वृद्धिं चाशु स्त्रवेत्ततः ।
अजस्त्रं दुष्टरुधिरं भूरि तच्छोणितार्बुदम् ।।
(अ. हृ .उ. तं. २९/ १४-१६)

- रक्त तथा सिरा में प्रकोपित दोष से संकोच और पीडा के साथ अल्प प्रमाण में पाक होता है ।
- परिणाम स्वरुप वहाँ उन्नत तथा स्त्रावयुक्त मांसपिण्ड की उत्पत्ति होती है ।
- ये मांसपिण्ड मांसाकुर युक्त होते है तथा इनकी शीघ्र वृद्धि होती है ।
- इनसे दूषित रक्त का स्त्राव नित्य बहने लगता है ।
- अति प्रमाण में निरंतर रक्तस्त्राव हो जाने से पाण्डुरोग उपद्रव स्वरुप में उत्पन्न हो सकता है।
- रक्तार्बुद चिकित्सा के लिए असाध्य होते है ।

५) मांसार्बुद :-

मुष्टिप्रहारादिभितेंऽगे मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम् ।।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ।।
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं............।
(सु. नि. ११/१७-१९)

- मुष्टि (गुद्देबाजी) प्रहार आदि जैसे अभिघात से शरीर की मांसपेशीयाँ दुष्ट हो जाने से स्थानिक शोथ उत्पन्न होता है।
- यह शोथ पीडारहित, स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण का, पाकरहित, अश्मवत कठोर और स्थिर होता है।
- इस तरह दूष्ट हुए मांस धातु से मांस सेवन करनेवाले व्यक्तियों में यह मांसार्बुद उत्पन्न होता है ।
- मांसार्बुद असाध्य होते है।

शर्करार्बुद :-

प्राप्य मांससिरास्नायू: श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ।
ग्रन्थिं कुर्वन्ति भिन्नौऽसौ मधुसर्पिर्वसानिभम् ।।
स्रवत्यस्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः ।
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत् पनः ।।
दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ।
स्रवन्ति सहसा रक्तं तद्विद्याच्छर्करार्बुदम् ।।

(सु.नि. १३/२६-२९)

शर्करार्बुद में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- कफ, मेद तथा वात ये तीनों मिलकर मांस, सिरा और स्नायु इन तीनों में स्थानसंश्रय करके ग्रन्थि का निर्माण करते है ।
- इस ग्रन्थि का विदारण होने पर मधु, घृत तथा वसा सदृश अत्याधिक स्त्राव बहने लगता है ।
- अत्याधिक मात्रा में स्त्राव निकल जाने के बाद प्रबल हुए वायु से मांस का शोष होकर ग्रन्थिरुप शर्करा उत्पन्न होती है।
- इसके बाद सिराओं से दुर्गन्धयुक्त, क्लिन्न, और अनेक वर्ण का रक्तस्त्राव होने लगता है ।

अध्यर्बुद और द्व्यर्बुद और अर्बुद की असाध्यता :

.....साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्तु ।
सम्प्रस्तुतं मर्मणि यच्च जातं स्त्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ।।
यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदजैः ।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ।।

(सु. नि. ११/१९-२०)

- साध्य अर्बुद से स्त्राव उत्पन्न हो होने से, मर्मस्थानों में तथा स्त्रोतसों में स्थिर अर्बुद उत्पन्न होने से वे असाध्य हो जाते है।
- अर्बुद के उपर अर्बुद उत्पन्न होने को अध्यर्बुद कहते है ।
- एकसाथ अथवा क्रम से उत्पन्न हुए दो अर्बुदों को द्विरर्बुद कहते है ।
- अध्यर्बुद और द्विरर्बुद ये दोनों भी असाध्य होते है ।

अर्बुद का साध्यासाध्यत्व :-

तेष्वसृङ्मांसजे वर्ज्ये, चत्वार्यन्यानि साधयेत् ।

(अ. हृ .उ. तं. २९/ १७)

- वातज, २) पित्तज, ३) कफज, ४)रक्तज ये चार अर्बुद साध्य होते है ।
- मांसज तथा मेदोज अर्बुद असाध्य है।

साध्य	• वातज, पित्तज, कफज, रक्तज
असाध्य	• मांसज, मेदोज, अध्यर्बुद और द्विरर्बुद

अर्बुद प्रकरण समाप्त

अर्श

20

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	**अ.**हृदय	मा. नि.
चि. १४	नि. २	नि. ७	५

व्याख्या :-

अरिवत् प्राणान् श्रृणाति इति अर्शः।

शत्रु जिस तरह प्राणहरण करनेवाली पीडा देता है, उसी तरह की पीडा इस व्याधी से पीडित रुग्ण को होती है, इस लिए इसे अर्श कहते है।

- गुदस्थान में रक्त से सम्पुरित अथवा शुष्क स्वरुप के मांस के अंकुर उत्पन्न होते है ।
- इनके कारण गुदगत सतत पीडा होते रहती है।
- मलप्रवृत्ती के समय यह शूल अत्याधिक बढ़ जाती है।
- इसकी वेदना अतिव तीव्र होने से **"शत्रूने किए प्राण घातक हमले से उत्पन्न होने वाली वेदना"** ऐसी उपमा देकर अर्श की व्याख्या स्पष्ट की है ।
- उत्पन्न वेदना की तीव्रता के स्वरुप को स्पष्ट करने के लिए **अर्श** यह नाम दिया है ।

निरुक्ति :-

ऋ + असुन् + सुट् +अर्श

अर्शस् + अच् ।

अर्श व्याधि से ग्रस्त हो जाना ।

अर्शोभ्यो जठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युजायते ।।

(च. नि. ८/१३)

अर्शोऽतिसारग्रहणी विकाराः प्रायेण चान्योन्य निदानभूतः ।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते रक्षत्तदस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ।।

(अ. हृ. चि.८/१६४)

अर्श, उदर तथा गुल्म ये रोग एक-दूसरे के उत्पत्ति हेतू हो सकते है इसलिए इन्हें **उभयार्थकारी निदानार्थकर** रोग ऐसा चरकचार्य ने कहा है । इसी प्रकार की बात वाग्भटाचार्य ने अर्श, अतिसार और ग्रहणी इन तीन विकारों के बारे में कही है । अग्निमांद्य से प्रभावीत होकर अर्श, अतिसार और ग्रहणी ये तीन विकार उत्पन्न होते है । इन्हें अन्योन्य निदानभूत रोग कहा है । वे एक दूसरे के उत्पत्ति कारण बन सकते है । माधव निदान में भी अतिसार प्रकरण के बाद ग्रहणी तथा ग्रहणी के बाद अर्श इस क्रम से अध्याय की रचना करके इसको मान्यता दी है ।

अर्श के प्रकार :-

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च ।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये ।।
षडर्शासि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति ।।

(सु.नि. २/३)

संख्या संप्राप्ति में अर्श के निम्न **छः प्रकार** कहे है ।

१)वातज	२) पित्तज	३)कफज
४)सन्निपातज	५)रक्तज	६)सहज

अर्श का वर्गीकरण	
१) कालज	२) सहज
१) स्त्रावी	२) शुष्क
१) बाह्य	२) अभ्यन्तर
१)बीजवलि उपतप्त	i) मातृज
	ii) पितृज
२) पूर्वकृत कर्म	i) वातज
	ii) पित्तज
	iii) कफज
	vi) सन्निपातज
	v) रक्तज

द्विविध अर्श :-

इह खल्वग्निवेश द्विविधान्यर्शांसिकानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि ।
तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम् ।

(च. चि. १४/ ४)

तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः- मातापित्रोरपचारः, पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम् ।
तत्र सहाजानि सह जातानि सह जातानि शरीरेण, अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ।।

(च. चि. १४/ ५)

- सहज और कालज इस प्रकार से अर्श के प्रमुख दो भेद होते है। गर्भावस्था में गुदवलि जिस बीजभाग से उत्पन्न होती है, वह भाग विकृत (उपतप्त) होने से अर्श उत्पन्न होता है।
- बीजवलि की उपतप्तता माता और पिता के अपचार और पूर्व जन्मकृत कर्म इन दोनों कारणों से होती है ।

अर्श शारीर अर्थात अर्श के स्थान :-

तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः तस्मिन् वलयस्तिंस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तर संभूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति चतुरङ्गुलायताः, सर्वास्तिर्यगेङ्गुलोच्छ्रिताः ।।

(सु.नि. २/५)

शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः ।
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः ।।

(सु.नि. २/६)

रोमान्तेभ्यो यवाधर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तिताः।
प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे ।।

(सु.नि. २/७)

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं - गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः क्षेत्रमिति; केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां-शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति । तदस्त्यधिमांसदेशतया,गुदवलिजानां त्वर्शासीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन् ।
सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च ।।

(च. चि. १४/ ६)

गुदस्थान में तीन वलियाँ होती है –

१) प्रवाहणी	२) विसर्जनी	३) संवरणी

इन तीनों वलीयों के आश्रय से अर्श उत्पन्न होता है । मेद, मांस, त्वचा ये अर्श के अधिष्ठान है। गुद स्थान में उत्पन्न मांसाकुर को अर्श कहते है। गुद के शिवाय शरीर के इतर अवयवों में उदा. शिश्न, अपत्यपथ, गल, तालु, मुख, नासिका, कर्ण, अक्षिवर्त्म, और त्वचा इन स्थानों में उत्पन्न हुए मांसाकुर को **अधिमांस** कहते है।

अर्श का स्वरुप :-

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि, कानिचिन्महान्ति, कानिचिद्दीर्घाणि, कानिचिद्ध्रस्वानि, कानिचिद् वृत्तानि, कानिचिद् विषमविसृतानि, कानिचिदन्तःकुटिलानि, कानिचिद् बहिःकुटिलानि, कानिचिज्जटिलानि, कानिचिदन्तर्मुखानि, यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि ।।

(च. चि. १४/ ७)

अर्श विविध आकार में उत्पन्न होते है। अणु (छोटे) महत् (मोटे), दीर्घ (लंबे), ह्रस्व (बौने), वृत्त (गोल) और विषम आदि आकार के अर्श उत्पन्न होते है। अभ्यन्तरतः या बाह्यतः झुके हुए, अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होते है। दोष प्रबलता के अनुसार इनमें वर्ण उत्पन्न होता है। जैसे पित्त दोष से पीत-हरित-हारिद्र आदि, कफ से श्वेत वायु से श्याव-अरुण वर्ण उत्पन्न होना ।

अर्श के हेतू :-

गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्य भोजनादगव्यमात्स्यवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशसुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरदधिमण्डतिलगुडविकृति सेवनात् माषयूषेक्षुरसपिण्याक पिण्डालिकशुष्कशाकशुक्त लशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूकक्रौञ्चादन कशेरुकशृङ्गाटकतरुटविरुढनवशूकशमीधान्याम मूलकोपयोगाद्गुरुफलशाकरागहरितकमर्दकवसाशिरस्पदपर्युषित पूतिशीतसङ्कीर्णान्नाभ्यवहारान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद् व्यापन्न गुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्बस्तिकर्म विभ्रमादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासनस्थान सेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयोभवत्यतिमात्रं, तथोत्कटविषम कठिनासनसेवनात् उद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्बस्ति-नेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्टतृणादिघर्षणात् प्रततातिनिर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगनिग्रहात् स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशादगर्भोत्पीडनाद्विषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाद्यत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ।।

(च. चि. १४/ ९)

तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाधआयशन स्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासन पृष्ठयानवेगविधारणादिभि र्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदुष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहञ्जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा

तृणकाष्ठोपललोपष्ठवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ।।

(सु.नि. २/४)

अर्शोत्पत्ति के निम्न कारण होते है ।

- गुरु, मधुर, शीत, अभिष्यंदि, विदाहि द्रव्यों का सेवन करना।
- विरुद्धशन, अजीर्णाशन, प्रमिताशन, असात्म्य भोजन करना।
- गाय, मत्स्य, वराह (शुकर), भैंस, बकरी इन प्राणियों का मांस सेवन करना,
- कृश, शुष्क तथा पूय से दूष्ट हुआ मांसाहार सेवन करना।
- अतिपिष्टमय आहार का सेवन करना।
- दूध, चक्कादहि, तिल-गुड़ इनसे बनायें गये विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों का सेवन करना ।
- उड़द, गन्ने का रस, पिण्याक, पिण्ड़ालु, शुष्कशाक, शुक्त (अम्ल पदार्थ), लशुन, किलाट, मन्दक (अर्ध पक्व दही), तक्रपिण्ड, बिस, मृणाल, शालूक, क्रौञ्चादन, कशेरुक, श्रृङ्गाटक, तरुट, विरुढ-नव-शूक-शमी धान्य, अपक्वमूली इन द्रव्यों का सेवन करना।
- गुरु-फल, शाक, राग (रायता या आचार), हरितक (अदरख), मर्दक (कासमर्द) आदि का सेवन करना ।
- प्राणियों की वसा तथा शिरस्पद (बकरे के शिर तथा पैरों में स्थित मज्जा) का सेवन करना।
- पर्युषित, पूति, शीत तथा सङ्कीर्ण (अनेक प्रकार गुण या द्रव्यों का अन्न) अन्न का सेवन करना।
- अतिक्रान्त मद्य (ऐसा मद्य जो सड़ जाने से अपने गुणों को छोड देता है) का प्राशन करना।
- यापन्न (दुष्ट) तथा गुरु जलपान करना ।
- अतिस्नेहपान, पंचकर्म से संशोधन न करना या पंचकर्म/बस्तिकर्म का विभ्रम (हिन मिथ्या या अतियोग) होना।
- व्यायाम या व्यवाय न करना।
- अतिव्यवाय, दिवास्वाप करना।
- सुख-शयन-आसन-स्थान सेवन करना।
- अग्निमांद्य के कारण मलों का उपचय होना।
- उत्कट-विषम-कठिन-आसन में बैठे रहना ।
- उद्भ्रान्त यान अर्थात् मस्तवाल घोड़े (काबु में न आने वाले) की सवारी करना ।
- उँट के उपर सवारी करना ।
- बस्तिनेत्र को सम्यक् तरह से गुद में प्रविष्ठ न करना ।
- गुद में किसी भी कारण से क्षत होना ।
- गुद का शीत जल से प्रक्षालन करना अथवा वस्त्र, मिट्टी का ढेला, तृणादि से गुद का घर्षण करना ।
- सतत कास से पिड़ीत रहना ।
- मूत्र-पुरीष-वात इनका बलपूर्वक वेगोदीरण करना या इन वेगो का धारण करना ।
- स्त्रियों में आम-गर्भपात, गर्भोत्पीडन, विषमप्रसूति होना ।

इन कारणों से प्रकुपित अपान वायु से संचित मल का गुदवलि पर दबाव आने से अर्श उत्पन्न करता है।

अर्श की सम्प्राप्ति :-

व्याधी नाम	**अर्श**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	पाँचों प्रकार के वायु	पाचक	क्लेदक
दूष्य	मांस, रक्त, मेद		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	पुरीषवह स्त्रोतस		
स्त्रोतोदुष्टी	संग तथा सिराग्रन्थि		
ख वैगुण्य	गुद		
उद्भवस्थान	पक्वाशय		
अधिष्ठान	मांस, रक्त, मेद		
संचरण स्थान	पुरीषवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	गुदार्श		
भेद (५)	अ) शुष्क, स्त्रावी ब) सहज, उत्तरकालज क) वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	एक दोषज	
	कष्टसाध्य	द्वंद्वज, जीर्ण	
	याप्य	सन्निपातज	
	असाध्य	सर्वगुदवलीगत, उपद्रव युक्त	
	प्रत्याख्येय	अन्तर्वलीगत,	

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ।
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ।।

(च. चि. १४/ २४-२५)

दोषास्त्वङ्मांसमेदासि सन्दुष्य विविधाकृतिन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ।।

(अ.हृ. नि. ७/२)

अर्श व्याधी त्रिदोष दुष्टि से उत्पन्न होता है। वायु के प्राण, व्यान, उदान, समान और अपान इन पाँचो प्रकारों के दुषित होने से अर्श उत्पन्न होता है। प्रकोपित तीनों दोष तीनों गुदवलियों में स्थित त्वचा, मांस और मेद में स्थानसंश्रित करके अर्श रोग की उत्पत्ति करते है। यह रोग अत्यंत दुःखदायक होता है तथा अनेक व्याधीयों की उत्पत्ति करता है। सार्वदैहिक पिडा निर्माण करने के कारण यह कृच्छ्रतम होता है।

सर्वः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च ।
अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः ।
दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ।।

(च. चि. १४ / २३)

त्रिदोष की दुष्टि से अर्श उत्पन्न होते है लेकिन जिस दोष का प्राधानता रहती है उसी दोष के अनुसार नाम दिए गए है । उदा. वात दोष की अधिकता के कारण वातज अर्श ।

हेतू सेवन से त्रिदोष दुष्टि

वायु के पाँच प्रकार- प्राण, व्यान, उदान, समान और अपान इनकी दुष्टि

प्रकोपित त्रिदोष त्रयो गुदवलियों (प्रवाहनी, संवरणी एवं विसर्जनी) में स्थानसंश्रय

गुद स्थान के त्वचा, मांस तथा मेद धातु की दुष्टि

दुःखदायक और बहुव्याधीकर अर्श रोग की उत्पत्ति
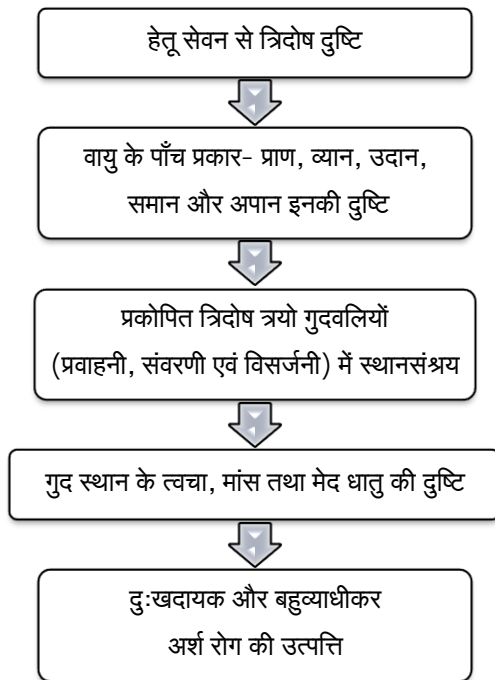
अर्श के आकार :-

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठकयवकलायपिण्डिटिण्टिकेरकेबुकतिन्दु कर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बीबदरकरीरिदुम्बरखर्जूरजाम्बवगोस्तनाङ्गुष्ठ कशेरुश्रृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्डजिह्वापद्ममुकुलमणिका संस्थानानि सामान्याद् वातपित्तकफप्रबलानि ।।

(च. चि. १४/ १०)

सर्षप (सरसों/मोहरी), मसूर, माष (उड़द), मुद्ग (मुंग), कुष्ठक, यव (जौ), कलाय, पिण्डि, टिण्टिकेर, केबुक, तिन्दु, कर्कन्धु, काकणन्तिका (गुंजा), बिम्बी, बदर (बेर), करीर, औदुम्बर, खर्जूर, जम्बु, गोस्तन, आंगुष्ठ, कशेरुक, श्रृङ्गी, दक्षशिखि, शुकतुण्ड, जिह्वा, पद्म मुकुलमणिका आदि के आकार के सदृश अर्श उत्पन्न होते है। प्रायः अर्श रोग त्रिदोषज होता है ।

अर्श के पूर्वरुप :-

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ।।
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरुपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ।।

(च. चि. १४/ २१-२२)

तेषां तु भविष्यतां पूर्वरुपाणि -अन्नऽश्रद्धा कृच्छ्रात् पक्तिरम्लिका परिदाहो विष्टम्भः पिपासासक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गार बाहुल्यमक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकुजनं गुदपरिकर्तनमाशङ्का पाण्डुरोगग्रहणीदोषशोषाणां कासश्वासौ बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च ।।

(सु.नि. २/८)

अर्श व्याधी में निम्न पूर्वरुप उत्पन्न होते है ।

- उदर में वातसंचिती के कारण आटोप, अन्त्रकुंजन, उद्गार बाहुल्य उत्पन्न होता है।
- अग्निमांद्य के कारण अनन्नाभिलाषा, अम्लिका, परिदाह, तृष्णा ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- उदर में संचित वात के रुक्ष गुण से मलावष्टम्भ और अल्प मल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।
- प्रकोपित वायु के कारण गुदपरिकर्तिनवत वेदना, कार्श्य, दौर्बल्य, बलहानि सक्थिसाद, कास, श्वास एवं शोष ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- भ्रम, तन्द्रा, अतिनिद्रा, इन्द्रियदौर्बल्य ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- ग्रहणी, पाण्डु या उदर व्याधी उत्पन्न हुए है, ऐसी शंका बनी रहती है।

अर्श के सामान्य लक्षण :-

जातेष्वेतान्येव लक्षणानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति ।।

(सु.नि. २/९)

उपरोक्त पुर्वरुप में वर्णन किए हुए लक्षण ही अधिक प्रमाण में रुपावस्था में व्यक्त होते है ।

वातज अर्श के हेतु :-

कषायकटुतिक्तानि रुक्षशीतलघूनि च ।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम् ।।
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।
शोफो वातातपस्पर्शो हेतूर्वातार्शसां मतः ।।

(च. चि. १४/ १२-१३)

निम्न हेतूओं से वातज अर्श उत्पन्न होता है ।

- कषाय, कटु, तिक्त, रुक्ष, शीत, लघू द्रव्यों का सेवन करना ।
- प्रमिताशन, अल्पाशन, लंघन करना ।
- तीक्ष्ण मद्यपान सेवन करना ।
- अति मैथुन करना ।
- शीत देश एवं शीत काल और शीत अन्न, पेय या विहार का सेवन करना ।
- अतिव्यायाम करना ।
- वायु और आतप सेवन करना ।
- शोथ व्याधी से पिड़ीत रहना ।

वातज अर्श :-

तेषामयं विशेषः- शुष्कम्लानकठिनपरुषरुक्षश्यावानि, तीक्ष्णाग्राणि, वक्राणि,स्फुटितमुखानि,विषमविसृतानि, शूलाक्षेपतोदस्फुरणचिमिचिमासंहर्षपरीतानि, स्निग्धोष्णोपशयानि, प्रवाहिकाध्मानशिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृदयग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रव प्रबलानि,प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि, ऊरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षि बस्तिशूलशिरोऽभितापक्षवथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायामशोष शोथमूर्च्छारोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघ ातकराणि, श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ।।

(च. चि. १४/ ११)

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः ।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ।।
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः ।
विम्बीखर्जूरकर्कन्धूकार्पासीफलसन्निभाः ।।
केचित् कदम्बपुष्पाभाः केचित् सिद्धार्थकोपमाः ।
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाद्यधिकव्यथाः ।
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदा ।
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ।।
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् ।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ।।
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते ।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासम्भवस्तत एव च ।।

(अ.हृ. नि. ७/२८-३३)

तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणविवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुकुलसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति, तैरुपद्रुतः सशूलं संहतमुपवेश्यते, कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना भवन्ति, गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ।।

(सु.नि. २/१०)

वातज अर्श का स्वरुप :-

- वातज अर्श शुष्क, म्लान, कठिन, परुष, रुक्ष तथा श्याव-अरुण वर्ण के होते है।
- इनका अग्रभाग तीक्ष्ण, वक्र, स्फुटितमुख का होता है।
- आकार में विषम, विसृत, सुचीमुखी, कदम्बपुष्प, तुण्डिकेरी, नाडीमुकुल, सिद्धार्थक, बिम्बी, खर्जूर, कर्कन्धू, कार्पासी के फल के सदृश होते है ।

वातज अर्श के लक्षण :-

वातज अर्श में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- ऊरु-कटी-पृष्ठ-त्रिक-पार्श्व-कुक्षि-बस्ति इन स्थानों में शूल या तोदवत्, स्फुरणवत् एवं चिमचिमायनवत् वेदना उत्पन्न होती है ।
- रोमहर्ष, प्रवाहिका, आध्मान, अरोचक, मुखवैरस्य, उद्गारबाहुल्य, तिमिरदर्शन, शङ्खशूल, स्वरोपघात, अंगमर्द और हृदयद्रव (हृदय की गति में अत्याधिक वृद्धि होना) आदि वातज वेदना उत्पन्न होती है ।
- नासा-कर्ण आदि स्थानों में कण्डू उत्पन्न होता है ।
- वातज अर्श में स्निग्ध तथा उष्ण उपचार करने से उपशय मिलता है ।
- वात-मूत्र-पुरिष इनकी बार-बार विबद्ध प्रवृत्ति होती है ।
- शिश्न, वृषण बस्ति, वंक्षण और हृदय इन अवयवों में ग्रह उत्पन्न होता है ।

- नख-नेत्र-मुख-त्वचा-मूत्र एवं पुरीष इनमें श्याव-अरुण वर्ण और परुषता प्राप्त होती है ।
- गुल्म, अष्ठीला, प्लीहा, उदर इन रोगों के होने की आक्षंका उत्पन्न होते रहती है ।
- शिरोऽभिताप, पक्षवध, प्रतिश्याय, कास, उदावर्त, शोष, शोथ, मूर्च्छा, ये व्याधी उपद्रव स्वरुप में उत्पन्न होते है।

पित्तज अर्श के हेतु:-

कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः ।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ।।
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्व पानान्नभेषजम् ।
पितोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ।।

(च. चि. १४/ १५-१६)

- पित्तज अर्श निम्न कारणों से उत्पन्न होता है ।
- कटु, अम्ल, लवण तथा उष्ण द्रव्यों का अत्याधिक प्रमाण में सेवन करना ।
- व्यायाम, अग्निसंपर्क तथा आतप सेवन अधिक प्रमाण में करना।
- उष्ण देश तथा काल का अधिक सेवन करना ।
- अत्याधिक क्रोध करना ।
- अत्याधिक मद्यपान करना ।
- विदाहि-उष्ण-तीक्ष्ण अन्न और द्रवपान करना।

पित्तज अर्श के लक्षण:-

मृदुशिथिलसुकुमाराण्यस्पर्शसहानि, रक्तपीतनीलकृष्णानि, स्वेदोपक्लेदबहुलानि, विस्त्रगन्धितनुपीतरक्तस्त्रावीणि, रुधिरवहानु, दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति शीतोपशयानि, सम्भिन्नपीतहरिवर्चांसि, पीतविस्त्रगन्धिप्रचुरविण्मूत्राणि, पिपासाज्वरतमक सम्मोहभोजनद्वेषकराणि पीतनखनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ।।

(च. चि. १४/ १४)

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः ।
तन्वस्त्रस्त्राविणो विस्त्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ।।
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छारुचि मोहदाः ।।
सोष्मणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः ।
यवमध्या सहारित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ।।

(अ.हृ. नि. ७/३४-३६)

पित्तान्नीलाग्रणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्र-सदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति, तैरुपद्रुतः सदाहः सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाह पिपासामूर्च्छाश्चास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ।।

(सु.नि. २/११)

पित्तज अर्श का स्वरुप :-

पित्तज अर्श का स्वरुप निम्न प्रकार से होता है ।

- पित्तज अर्श मृदु, शिथिल, सुकुमार होते है ।
- इनकों स्पर्श करने पर वेदना में वृद्धि हो जाती है । (स्पर्शासहत्व)
- ये रक्त, पीत, नील अथवा कृष्ण वर्ण के होते है ।
- क्लेदाधिक्य के कारण इनसे विस्त्रगन्धि, तनु और पीतवर्ण का या रक्त का स्त्राव उत्पन्न होता है ।
- पित्तज अर्श यवमध्याकार, शुकजिह्वा, यकृत्खंड के वर्ण समान, जलौका मुख के समान होते है।

पित्तज अर्श के लक्षण :-

पित्तज अर्श में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- पित्तज अर्श में दाह, कण्डू, निस्तोदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- पित्त के उष्ण-तीक्ष्ण गुण के कारण आशुकारी गति से इनका पाक होता है ।
- शीत आहार-विहार का सेवन करने से उपशय मिलता है ।
- विस्त्रगंध युक्त पीत-हरित वर्ण की द्रव मल और मूत्र प्रवृत्ति होती है ।
- स्वेदाधिक्य, तृष्णा, ज्वर, तमकश्वास, मोह, अन्नद्वेष, मूर्च्छा, अरुचि, ये सर्वादैहिक लक्षण उत्पन्न होते है।
- नख-नेत्र-मुख-त्वचा-मूत्र एवं पुरीष में हारिद्र या पीत वर्ण उत्पन्न होता है ।

कफज अर्श के हेतू:-

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरुणि च ।
अव्यायामो दिवास्वाप्नः शय्यासनसुखे रतिः ।
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् ।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ।।

(च. चि. १४/ १८-१९)

- मधुर, स्निग्ध, शीत, लवण, अम्ल, गुरु, अव्यायाम, दिवास्वाप, शय्यासन इन प्रकार के सुखों का उपभोग अत्याधिक प्रमाण में करना ।
- प्राग्वात (सुबह की हवा), शीत-देश और काल इनका सेवन

करना ।

- अचिंता आदि कारणों से कफज अर्श उत्पन्न होते है।

कफज अर्श :-

तत्र यानि प्रमाणवन्ति, उपचितानि, श्लक्ष्णानि, स्पर्शसहानि, स्निग्धश्वेतपाण्डु पिच्छिलानि, स्तब्धानि, गुरुणि, स्तिमितानि, सुप्तानि, स्थिरश्वयथूनि, कण्डूबहुलानि, बहुप्रततपिञ्जरश्वेतरक्तपिच्छास्त्रावाणि, गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि, रुक्षोष्णोपशयानि, प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहवन्ति, परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायौरवच्छर्दिमूत्र कृच्छ्रशोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियोपलेप आस्यमाधुर्यप्रमेहकराणि, दीर्घकालानुबन्धीनि, अतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराणि, आमविकारप्रबलानि, शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्।।

(च. चि. १४/ १७)

कफज अर्श का स्वरुप :-

- कफज अर्श का स्वरुप निम्न प्रकार से होता है ।
- कफज अर्श का मूल गम्भीर धातुओं में होता है ।
- घन (thicken), अल्प वेदना युक्त, शीत, उत्सन्न (Elevated), उपचित (indurated), वृत्त (round), तथा करीर, पनस बी एवं गोस्तनाकार (Elongated) आदि आकार के कफज अर्श होते है।
- कफज अर्श प्रमाणबद्ध, उपचित, श्लष्ण, स्पर्शसह (इन्हें स्पर्श करने से सुखानुलब्धि होती है।), स्निग्ध, श्वेत, पांडु, पिच्छिल, स्तब्ध, गुरु, स्तिमित, सुप्त, स्थिर स्वरुप के होते है ।
- इनमें शोथ उत्पन्न होता है तथा अत्याधिक प्रमाण में कण्डू रहता है ।
- कण्डू के उपरान्त इनसे अधिक मात्रा में रजकण (पित्र्जर) निकलते है और साथ-साथ श्वेत-रक्त-पिच्छिल स्त्राव निकलने लगता है।
- गुरु, पिच्छिल तथा श्वेतवर्ण की मूत्र और मल प्रवृत्ती होती है।
- रुक्ष और उष्ण गुण सेवन से उपशय मिलता है।

कफज अर्श के लक्षण :-

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः।
उत्सन्नोपचितस्निग्धस्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः ।।
पिच्छिालाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ।।
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्षिणः ।
सश्वासकासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ।।
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः ।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ।।
वसाभसकफप्रायपुरीषाः सप्रवाहिकाः।
न स्त्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डु स्निग्धत्वगादयः ।।

(अ.हृ. नि. ७/३७-४१)

श्लेषमजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनिकरीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि, न भिद्यन्ते न स्त्रवन्ति कण्डूबहूलानि च भवन्ति, तैरुपद्रुतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणिचास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ।।

(सु.नि. २/१२)

- कफज अर्श में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।
- कफज अर्श से प्रवाहिका, वंक्षण आनाह, परिकर्तिका, हृल्लास, ष्ठिवन, कास, अरोचक, प्रतिश्याय, शिरोगौरव, पीनस, च्छर्दि, मूत्रकृच्छ्र, शोष, शोथ, पाण्डुरोग, शीतज्वर, अश्मरी, हृदयोपलेप, इंद्रियोपलेप, मुखमाधुर्य, प्रमेह, क्लैब्य, तीव्र अग्निमांद्य और आमविकार पैदा होते है।
- नख-नेत्र-मुख-त्वचा-मूत्र एवं पुरीष श्वेत (वसाभ) वर्ण प्राप्त होता है ।
- सुश्रुतने इनमें भेद और स्त्राव नही होता ऐसा कहा है।

द्वन्द्वज अर्श :-

हेतु-लक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च ।

हेतूओं के गुणों के अनुसार तथा उत्पन्न हुए लक्षणों के अनुसार द्वंद्वज अर्श को जानना चाहिए।

अर्शसां लक्षणं व्यासादुक्तं सामान्यातस्तु यत् ।
तत्सर्वं प्राग्विनिर्दिष्टात्साधयेभिषजां वरः ।।
अर्शः सु दृश्यते रुपं यदा दोषद्वयस्य तु ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ।।

अर्श में दो दोषों के लक्षण एकत्रित उत्पन्न होते है तो उसे संसर्ग कहते है ।

स्वभावतः त्रिदोष के कारण उत्पन्न होने वाला संसर्ग तीन प्रकार का होता है, परंतु अर्श में यह संसर्ग रक्त के कारण छः प्रकार का होता है ।

१)वात-पित्तज	२)वात-कफज	३)पित्त-कफज
४)वात-रक्तज	५)कफ-रक्तज	६)पित्त-रक्तज

त्रिदोषज अर्श :-

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ।।

(च. चि. १४/२०)

- सान्निपातिक अर्श में तीनों दोषों के प्रकोप के हेतू होते है और तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण दिखलाई देते है ।

सहज अर्श के लक्षण :-

सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि ।।

(सु.नि. २/१४)

- सहज अर्श भी त्रिदोषज होते है।

सहज अर्श के लक्षण :-

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषःशर्कराश्मरीमान्, तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा अन्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुणतनुसान्द्रपिच्छिलकुणप गन्ध्यामपुरीषोवेशी, नाभिवस्तिवङ्क्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः, सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमेहप्रसक्त विष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेपः प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गारः, सदुर्बलः, सुदुर्बलाग्निः, अल्पशुक्रः, क्रोधनो, दुःखोपचारशीलः, कासश्वासतमकतृष्णाहृल्लासच्छर्द्यरोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीत :, तैमिरिकः, शिरःशूली, क्षामभिन्नसक्तजर्जरस्वरः कर्णरोगी, शूनपाणिपादवदनाक्षिकूटः, सज्वरः, साङ्गमर्दः, सर्वपर्वास्थिशूली च, अन्तराऽन्तरा पार्श्वकुक्षिबस्तिहृदयपृष्ठत्रिकग्रहोपतप्तः, प्रध्यानपरः, परमालसश्चेति; जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृत्तो मार्गोपरोधाद् वायुरपानःप्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्रलेष्माणौ च प्रकोपयति, एते सर्व एव प्रकुपिताः पञ्चवायवः पित्त पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्ति; इत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि ।।

(च. चि. १४/ ८)

सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यं, विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पांसूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधेनोऽल्पाग्निप्राणः परमालसश्च, तथा घ्राणशिरोऽक्षिनासाश्रवरोगी, सततमन्त्रकूजाटोप हृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते ।।(सु.नि. २/१५)

जन्मतः गुदगत उत्पन्न हुए अर्श से अवरोधजन्य प्रकोपित अपान वायु को प्रतिलोम गति प्राप्त होती है । अपान की प्रतिलोम गति से समान, व्यान, प्राण एवं उदान वायु और साथ-साथ पित्त एवं कफ ये दोनों दोष भी प्रकोपित हो जाता है । इस तरह, पाँचों वायु और कफ-पित्त दोषों के प्रकोप से सहज अर्श से पीड़ित रोगी में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- सहज अर्श दुष्ट शुक्र (पिता से) और शोणित (माता से) से उत्पन्न होते है ।
- सहज अर्श के रोगी जन्म से ही अत्यन्त कृश होते है।
- इन रोगीयों में विवर्णता (चेहरा फीका रहना), क्षामता (दुर्बल), दीनता (मनोदैन्य), रहती है।
- इन्हें हमेशा मलावष्टम्भ रहता है।
- वात, मूत्र तथा मल के अवरोध के कारण इन वेगों की प्रवृत्ति रुक्-रुक् कर होते रहती है ।
- इनके मूत्र से शर्करा निकलती है और अश्मरी रोग होता है।
- कभी पक्व, कभी आम या कभी द्रव या कभी शुष्क आदि विभिन्न स्वरुप में मल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- अनियमतता से श्वेत, हरा, पीला, लाल, अरुण, तनु, सान्द्र, पिच्छिल, कुणपगंधि तथा आम युक्त मल का त्याग रुग्ण करता है ।
- नाभि, वंक्षण तथा बस्ति इन स्थानों में तीव्र स्वरुप की कर्तनवत् वेदनाऐं उत्पन्न होती है।
- गुदशूल, प्रवाहिका, रोमहर्ष, प्रमेह, मलावष्टम्भ, आन्त्रकुंजन, उदावर्त आदि रोग/लक्षण उत्पन्न होते है ।
- कफ से हृदयोलेप एवं इन्द्रियोपलेप होता है ।
- तिक्त तथा अम्लोद्गार, तीव्र दौर्बल्य, तीव्र अग्निमांद्य, वीर्यहानि उत्पन्न होती है ।
- सतत व्याधीग्रस्त रहने से स्वभाव में क्रोध प्रचुर आने लगती है।
- रुग्ण हमेशा दुःखी, चिंताग्रस्त और आलसी रहने लगता है।
- अंगमर्द, पर्वसंधिशूल, अस्थिशूल, कास, श्वास, तमकश्वास, तृष्णा, हृल्लास, छर्दि, अरोचक, अविपाक, पीनस, क्षवथु, तिमिररोग, शिरःशूल, कर्णरोग, ज्वर, आदि रोग उत्पन्न होते है ।
- सक्त (रुक्-रुक् कर उत्पन्न होना), भिन्न (फुटा हुआ), सन्न (मन्दस्वरुप का), जर्जर (फटे हुए बांस को पीटने से उत्पन्न होने वाला) इस प्रकार का स्वर उत्पन्न होता है ।
- पार्श्व-कुक्षि-बस्ति- हृदय-पृष्ठ-त्रिक इन स्थानों में ग्रह उत्पन्न होने के कारण शूल से रोगी पीड़ित रहता है।

रक्तज अर्शः-

रक्तोल्बणा गुदेकीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः ।।
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्कप्रपीडिताः ।।
स्त्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः ।।
हीनवर्ण बलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः।

(अ.हृ. नि. ७/४३-४५)

रक्ताजानिन्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदाऽवगाढपुरीषपीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थ दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति, यस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोद्रवा भवन्ति ।। (सु.नि. २/१३)

- रक्तज अर्श से पीडित रोगी में पित्तज अर्श के समान लक्षण उत्पन्न होते है ।
- रक्तज अर्श वट-प्ररोह के सदृश लम्बे होते है ।
- इनका वर्ण गुंजाफल, विद्रुम के वर्ण समान होता है ।
- अत्याधिक कठिण मलावष्टम्भ हो जाने पर दुष्ट और उष्ण रक्त का अत्याधिक मात्रा में स्त्राव होता है ।
- अत्याधिक रक्तस्त्राव के कारण रुग्ण की त्वचा भेक्वर्ण (पाण्डू) की हो जाती है ।
- बल, ओज, उत्साह तथा वर्ण हानि होती है ।
- ज्ञानेंन्द्रिय के कर्म की हानि होती है ।
- रक्तज अर्श में मल प्रवृत्ती के समय रक्तस्त्राव होने के कारण रक्तक्षयजन्य लक्षण उत्पन्न होते है ।

रक्तज अर्श की दोषानुबन्ध :-

वातानुबंधी रक्तज अर्शः-

विट् श्यावं कठिनं रुक्षं चाधो वायुर्न वर्तते ।
तनु चारुणवर्ण च फेनिलं चासृगर्शसाम् ।।
कट्यूरुगुदशूलं दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ।
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतिर्यदि च रुक्षणम् ।।

(च. चि. १४/१७१-१७२)

चरकाचार्यने रक्तज अर्श में वातानुबंध निम्न तरह से कहा है।

- रुक्ष आहार-विहार का सेवन से वातानुबंधी रक्तज अर्श की उत्पत्ति होती है ।
- मल श्याव, कठीण, रुक्ष होता है।
- अधो वात की प्रवृत्ती नहीं होती ।
- रक्तस्त्राव फेनिल और अरुण वर्ण का होता है ।
- कटी,ऊरु, तथा गुद प्रदेश में वेदना होती है।
- रोगी दुर्बल हो जाता है ।

कफानुबंधी रक्तज अर्श :-

शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्ध गुरु शीतलम् ।
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम् ।।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ।।

(च. चि. १४/ १७३-१७४)

चरकाचार्यने रक्तज अर्श में कफानुबंधी अर्श के लक्षण निम्न तरह से दिये है ।

- कफानुबंधी रक्तार्श में मल श्वेत वर्णी स्निग्ध, शीत और गुरु रहता है ।
- इसमें तंतुल, घन तथा श्वेत वर्ण का रक्तस्त्राव होता है ।
- गुद स्थान को गिले कपडे से लिप्त किया है ऐसा चिपचिपापन उत्पन्न होता है ।
- गुदस्थान में गौरव और स्निग्धता रहती है।

रक्तार्श में उत्पन्न रक्तस्त्राव को रोकने से होनेवाले रोग :-

रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निसादमरोचकम् ।
कामला श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम् ।।
कण्डवरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं गदम् ।
वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम् ।।
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान् ।

(च. चि. १४/ १७८-१८०)

स्त्रावी रक्तार्श के रक्तस्त्राव को रोकने से रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, अग्निमांद्य, अरोचक, कामला, शोथ, शूल, गुद-वंक्षण शूल, कण्डु, कोठ, पांडु, पिटीका, कुष्ठ, शिरःशुल, स्तैमित्य, गुरुगात्रता, वायु-मूत्र-पुरीष विबन्ध आदि विकार उत्पन्न होते है।

अर्श का साध्यासाध्यत्व :-

त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत् ।
द्वन्दवजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च ।।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।
सन्निपातसमुत्थानि सहजानि तु वर्जयेत् ।।

(सु. नि. २४-२५)

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ।।
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्यर्गुदजातुरम् ।।
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ।।

(च. चि. १४ / २६-२८)

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां कलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।।
बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पातितानि च ।।

(च. चि. १४ / ३०-३१)

सुखसाध्यः-

निम्न लक्षण युक्त अर्श सुखसाध्य होते है ।

- एक दोषज ।
- बाह्य वलि (विसर्जनी) के आश्रय उत्पन्न हुआ ।
- जिसे उत्पन्न होकर अल्प काल व्यतित हो गया हो ।

याप्यः-

निम्न लक्षण युक्त अर्श याप्य होते है ।

- अल्प लक्षण युक्त ।
- त्रिदोषज अर्श ।
- द्वितीय वली में स्थित द्विदोषज अर्श ।

कष्टसाध्यः-

निम्न लक्षण युक्त अर्श कष्टसाध्य होते है ।

- अर्शांकुर द्वितीय वलि-संवरणी के आश्रय से उत्पन्न हुआ ।
- जिन्हें एक वर्ष से अधिक समय न हुआ हो ।

असाध्य :-

निम्न लक्षण युक्त अर्श असाध्य होते है ।

- त्रिदोषज तथा सहज अर्श
- अभ्यन्तर गुदवलि (प्रवाहिणी) में उत्पन्न अर्श ।
- हस्त-पाद, मुख, नाभि, गुद तथा वृषण इन स्थानों में शोथ, हृदय तथा पार्श्व में शूल, मूर्च्छा, छर्दि, अंगमर्द, ज्वर, तृष्णा और गुदपाक इन लक्षणों से युक्त अर्श रोगी के लिए घातक होता है ।

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमान्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्ने : प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ।।

(च. चि. १४ / २९)

- असाध्य लक्षणों से युक्त अर्श के रुग्ण की आयु अगर शेष हो ।
- अर्श से पीडित रुग्ण के अग्नि और शरीर का बल उत्तम हो।
- चिकित्सा चतुष्पाद संपन्न हो ।
- उपरोक्त स्थिती में पिडीत अर्श के रुग्ण योग्य चिकित्सा की जाय तो वह कुछ दिनों तक जीवित रह सकते है ।

अर्श का उपद्रव के अनुसार साध्यासाध्यत्व :-

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ।।
हृत्पार्शशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ।।

(च. चि. १४/ २६-२७)

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ।।

(सु. सू. ३३/ १०)

निम्न लक्षणों से युक्त अर्श मृत्यकारक होता है ।

- अर्श रोगी के हस्त, पाद, मुख, नाभि, गुद और वृषण इन स्थानों में शोथ उत्पन्न होना ।
- अति रक्तस्राव उत्पन्न होना।
- अरोचक, हृदय-पार्श्वशुल, मोह, छर्दि, ज्वर, तृष्णा, अतिसार, गुदपाक उत्पन्न होना।

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम् ।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम् ।।
अष्टोते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः ।

(सु. सू. ३३/ ४)

- वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ, और उदर इन आठ व्याधियों की गणना सुश्रुताचार्यने **महागद** में की है।
- स्वभावतः दुश्चिकित्स्य होने के कारण इन महागदों में अर्श का समावेश किया गया है ।

निम्न लक्षणों से युक्त महागद घातक होते है ।

प्राणमांसक्षयः शोषस्तृष्णा च्छर्दिर्ज्वरस्तथा ।।
अतीसारश्च मूर्च्छा च हिक्का श्वासस्तथैड़ च ।
एतैरुपद्रवैर्जुष्टान् सर्वानेव विवर्जयेत् ।।

(सु. सू. ३३/ ५-६)

- महागदों से पीडित व्यक्ति का प्राण एवं मांस का ह्रास होता है।
- शोष, तृष्णा, वमन, ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिक्का और श्वास इन उपद्रवों से युक्त होते है तो ऐसे सभी रोगियों का चिकित्सक ने परित्याग कर देना चाहिए।

इतर स्थानगत अर्श :-

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं,...। (अ. हृ. नि. ७/ ५६)

शिश्न, नासा, कर्ण आदि स्थानों में भी अर्श उत्पन्न होता है। जिस अवयव पर अर्श उत्पन्न होता है उसके नाम के अनुसार नाम दिया गया है, जैसे नासार्श, शिश्नार्श आदि ।

शिश्नार्श :-

प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदुष्य कण्डूं जनयन्ति, ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते

दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा, ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वं; ....।

(सु.नि. २/१७)

- प्रकोपित दोष पुरुष के जननेन्द्रिय में आश्रित होकर मांस और रक्त को दूषीत होने से शिश्नार्श उत्पन्न होते है ।
- इस दूष्टि से कण्डू उत्पन्न होता है ।
- खुजलाने से व्रण बन जाते है।
- इन व्रणों में दूषीत मांस से उत्पन्न प्ररोहों से चिपचिपे रक्त का स्राव उत्पन्न होता है ।
- ये मांसाकुर अभ्यन्तर या शिश्न के उपर उत्पन्न हुए होते है।
- इन अंकुरों से शिश्न नष्ट होने पर नपुंसकता आ जाती है ।

योन्यर्श :-

योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान्
पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयति,
ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्तवं च, ...। (सु.नि. २/१७)

प्रकोपित दोष योनि में आश्रित होकर कोमल, दुर्गंधित, पिच्छिल, रक्तस्रावी, छत्राकार अंकुर पैदा करते है। इन्हें योनिगत अर्श कहते है। ये योनि और आर्तव का नाश करते है।

नाभि अर्श :-

नाभिजानि च । गण्डूपदास्यरुपाणि पिच्छलानि मृदूनि च ।।

(अ. हृ. नि. ७/ ५६)

नाभिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान्
गण्डूपदमुखसदृशान् करीराञ्जनयन्ति, त ....।

(सु.नि. २/१७)

- नाभिज अर्श सुकुमार, दुर्गन्ध युक्त और पिच्छिल होते है ।
- ये गण्डूपद कृमि के सदृश होते है एवं इनके मुख के सदृश करीरों (Buds) को जन्म देते है ।

एवोर्ध्वमागताः श्रोताक्षिघ्राण- वदनेष्वर्शास्युपनिर्वर्तयन्ति; तत्र कर्णजेषु बाधिर्य शूलं पूतिकर्णता च, नेत्रजेषु वर्त्मावरपधो वेदना स्रावो दर्शननाशश्च घ्राणजेषू प्रतिश्ययोऽतिमात्रं क्षवथुःकृच्छ्रोच्छ्वासतापूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखं च वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालु नामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति ।।

(सु.नि. २/१७)

कर्ण-नेत्र नासा- मुख अर्श आदि स्थानों में भी अर्श उत्पन्न हो सकते है। इनके लक्षण निम्न प्रकार से है ।

अवयव	लक्षण
कर्ण	बाधिर्य, कर्णशूल और पूतिकर्ण
नेत्र	• नेत्र वर्त्मावरोध (आँखो की पलकें बंद या खोलनें में कठिनाई होना) • नेत्र शूल-स्राव • अंधत्व
नासा	• प्रतिश्याय, क्षयथु (छिंक आना), • श्वास कष्टता • शब्दोच्चारण विकृति • पूतिनस्य • अनुनासिक स्वर
अवयव	**लक्षण**
जिह्वा	• गद्‌गद • रस ज्ञान का अभाव
कण्ठ	• कण्ठगत रोग के लक्षण उत्पन्न होते है ।
ओष्ठ	• ओष्ठगत रोग के लक्षण उत्पन्न होते है ।
तालु	• तालु गत रोग के लक्षण उत्पन्न होते है ।

चर्मकील :-

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ।।

(अ. हृ. नि. ७/ ५७)

व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्यं बहिः स्थिराणि
कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते ।।

(सु.नि. २/१९)

प्रकोपित व्यान वायु कफ के साथ गुदौष्ठ के बाह्यतः कील सदृश स्थिर और खर स्पर्श के अंकुर की उत्पत्ति करता है जिन्हें चर्मकिल कहते है । डल्हण के अनुसार त्वचादि किसी भी स्थान पर चर्मकिल उत्पन्न हो सकता है ।

चर्मकील के लक्षण :-

तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते ।
श्लेष्मणा तु सवर्णत्वं ग्रन्थित्वं च विनिर्दिशेत् ।।
पित्तशोणितजं रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्लक्ष्णता तथा ।
समुदीर्णखरत्वं च चर्मकीलस्य लक्षणम् ।।

(सु.नि. २/२०-२१)

वातेन तोद पारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता ।

श्र्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सर्वणता ।।

(अ. हृ. नि. ७/ ५८)

दोषानुबन्ध के अनुसार लक्षण निम्न प्रकार से उत्पन्न होते है ।

१) वातः-

वात बहुल चर्मकील परुष, निस्तोद तथा सूचीतोदवत् वेदना युक्त होते है ।

२) कफः-

कफ प्रधान चर्मकील स्निग्ध होते है । कफ संचय के कारण इनमें ग्रथिलता उत्पन्न होती है । ये श्वेतवर्णी या त्वचा के वर्ण समान दिखाई देते है ।

३) पित्त एवं रक्तः-

पित्त एवं रक्त प्रधान चर्मकील कृष्ण वर्ण का, स्निग्ध तथा खर होता है।

अर्श चिकित्सा न करने से बद्धगुदोदर का निर्माण :-

अर्शसां प्रशमे यत्नमाशु कुर्वीत बुद्धिमान् ।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्यर्बद्धगुदोदरम् ।।

(अ. हृ. नि. ७/ ५९)

अर्श के कारण गुदस्थान में अवरोध उत्पन्न होकर बद्धगुदोदर उत्पन्न हो सकता है, इस लिए बुद्धिमान व्यक्ति ने अर्श शमन की चिकित्सा शीघ्रता से करने चाहिए ।

अर्श प्रकरण समाप्त

गलगण्ड़

21

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत
सू. १८, **चि. १२**	नि. ११

गलगण्ड़ की व्याख्या :-

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान्वा यदि वा ऱ्हस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ।।
(सु. नि. ११/२९) (मा. नि.)

महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम् ।
लम्बन्तं मुष्कवद् दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत् ।।
(भोज) (यो.र.)

- गल, हनु एवं मन्या इन स्थानों में फलकोष के समान लम्बा एवं लटकता हुआ शोथ जब उत्पन्न होता है तब उसे गलगण्ड कहते है।
- इसकी वृद्धि या ह्रास अनियमित स्वरुप में होते रहती है ।
- यह शोथ आकार में छोटा या बड़ा हो सकता है ।

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गन्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः ।
(च .चि. १२ /७९)

एक ही गण्ड़ जब उत्पन्न होता है तो उसे गलगण्ड़ कहते है और अनेक गण्ड़ उत्पन्न होते है तो उसे गण्ड़माला कहते है।

गलगण्ड़ के प्रकार :-

गलगण्ड़ के निम्न तीन प्रकार होते है ।

१)वातज	२) कफज	३) मेदोज

गलगण्ड़ की सम्प्राप्ति :-

वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ।।
(सु. नि. ११/२२) (मा. नि.)

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो गलबाह्येऽवतिष्ठते ।
शनैः संजनयेच्छोफं गलगण्डोऽस्य जायते ।।
(च. सू. १८/)

प्रकोपित वात, पित्त, कफ और दूष्ट मेद धातु ये सभी मन्या स्थान में

स्थानसंश्रय करके गले में धीरे-धीरे (शनैः शनैः) बढ़नेवाले गलगण्ड़ की उत्पत्ति करते है।

हिमवत्प्रभवाह्रद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान्।
(सु. सू. ४५/२१)

सश्रुताचार्य के अनुसार हिमालय से उगम होनेवाली नदियों के किनारे रहने वाले जनपदों में यह रोग पाया जाता है ।

गलगण्ड़ के प्रकारानुसार लक्षणः-

वातज गलगण्ड़ :-

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु ।
मेदोऽन्वितश्चोपचितश्च कालाद्भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च ।।
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित् ।।
वैरस्यमालस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ।
(सु. नि. ११/२३-२४) (मा. नि.)

- वातज गलगण्ड में तोदयुक्त वेदना रहती है।
- यह काले वर्ण की सिराओं से अनुबद्ध रहता है।
- यह कृष्ण और अरुण वर्ण का होता है ।
- कुछ कालावधी व्यतित होने के बाद यह मेद धातु से उपचित होकर अतिस्निग्ध, अल्प वेदना युक्त, कठोर स्पर्श काहो जाता है।
- यह देर से (धीरे-धीरे) बढ़नेवाला और प्रायः न पकनेवाला होता है।
- इसमें आस्यवैरस्य, गल तथा तालु शोष उत्पन्न होता है।

कफज गलगण्ड़ :-

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः महांश्चापि कफात्मकस्तु ।
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ।।
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ।
(सु. नि. ११/२६) (मा. नि.)

- कफज गलगण्ड स्थिर, गुरु एवं त्वचा के वर्ण समान होता है ।
- इसमें अत्याधिक कण्डु उत्पन्न होता है ।
- यह बड़े आकार का होता है और गल एवं तालु से लिप्त रहता है।

- चिरकाल से अर्थात धीमी गति से इसकी वृद्धि होते रहती है।
- इसका पाक दीर्घकाल से होता है अथवा कभी-कभी इसका पाक नहीं होता ।
- इसमें मंद वेदना रहती है।
- इसमें मुख का स्वाद मधुर उत्पन्न होता है।

मेदोज गलगण्ड़ :-

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च ।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरुपक्षयवृद्धि युक्तः ।।
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ।।

(सु. नि. ११/२६-२७) (मा. नि.)

- मेदोज गलगण्ड स्निग्ध, गुरु और सफेद वर्ण का होता है।
- इससे दुर्गंध आती है ।
- यह वेदना रहित, और अतिकण्डू युक्त होता है।
- यह मूल अल्प का तथा गले में अलाबु/ लौकी की तरह लटकता रहता है।
- इसकी ह्रास और वृद्धि शरीर के ह्रास और वृद्धि के अनुसार होती है।
- मुख स्निग्धता और गलेऽनुशब्दं अर्थात गले से घर्घर आवाज निकलते रहती है।

गलगण्ड़ का साध्यसाध्यत्व :-

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ।
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च ।।

(सु. नि. ११/२८) (मा. नि.)

साध्या स्मृताः
पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ।।

(च .चि. १२ /७९)

गलगण्ड रोग के असाध्य लक्षण निम्न प्रकार के होते है।

- एक साल से अधिक पुराना हुआ ।
- क्षीण बल, श्वासकष्टता, सर्वांग मृदुता, अरोचक और स्वरभंग इन लक्षणों से युक्त ।

गलगण्ड़ प्रकरण समाप्त

अपचि एवं गण्डमाला

22

संदर्भ:-

सुश्रुत	**अ.**हृदय	मा. नि.
नि. ११	**उ. २९**	३८

अपचि की व्याख्या एवं लक्षण:-

ते ग्रन्थय: केचिदवाप्तपाका: स्त्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ।
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञा: ।।

मा. नि .

हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसंधिमन्यागलेषूपचितं तु मेद: ।
ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति ।।
तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रै: मत्स्यांडजालप्रतिमैस्तथाऽन्यै: ।
अनन्यवर्णैरुपचीयमानं चयप्रकर्षादपची वदन्ति ।
कण्डूयुक्तास्तेल्परुज: प्रभिन्ना: स्त्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ।
मेद: कफाभ्यां खलु एषरोगा: सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी ।

(सु नि. ११/ १०, १२)

- हन्वस्थि, कक्षा, अक्षकास्थि एवं बाहु इन संधियों और मन्या एवं गल इन स्थानों में प्रकोपित हुआ कफ तथा दुष्ट मेद के कारण उत्पन्न हुई स्थिर, वृत्त तथा आयताकार और स्निग्ध ग्रंथी को अपचि कहते है।
- यह ग्रंथि आमलकी या मछली के अंडे के आकार की होती है ।
- यह त्वचा के वर्ण समान दिखती है तथा अन्य ग्रंथियों के साथ मिलकर इसकी वृद्धि होती है।
- इसमें अनेक ग्रंथियों का अधिक संख्या में एकत्रिकरण (संचय) होने से इसे अपचि कहा है ।
- इस ग्रंथि में अल्पवेदना तथा कण्डु उत्पन्न होता है ।
- इसमें से किसी एक ग्रंथि का भेद होकर उससे स्त्राव होकर बाद में वह नष्ट हो जाती है और फिर उसी स्थान पर नई ग्रंथि उत्पन्न होती है ।
- यह उत्पत्ति और नष्ट होने का क्रम अनेक वर्षो तक (दीर्घकाल) चलते रहता है, इस लिए इसे वर्षगणानुबंधी कहा है ।

अपचि का साध्यासाध्यत्व :-

साध्या: स्मृता: पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दीयुक्तास्त्वसाध्या:।।
तां त्यजेत्सज्वरच्छर्दिपार्श्वरुक्कासपीनसाम् ।

(अ. हृ उ. २९/ २६)

- मूलत: अपचि ग्रंथि रोग साध्य होता है ।
- पीनस, पार्श्वशूल, कास, ज्वर एवं छर्दी आदि उपद्रव से युक्त अपचि रोग असाध्य हो जाता है ।

गण्डमाला

गण्ड़माला की व्याख्या:-

मालास्तुल्य गण्डयोगात् गण्डमाला ।

एक दूसरे से सक्त होकर गण्ड जब माला में पिरोए मोती या फूलों के समान उत्पन्न होते है, तब उसे गण्डमाला कहते है।

गण्ड़माला की सम्प्राप्ति : -

कर्कन्धयकोलामलकप्रमाणै: कंक्षासमन्यागलवंक्षणेषु ।
मेद: कफाभ्यां चिरमन्दपाकै: स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डै: ।

मा. नि.

मेदस्था: कण्ठमन्याक्षावंक्षणगा मला: ।।
सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान् वार्ताकामलकाकृतीन् ।
अवगाढान् बहून् गण्डाश्चिरपाकाश्च कुर्वते ।।
पच्यन्तेऽल्परुजस्तेऽन्ये स्त्रवन्त्यन्येऽतिकण्डुरा: ।।
नश्यन्त्यन्ये भवन्त्यन्ये दीर्घकालानुबन्धिन: ।
गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक् ।।

(अ. हृ उ. २९/ २३-२५)

- **दुष्ट मेद एवं कफ से** कर्कन्धु, कोल (बेर), बैंगण या आमलकी (आँवला) के आकार की, गंभीर मूलवाली अनेक गाँठियाँ कक्षा, मन्या, अंस, गल, कण्ठ, वंक्षण आदि स्थानों में उत्पन्न होती है ।
- इनमें अल्प वेदना होती है।
- इनका वर्ण त्वचा के वर्ण समान होता है ।
- ये शरीर में चिरकाल के लिए रहती है ।
- इनका पाक धिरे-धिरे होता है या चिकित्सा करने के बाद ये पक्व हो जाती है।
- इनमें से कुछ एक गाँठियों में पाक हो जाता है तो इनमें से

स्राव निकल आता है और कण्डु निर्माण होता है।

- ये गाँठियाँ संख्या में अनेक होती है और फुलमाला के सदृश, एक दूसरे से ससक्त रहती है इस लिए इन्हें गण्डमाला कहते है।
- इनमें से कुछ एक गाँठियों नष्ट हो जाती है तो फिर से कुछ नई गाँठियों पैदा होती है।
- इस तरह गाँठियों का यह विकार दीर्घकालानुबंध के लिए शरीर में बना रहता है ।
- ये गाँठियाँ दुर्वा नामक तृण के समान नष्ट होकर फिर से उत्पन्न होते रहती है।
- अ. हृदयकार ने इसे गण्डमाला या अपची ऐसा कहा है।

अपचि एवं गण्डमाला प्रकरण समाप्त

अतिस्थौल्य

23

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	मा. नि.
सू. २१	सु. १५	३४

अष्टौ निंदित पुरुष :-

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा- अतिदीर्घश्च, अतिह्रस्वश्च, अतिलोमा च, अलोमा च, अतिकृष्णश्च, अतिगौरश्च, अतिस्थूलश्च, अतिकृशश्चेति ।।

(च. सू. २१/ ३)

१) अतिदीर्घ	२)अतिह्रस्व	३) अतिलोम	४)अलोम
५)अतिकृष्ण	६) अतिगौर	**७) अतिस्थूल**	८) अतिकृश

इन अष्टौ निंदित पुरुषों में अतिस्थौल्य की गणना की गयी है।

अतिस्थौल्य के हेतू :-

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च ।
तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापादयति;...।

(सु. सू. १५/ ३७)

तदतिस्थौल्यमतिसम्पूरणाद्गुरुमधुरशीत स्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नाद्धर्ष नित्यत्वादचिन्तनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायते।
अव्यायाम-दिवास्वप्न-श्लेष्मलाहारसेविनः ।
मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेत् ।।

(च. सू. २१/ ४-५)

निम्न हेतूओं के कारण अतिस्थौल्य उत्पन्न होता है ।

- स्निग्ध, शीत, गुरु आदि कफ वृद्धि करने वाले गुणों से युक्त आहार का सेवन करना ।
- अव्यायाम, दिवास्वाप, अतिनिद्रा, अव्यवाय, अचिंता, सतत आसनस्थ स्थिती में काम करना आदि प्रकार का विहार करना ।
- मधुर रस का नित्य सेवन करना । मधुर रस से प्रायः शरीर में स्नेह और मेद का वर्धन होता है ।
- बीज स्वभाव : माता या पिता अगर के बीजदुष्टि से अतिस्थौल्य उत्पन्न होता है ।

अतिस्थौल्य की सम्प्राप्ति :-

व्याधी नाम	मेदोरोग (अतिस्थौल्य)		
	अशांश संप्राप्ति		
दोष	वात	पित्त	कफ
	समान	पाचक	क्लेदक
दूष्य	मेदधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य, मेदधात्वाग्निमान्द्य		
दुष्ट स्त्रोतस	मेदवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग और विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	**आमाशय**		
उद्भवस्थान	आमाशय		
अधिष्ठान	उर, स्फिक्, स्तन, उदर स्फिक्		
संचरण स्थान	मेदवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	अतिस्थौल्य		
भेद	-		
स्वभाव	**चिरकारी तथा** दारुण		
साध्यासाध्यत्व	कष्टसाध्य		

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः ।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ।।

(च. सू. २१/६)

उपरोक्त हेतूओं के सेवन से प्रकोपित कफ से मेदवह स्त्रोतस में अवरोधजन्य संप्राप्ति उत्पन्न हो जाती है । इस अवरोध के कारण अन्य धातुओं का पोषण होता नहीं, सिर्फ मेद का संचय शरीर में होने लगता है और धिरे-धिरे अतिस्थौल्य उत्पन्न हो जाता है। अतिस्थुल व्यक्ति में मेद के अतिरिक्त इतर धातूओं के पोषण अभाव के चलते

दौर्बल्य उत्पन्न होता है। दौर्बल्य आने से रुग्ण सभी प्रकार के कर्म करने में असमर्थ बन जाता है ।
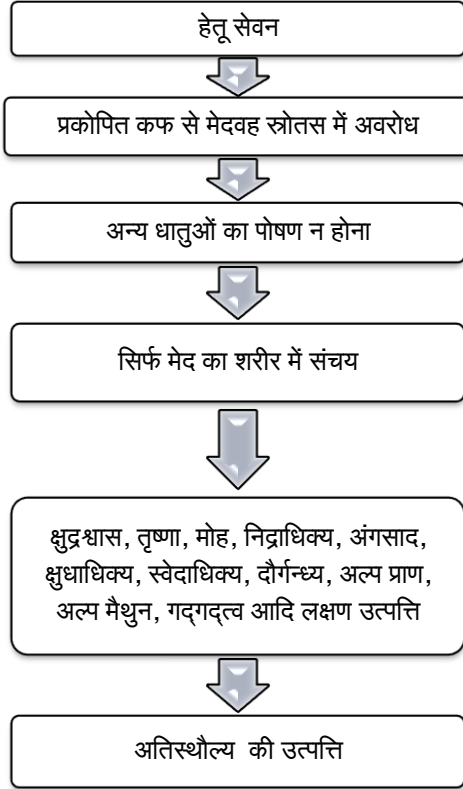
अतिस्थौल्य के लक्षण:-

क्षुद्रश्वास-तृषा-मोह-स्वप्न-क्रथन-सादनैः।
युक्तः क्षुत्स्वेद-दौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ।।
मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेषु स्थितम् ।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ।।
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः ।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ।।
तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति ।
विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ।।
एवावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ तु दहतः स्थुलं वनदावो वनं यथा ।।
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।
विकारन् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ।।
मेदो-मांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदर-स्तनः ।
अयथोचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ।।

(च. सू. २१/७-९)

...तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्य क्रथनगात्रसादगद्गदत्वानिक्षिप्रमेवाविशन्ति, सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायोभवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवोनाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो भवति, ... ।

(सु. सू. १५/ ३७)

अतिस्थौल्य के कारण निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- क्षुद्रश्वास, तृष्णा, मोह, निद्राधिक्य, अंगसाद, क्षुधाधिक्य, स्वेदाधिक्य और दौर्गन्ध्य, उत्पन्न होता है।
- अल्पप्राण, अल्पमैथुनः- धातुक्षय के कारण शक्तिऱ्हास होने से अल्पप्राणता तथा मैथुन शक्ति का अभाव या अल्पता उत्पन्न होती है।
- गद्‌गद्‌त्वः- स्थुल व्यक्ति शब्दोच्चारण ठिक से कर नहीं पाता है।
- भुक्त आहार का तुरंत जरण होकर फिर से क्षुधा बोध होने लगता है । यह दुष्ट चक्र बना रहता है ।
- संचित मेद के कारण वायु के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होने से वायु कोष्ठ में संचरण करते रहने से जाठराग्नि का संधुक्षण करते रहता है। इसके परिणाम से क्षुधावृद्धि हो जाती है।
- अतिस्थौल्य जीवन का नाश करनेवाला होता है।
- मेद और मांस के अत्याधिक संचिती से स्फिक्, उदर, गल, स्तन आदि अवयव चल हो जाते है तथा वे लटकते हुए (लम्बन्) दिखते है ।
- संचित मेद से शरीर में सौकोमार्यता (Softness of adipose tissue) उत्पन्न होती है ।
- मेद धातु के संचिती से स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होने से धातुओं का पोषण न होने के कारण अतिस्थुल व्यक्ति अल्पप्राण हो जाता है ।
- शारीरिक और मानसिक श्रम करने में तथा रोगों का प्रतिकार करने में अतिस्थुल व्यक्ति असमर्थ रहता है।
- किसी भी कार्य करने में उसे रुचि नहीं रहती है।
- अतिस्थौल्य यह विकार दारुण होता है ।

अतिस्थौल्य से होने वाले घातक रोग या उपद्रव :-

... प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम् अतस्तस्योत्पत्तिहेतूं परिहरेत् ।

○ **(सु. सू. १५/ ३७)**

- प्रमेह, पीडका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि और वात रोगों में से कोई रोग होकर स्थुल रोगी की मृत्य हो सकती है।

अतिस्थौल्य के अष्ट दोष :-

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवापरे निन्दितविशेषा भवन्ति; अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जवोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्र पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः ।...।

तस्य ह्यतिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेतरे धातवः, तस्मादस्यायुषो ह्रासः; शैथिल्यात् सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो जवोपरोधः, शुक्राबहुत्वान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनां, दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात् स्वेदनत्वाच्च, मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाद्बहुत्वाद्, गुरुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगाश्चेति ।।

(च. सू. २१/ ४)

अतिस्थौल्य से पीडित व्यक्ति के निम्न आठ दोष कहे है।

१) **आयुष ह्रास :-** शीघ्रता से आयुष्य का नाश होना, मृत्यु आता है । (हृदयाभिघातादि कारणों से)

२) **जवोपरोधः-** शक्तिह्रास अर्थात किसी कार्य को शीघ्रता पूर्वक और प्रबलता से पूर्ण कर नहीं सकता ।

३) **कृच्छ्र व्यवायताः-** शुक्र धातू का वर्धन न होने से मैथुन क्षमता का अभाव होता है ।

४) **दौर्बल्यः-** स्थुलता से दौर्बल्य बना रहता है।

५) **दौर्गन्ध्यः-** अतिमेदस्वी होने से शरीर का दौर्गन्ध्य आता है।

६) **स्वेदाबाधः-** अत्याधिक स्वेद प्रवृत्ती होने से कष्टता का अनुभव करता है।

७) **क्षुधाधिक्यः-** अत्याधिक प्रमाण भोजन ग्रहण करने की इच्छा बार-बार होने लगती है।

८) **तृष्णाधिक्यः-** अत्याधिक प्रमाण में पानी पीने की इच्छा बार-बार होने लगती है।

अतिस्थौल्य प्रकरण समाप्त

कार्श्य

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत
सू. २१	सू. १५

अतिकृशता के हेतू:-

तत्र पुनर्वातालाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययन भयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाक्षुत्कषायाल्पाशन प्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातु:शरीरमननुक्रामन्नल्पत्वान्न प्रीणिति तस्मादतिकार्श्यं भवति; ....।

(सु. सू. १५/ ३८)

- वात वर्धक आहार-विहार का सेवन करना ।
- अतिव्यायाम, अतिव्यवाय, अति चंक्रमन, अति अध्ययन, भारवहन, रात्रि जागरण करना ।
- शोक, भय, ध्यान, तृष्णा-क्षुधा का वेग धारण करना।
- कषाय रस के द्रव्यों का अति सेवन करना।
- अल्प-लघु आहार का सेवन करना।
- आदि कारणों से रस धातु में शोष उत्पन्न हो जाता है।
- उपरोक्त हेतू सेवन से रस धातु का क्षय हो जाने से प्रीणन न होने से शरीर का पोषण नहीं होता। पोषण अभाव के कारण धातुओं में रुक्षता उत्पन्न होने से शरीर में वात प्रकोप बढ़ जाता है ।
- प्रकोपित वायु शरीर में भ्रमण करके, शरीर धातुओं का शोषण, क्षय करके अति कार्श्य उत्पन्न करती है।

अतिकृशता के दोष (लक्षण) :-

व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामयौषधम् ।
कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम् ।
प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च ।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः ।।

(च. सू. २१/ १३, १४)

सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुवात रोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति; श्वासकासशोष प्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तनामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्यल्पप्राणत्वात्; अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् । (सु. सू. १५/ ३८)

- व्यायाम को तथा भोजनोपरान्त फिर से भोजन करने को रुग्ण सहन कर नहीं पाता है ।
- क्षुधा, तृष्णा, तीक्ष्ण औषधी योग, अति उष्ण-शीत वायु, वर्षाऋतु, भारादान (भार उठाना) तथा मैथुन इन्हें सहन नहीं कर सकता ।
- श्वास, कास, शोष, प्लीहा, उदर, अग्निमांद्य, गुल्म, रक्तपित्त, गुल्म, अर्श, ग्रहणी आदि में किसी भी रोग से पीडित होकर उसकी मृत्यु हो सकती है ।

कार्श्य के लक्षण :-

शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसन्ततः।
त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः।

(च. सू. २१/ १५)

- कार्श्य से पीडित व्यक्ति के स्फिक, उदर, ग्रीवा आदि स्थान शुष्क होते है।
- सम्पुर्ण शरीर में धमनीयाँ उभडी दिखायी देती है।
- इनके शरीर में बाह्यतः त्वचा और अस्थि शेष रहती है।
- पर्वस्थान स्थूल लगने लगते है।

स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत् ।

(च. सू. २१/ १७)

अति कार्श्य को अतिस्थौल्य की अपेक्षा से वरं अर्थात श्रेष्ठ कहा है। अगर अतिस्थूल या अतिकृश व्यक्ति किसी कारण अगर व्याधीग्रस्त हो जाता है, तो वह रोग तुलना में अतिकृश को कम और अतिस्थूल व्यक्ति को अधिक बाधित करता है। कार्श्य की संतर्पण चिकित्सा स्थौल्य के अपतर्पण चिकित्सा की तुलना में सहज होती है। इस दृष्टिकोन से अतिस्थूलता से अतिकृशता रहना अच्छा होता है।

कार्श्य प्रकरण समाप्त

प्रमेह

25

संदर्भः-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह	मा. नि.
च. सु. १७, चि. ६, च. नि.-४	सु. नि. ६ चि. ११,१२	नि.१०	नि.१०	३३

प्रमेह उत्पत्ति कथा :-

....तस्मिन् हि दक्षाध्वंरध्वंसे देहिनां नानादिक्षु विद्रवतामभिद्रवणतरणधावनप्लवन
लङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः ... हविष्प्राशात् प्रमेह कुष्ठानां .....।

(च. नि. ८/ ११)

दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस हो जाने के बाद भयभीत हुए प्राणियों में आफरा-तफरी मच गयी । भग-दड़ मचने, तैरने, दौड़ने, कूदने, लांघने जैसी शरीर को पीडित करने वाली घटनायें हो गयी । तत्पश्चात घृतपान करने से प्रमेह तथा कुष्ठ की उत्पत्ति हो गयी ।

प्रमेह की व्याख्या :-

प्रकर्षेण मेहति इति प्रमेहः। **(च. नि. ४/३)**

मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है तथा मूत्रप्रवृत्ति की वारंवारता भी बढ़ जाती है इस लिए इस व्याधी को प्रमेह कहते है।

प्रमेह के हेतू :-

तत्रेमे त्रयोनिदानादिविशेषाः श्लेष्मनिमित्तानां
प्रमेहाणामाश्वभिनिवृत्तिकरा भवन्ति; तद्यथा -
हायनकयवकचीनकोद्दालकनैषधेत्कटमुकुन्दकमहाव्रीहिप्रमोद
सुगन्धकानां नवानामतिवेलमतिप्रमाणेनचोपयोगः,तथा सर्पिष्मतां
नवहरेणुमाषसूप्यानां, ग्राम्यानूपौदकानां च
मांसानांशाकतिलकपललपिष्टान्नपायसकृशराविलेपीक्षुविकाराणां,
क्षीरनवमद्यमन्दकदधिद्रवमधुरतरुणप्रायाणां चोपयोगः,
मृजाव्यायामवर्जनं, स्वप्नशयनासनप्रसङ्गः, यश्च कश्चिद्
विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्रसञ्जननः स सर्वो निदानविशेषः ।।

(च. नि.४/५)

गुरुस्निग्धाम्ललवणान्यतिमात्रं समश्नताम् ।
नवमन्नं च पानं च निद्रामास्यासुखानि च ।।
त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनकुर्वताम् ।

(च. सू. १७/ ७८-७९)

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपान्नं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ।।

(च. चि. ६ /४)

........तेषां मेदोमूत्रकफावहम् ।।
अन्नपानक्रियाजातं यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम् ।
स्वाद्वम्लवणस्निग्धगुरुपिच्छिलशीतलम् ।।
नवधान्यसुरानूपमांसेक्षुगुडगोरसम् ।
एकस्थानासनरतिः शयनं विधिवर्जितम् ।।

(अ. हृ. नि. १०/ १-३)

- निदानादि विशेष के कारण अर्थात **निदान, दोष और दुष्य** इन तीनों की विशेष दूष्टि से कफज प्रमेह शीघ्रता से उत्पन्न होता है।
- हायनक (धान प्रकार), यवक (जई), चीनक (चीना), उद्दालक (जंगली कोदों), नैषध, इत्कट, मुकुन्दक, महाव्रीहि, प्रमोदक, सुगन्धक आदि चावल की प्रजातियाँ का नित्य सेवन करना ।
- अधिक घी के साथ नये मटर का सेवन करना ।
- उड़द या अन्य दालों का सेवन करना ।
- ग्राम्य (पालतू जानवर), आनूप, तथा औदक (जलचर) प्राणियों का मांस सेवन करना ।
- शाक, तिल, पलल, पिष्टान्न, पायस (खीर), कृशरा (खिचड़ी), विलेपी (पतली खिचड़ी), अथवा इक्षु (ईख/गन्ने के खांड़, शक्कर, गुड़ आदि) का अधिक मात्रा में नित्य सेवन करना ।
- दूध, नयी शराब, मन्दक (अर्धपक्व दहि), ताजा दहि, द्रव पदार्थ, मधुर, अम्ल, लवण स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, शीत और नये पदार्थों का अधिक सेवन करना ।
- समशन, अव्यायाम, पंचकर्म से शरीर की शुद्धि न करना ।
- अत्याधिक प्रमाण में दिवास्वाप-निद्रा लेना ।
- हमेशा बैठे रहना ।
- हमेशा सुखोपभोगी रहना ।
- इनके अतिरिक्त अन्य कोई भी हेतू जो कफ-मेद और मूत्र वृद्धिकर हो वे सभी प्रमेह के कारण होते है ।

प्रमेह के प्रकार :-

त्रिदोषकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा भवन्ति,
विकाराश्चापरेऽपरिसङ्ख्येयाः ।
तत्र यता त्रिदोषप्रकोपः प्रमेहानभिनिर्वर्तयति
तथाऽनुव्याख्यास्यामः ।।

(च. नि.४/३)

प्रमेहा विंशतिस्तत्र श्लेष्मतो दश, पित्ततः ।
षट्, चत्वारोऽनिलात् ....।।

(अ. हृ. नि. १०/ १)

त्रिदोष प्रकोप से बीस प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते है ।

कफज	पित्तज	वातज	एकुण
१०	६	४	२०

प्रमेह के मुख्य दो प्रकार :-

दृष्ट्वा प्रमेहं सपिच्छं मधूपमं स्याद्द्विविधो विचारः ।
सम्पूरणाद्वा कफसम्भवः स्यात् क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मको वा ।।

(अ.हृ.नि. १०/४०)

संतपर्ण और अपतर्पण के अनुसार प्रमेह को मुख्य दो प्रकारों में विभाजित किया है ।

१) कफज प्रमेह – संपूरण या संतपर्ण से होता है ।

२) वातज प्रमेह – अपतपर्ण से अर्थात क्षय से होता है ।

प्रमेह के वातज, पित्तज और कफज ये तीन दोषज प्रकार होते है इनके उपप्रकार संहिताकारों के अनुसार निम्न होते है ।

	चरक		
	कफज १०	पित्तज ६	वातज ४
१	उदकमेह	क्षारमेह	वसामेह
२	इक्षुबालिका रसमेह	कालमेह	मज्जमेह
३	सान्द्रमेह	नीलमेह	हस्तिमेह
४	सान्द्रप्रसाद	लोहितमेह	मधुमेह
५	शुक्लमेह	माञ्जिष्ठमेह	
६	शुक्रमेह	हारिद्रमेह	
७	शीतमेह		
८	सिकतामेह		
९	शनैर्मेह		
१०	आलालमेह		

	सुश्रुत		
	कफज १०	पित्तज ६	वातज ४
१	उदकमेह	क्षारमेह	वसामेह
२	इक्षुबालिका	अम्लमेह	सर्पिमेह
३	सान्द्रमेह	नीलमेह	हस्तिमेह
४	सुरामेह	शोणितमेह	क्षौद्रमेह
५	पिष्टमेह	माञ्जिष्ठमेह	
६	शुक्रमेह	हारिद्रमेह	
७	लवणमेह		
८	सिकतामेह		
९	शनैर्मेह		
१०	फेनमेह		

	वाग्भट		
	कफज १०	पित्तज ६	वातज ४
१	उदकमेह	क्षारमेह	वसामेह
२	इक्षुमेह	कालमेह	मज्जमेह
३	सान्द्रमेह	नीलमेह	हस्तिमेह
४	सुरामेह	रक्तमेह	मधुमेह
५	पिष्टमेह	माञ्जिष्ठमेह	
६	शुक्रमेह	हारिद्रमेह	
७	शीतमेह	क्षारमेह	
८	सिकतामेह		
९	शनैर्मेह		
१०	लालामेह		

प्रमेह की सम्प्राप्ति :-

श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्तते ।।
तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति ।
यदा बस्तिं तदा कृच्छो मधुमेहः प्रवर्तते ।।
स मारुतस्य पितस्य कफस्य च मुहुर्मुहु ।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः ।।

(च. सू. १७/ ७९-८१)

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतः प्रदुष्य ।
करोति मेहान् समुदीर्णष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ।।
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् सन्दूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च।

(च. चि. ६ /)

वात, पित्त और कफ ये तीनों भी दोष प्रमेह में प्रकोपित होते है। प्रकोपित दोषों द्वारा मेद, रक्त, शुक्र, उदक, वसा, लसिका, मज्जा,

रस, ओज, और मांस इनमें विकृति उत्पन्न की जाती है। कफ-मांस-मेद-क्लेद ये विशेषतः विकृत होते है, इस लिए ये प्रमेह के प्रधान घटक है। बाकी के दूष्य गणना में है, लेकिन वे गौण स्वरुप से दुष्ट होते है। प्रमेह की संप्राप्ति में दोषों के प्रकोप क्रम से होता है । प्रथम कफ का उसके बाद पित्त और अंततः वायु का प्रकोप है। सर्व प्रथम शरीर में प्रकोपित कफ दूष्यों के साथ बस्तिगत होकर कफज प्रमेह की उत्पत्ति करता है । कफज प्रमेह शरीर में कुछ काल तक बने रहने के बाद पित्त के प्रकोप से कफज प्रमेह पित्तज प्रमेह में परीवर्तित होता है । पित्तज प्रमेह से संप्राप्ति आगे चलकर वातज प्रमेह में बदल जाती है। अंततः वातज प्रमेह का मुख्य प्रकार, **मधुमेह उत्पन्न** हो जाता है ।

व्याधी नाम	**प्रमेह**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	व्यान, अपान	पाचक	क्लेदक
दूष्य	रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, लसिका, उदक, ओज धातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य, रस-मेद धात्वाग्नि		
दुष्ट स्त्रोतस	मेदवह, उदकवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग, अतिप्रवृत्ती और विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	बस्ति		
उद्भवस्थान	पक्वाशय		
अधिष्ठान	बस्ति		
संचरण स्थान	मूत्रवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	प्रमेह		
भेद (२०)	कफज (१०), पित्तज (६), वातज (४)		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	कफज	
	असाध्य	वातज	
	याप्य	पित्तज	

प्रमेह रोग किसे हो सकता है ?

गुघ्नमभ्यवहार्येषु स्नानचङ्क्रमणद्विषम् ।
प्रमेहः क्षिप्रमभ्येति नीडद्रुममिवाण्डजः ।।

(च. नि.४/५०)

अन्न का लोभी, स्नान न करनेवाला, चंक्रमण न करनेवाला व्यक्ति प्रमेह से ग्रस्त होता है। पेड़ के उपर घोंसले को एक बार कोई पंच्छी पकड़ लेता है, तो कभी छोड़ता नहीं, इसी भाँति प्रमेह से पिड़ीत व्यक्ति को प्रमेह छोड़ता नहीं । अर्थात यह रोग समुल नष्ट नहीं होता ।
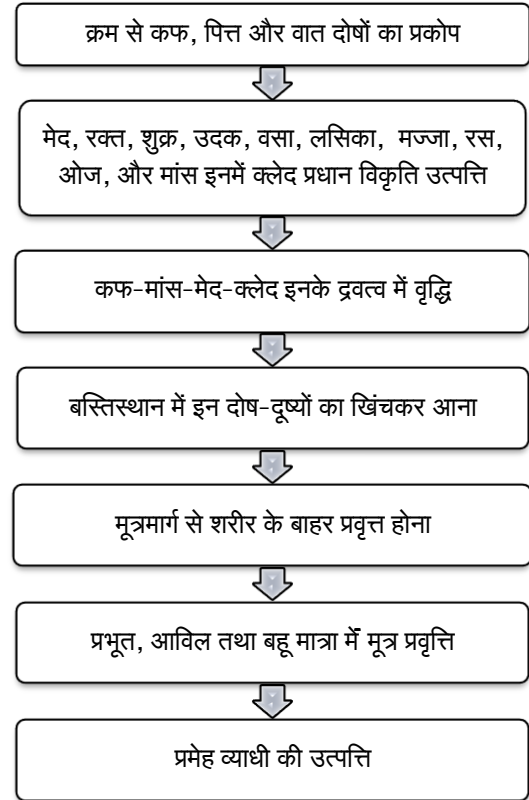
प्रमेह में दोषदुष्य विकृति का स्वरुप :-

बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः ।। **(च. नि.४/६)**

- प्रमेह में **मुख्यतः अत्यधिक मात्रा में द्रव गुण** से कफ की दुष्टी होती है।

प्रमेह में कफ प्रधानता :-

त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, प्रगतिभूयस्त्वात्; स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते, शरीरशैथिल्यात्; स विसर्पञ्शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति, मेदश्चैव बह्वबद्धत्वान्मेदसश्च गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात्; स मेदसा मिश्रीभवन् दूषयत्येत्,विकृतत्वात्; स विकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्ग गच्छति, क्लेदमांसयोरतिप्रमाणाभिवृद्धत्वात्; स मांसे मांसप्रदोषात् पूतिमांसपिडकाः शराविकाकच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्; शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन् मूत्रत्वेन पतिणमयति, मूत्रवहानां च स्त्रोतसां वङ्क्षणबस्तिप्रभवणां मेदःक्लेदोपहातानि गुरुणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुध्यते; ततः प्रमेहास्तेषां स्थैर्यमसाध्यतां वा जनयति, प्रकृतिविकृतिभूतत्वात् ।।

(च. नि.४/८)

प्रमेह उत्पन्न करनेवाले दोष, दूष्य विशेष समुह में कफ का अधिक्य रहने से कफ का शीघ्रता से प्रकोप हो जाता है । प्रकोपित कफ शिथिलता के कारण शीघ्र ही शरीर में फैल जाता है । मेद धातु शरीर में शिथीलता से बंधा रहता है । मेद के गुण भी, कफ के गुणों के समान होते है। शैथिल्यता और समान गुणता इन दोनों कारणों से कफ दोष और मेद धातु एक दुसरे के साथ संमिश्र हो जाता है । तद् नंतर मेद से मिलते ही कफ स्वयं शीघ्र विकृत होकर मेद को दूषित करता है । इस विकृत मेद से क्लेद और मांस की विकृति होती है । इस तरह विकृत कफ और दूषित मांस से शराविका, कच्छपिका आदि दुर्गन्धित मांसवाली पिडकाऐं उत्पन्न होती है । यह दुष्ट कफ, क्लेद को दूषित करके उसे मूत्र स्वरुप में बदल देता है । यही विकृत कफ आगे चलकर वंक्षण (वृक्क?) और बस्ति इन स्थानों से उत्पन्न होनेवाले मेदस् और क्लेद द्वारा अवरोधित मुखों तक जाकर वहाँ रुक (संचित) जाता है। इस विकृत कफ के कारण शरीरगत दोष, धातु और मलों की प्राकृतता में कितने प्रमाण में विकृति उत्पन्न हुई है, इसके आधार पर प्रमेह रोग की स्थिरता एवं साध्यसाध्यता निर्भर रहती है।

इस तरह से प्रमेह कफ प्रधान होता है ।

प्रमेह का दोष-दूष्य संग्रह :-

बह्वबद्धं मेदो मांसं शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा
लसीका रसश्चौजः सङ्ख्यात इति दुष्यविशेषाः ।।

(च. नि.४/७)

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा, मेदो-स्त्र-शुक्राम्बु-वसा-लसीकाः ।
मज्जा रसौजः पिशितं दूष्याः, प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ।।

(च. चि. ६ /८)

कफ, पित्त एवं वात ये तीनों दोष, प्रभुत और जादा सान्द्र न रहने वाला मांस स्नेह (मेदस्), मांस, उदक, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका तथा ओज ये बीस प्रमेह के दूष्य होते है ।

प्रमेह के पूर्वरुप :-

त्रयस्तु खलु दोषाः प्रकुपिताः प्रमेहानभिनिर्वर्तयिष्यन्त इमानि पूर्वरुपाणि दर्शयन्ति; तद्यथा-जटिलीभावं केशेषु, माधुर्यमास्यस्य, करपादयोः सुप्ततादाहौ, मुखतालुकण्ठशोषं, पिपासाम्, आलस्यं, मलं काये, कायच्छिद्रेषूपदेहं, परिदाहं सुप्ततां चाङ्गेषु, षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणं, मूत्रे च मूत्रदोषान् विस्त्रं शरीरगन्धं, निद्रां, तन्द्रां च सर्वकालमिति ।।

(च. नि.४/४७)

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता च शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखाति वृद्धिः ।।
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगदस्य रुपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ।।

(च. चि. ६/१३-१४)

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रुपं पाणिपादयोः ।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ।।

(सु.नि. ६/५)

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलत्वमङ्गे शय्यासनस्वप्नसुखाभिषङ्गः ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ।।
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगणस्य रुपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ।।

(अ.हृ.नि. १०/ ३८-३९)

मधुकोष :- आदि शब्देन नयन-तालु-कर्णादिनां ग्रहणम् ।
सुश्रुत :-तालु-गल-जिह्वा-दन्तेषु मलोत्पत्तिः ।

(सु.नि. ६/५)

प्रमेह के निम्न पूर्वरुप होते है ।

- शिरस्थ केश परस्पर सट जाने से जटाओं का रुप धारण कर लेते है।
- हस्त-पाद शुन्यता तथा दाह उत्पन्न होता है ।
- मधुरास्यता उत्पन्न होती है।
- मुख-तालु-कंठ-क्लोम में बार-बार शुष्कता आती है ।
- बार-बार प्यास (तृष्णा) लगती है ।
- शारीरिक के दौर्बल्य के कारण रोगी आलसी बनता है ।
- शरीर के छिद्रों में मलों (ख-मल अर्थात कर्ण, नेत्र, नासा, रोमकुप आदि) की उत्पत्ति मात्रा में अधिक होती है ।
- शरीर की त्वचा मलों से चिपचिपी रहती है ।
- आंखों में शून्यता आती है ।
- शरीर और मूत्र पर मक्खियों तथा चीटियाँ बैठती है।
- मूत्र में मूत्रों के दोष (अविलता, पिच्छिलता, सान्द्रता बहुमुत्रता आदि)दिखाई देते है ।
- शरीर की दुर्गन्ध आने लगती है ।
- अत्याधिक प्रमाण में निद्रा तथा तन्द्रा आने लगती है।
- सर्वांग में शैथिलता आ जाती है।
- केश-नख आदि की अतिवृद्धि होती है ।
- शीत जल-अन्नपान का सेवन करने की इच्छा होती है ।

प्रमेह के सामान्य लक्षण:-

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।
दोष-दूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ।।
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्पते ।

(अ.हृ. नि. १०/७-८)

प्रभुत प्रमाण में आविल (गदलापण) स्वरुप के मूत्र प्रवृत्ति **(विशेषतः रात में बार-बार अधिक मात्रा में मूत्र प्रवृत्ति होती है।)** होना ये प्रमेह का सामान्य लक्षण है ।

कफज प्रमेह के हेतू :-

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ।।

(च. चि. ६/४)

प्रमेह के सामान्य हेतू ही कफज प्रमेह के हेतू है ।

कफज प्रमेह की सम्प्राप्ति:-

मेदश्च मांसं च शरीरजं क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य ।

(च. चि. ६/५)

बस्तिमाश्रित्य कुरुते प्रमेहान् दूषितः कफः ।
दूषयित्वा वपू:क्लेदस्वेदमेदोरसामिषम् ।।

(अ.हृ. नि. १०/४)

प्रकोपित कफ दोष से मेद, मांस, रस स्वेद तथा क्लेद इनकी दूष्टि हो जाती है । इन दुषित दूष्यों एवं विकृत कफ को वायु बस्ति में ले आता है । इसके परिणाम से मूत्र आविल हो जाता है । प्रभूत प्रमाण में मूत्र प्रवृत्ती उत्पन्न होकर कफज प्रमेह उत्पन्न हो जाता है ।

कफज प्रमेह के दस प्रकारों के उत्पत्ति के कारण:-

ते तु खल्विमे दश प्रमेहा नामविशेषेण भवन्ति; तद्यथा- उदकमेहश्च, इक्षुवालिकारसमेहश्च, सान्द्रमेहश्च, सान्द्रप्रसादमेहश्च, शुक्लमेहश्च, शुक्रमेहश्च, शीतमेहश्च, सिकतामेहश्च, शनैर्मेहश्च, आलालमेहश्चेति ।।

(च. नि.४/१०)

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विपरसन्नम् ।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा वालुकया युतं वा ।।
विद्यात् प्रमेहान् कफजान् दशैतान् ....।

(च. चि. ६/९)

शरीरक्लेदस्तु श्लेष्ममेदोमिश्रः प्रविशन् मूत्राशयं मूत्रथ्वमापद्यमानः श्लैष्मिकैरेभिर्वैशभिगुणैरुपसृज्यते वैषम्ययुक्तै; तद्यथा- श्वेतशीतमूर्तपिच्छिलाच्छस्निग्धगुरुसान्द्रप्रसादमन्दैः, तत्र येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति ।।

(च. नि.४/९)

प्रकोपित कफ अपने विविध गुणों के कारण मूत्र में अलग-अलग विकृतियाँ उत्पन्न करके परिणाम दस प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते है

कफज प्रमेह के प्रकारानुसार लक्षण :-

१)उदकमेह:-

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ।
श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति ।।

(च. नि.४/१३)

अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ।।
मेहत्युदकमेहेन किञ्चिदाविल-पिच्छिलम् ।

(अ.हृ. नि. १०/ ८-९)

- उदकमेह में स्वच्छ, अत्याधिक श्वेत, शीत, गंध विरहित मूत्र प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- किंचित आविलता और पिच्छिलता भी मूत्र में रहती है ऐसा वाग्भट का मत है ।

अ. क्र.	कफज प्रमेह	
	उदकमेह	
१	**गुण**	अच्छ
	विकृति	जल के समान मूत्र प्रवृत्ति होना ।
	इक्षुवालिकामेह	
२	**गुण**	मधुर
	विकृति	मूत्र मधुर रस का होना ।
	सान्द्रमेह	
३	**गुण**	गुरु
	विकृति	मूत्र में गाढ़ापन आना ।
	सान्द्रप्रसादमेह	
४	**गुण**	सान्द्रप्रसाद (गाढ़ा निर्मल)
	विकृति	मूत्र गाढ़ा एवं स्वच्छ होता है ।
	शुक्लमेह	
५	**गुण**	श्वेत
	विकृति	मूत्र का वर्ण श्वेत होना ।
	शुक्रमेह	
६	**गुण**	स्निग्ध
	विकृति	मूत्र में शुक्र स्त्राव संमिश्र होना ।
	शीतमेह	
७	**गुण**	शीत
	विकृति	मूत्र स्पर्श से शीत लगना ।
	सिकतामेह	
८	**गुण**	मूर्त
	विकृति	मूत्र में सिकता (बालू) उत्पन्न होना ।
	शनैर्मेह	
९	**गुण**	मन्द
	विकृति	मूत्र प्रवृत्ति मन्द-मन्द होना ।
	आलालमेह	
१०	**गुण**	पिच्छिल
	विकृति	लालास्त्राव जैसा मूत्र पिच्छिल होना।

२) इक्षुवालिकारसमेह :-

अत्यर्थमधुरं शीतमीषत्पिच्छिलमाविलम् ।
काण्डेक्षुरससङ्काशं श्लेष्मकोपात् प्रमेहति ।।

(च. नि.४/१४)

इक्षोरसमिवात्यर्थं मधूरं चेक्षुमेहतः।।

(अ.हृ. नि. १०/९)

- अत्याधिक प्रमाण में मधुर रस का, शीत और इषित् (अल्प प्रमाण में) पिच्छिल और आविल मूत्र प्रवृत्ती इक्षुवालिकारसमेह में रहती है ।
- काण्डेक्षु या इक्षुवालिका अर्थात जंगली ईख से निकलने वाले रस के समान मूत्र प्रवृत्ती होने के कारण इसे यह नाम दिया गया है।
- वाग्भट ने इसे **इक्षुमेह** कहा है।

३) सान्द्रमेह :-

यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने ।
पुरुषं कफकोपन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ।।

(च. नि.४/१५)

सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।

(अ.हृ. नि. १०/ १०)

- भाजन अर्थात पात्र में मूत्र को लेकर कुछ समय स्थिर रखने के बाद सम्पूर्ण मूत्र गाढ़ा दिखाई देता है।
- कफ के सान्द्र गुण के दुष्ट होने के परिणाम से **सान्द्रमेह** उत्पन्न होता है ।

४)सान्द्रप्रसादमेह :-

यस्य संहन्यते मूत्रं किञ्चित् किञ्चित् प्रसीदति ।
सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः श्लेष्मकोपतः ।।

(च. नि.४/१६)

सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ।।(अ.हृ. नि. १०/ १०)

- पात्र में मूत्र को लेकर कुछ समय स्थिर रख देने के बाद सम्पूर्ण मूत्र में से पात्र के तल में मूत्र गाढ़ा हो जाता है और उपरी मूत्र स्वच्छ दिखाई देता है ।
- कफ के सान्द्र और प्रसाद (स्वच्छ) गुणों के दुष्ट होने के परिणाम स्वरुप में सान्द्रप्रसादमेह उत्पन्न होता है ।
- इसे वाग्भटने **सुरा मेह** कहा है ।

५)शुक्लमेह :-

शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रमभीक्ष्णं यः प्रमेहति ।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः शुक्लमेहिनम्।।

(च. नि.४/१७)

संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहलं सितम् ।

(अ.हृ. नि. १०/ ११)

- सफेद आटा मिलाए जैसा, श्वेत वर्ण का मूत्र दिखलाई देने के कारण इसे शुक्लमेह कहते है ।
- कफ के श्वेत गुण के साथ इसमें गुरु (बहल) गुण की दुष्टि होती है ।
- इसे वाग्भटने पिष्टमेह नाम देकर इसमें रोमहर्ष लक्षण उत्पन्न होने का उल्लेख किया है।

६)शुक्रमेह :-

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा मुहुर्मेहति यो नरः ।
शुक्रमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ।।

(च. नि.४/१८)

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ।।

(अ.हृ. नि. १०/ ११)

- शुक्र के समान या शुक्र मिश्रित मूत्र प्रवृत्ति होती है इस लिए इसे शुक्रमेह कहा है ।

७)सिकतामेह :-

मूर्तान्मूत्रगतान् दोषानणून्मेहति यो नरः ।
सिकतामेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्मकोपतः ।।

(च. नि.४/२०)

मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारुपिणो मलान् ।

(अ.हृ. नि. १०/ १२)

- **बालू** (रेती) के कण के समान मूर्त स्वरुप के कण मूत्रमें आते है तो उसे सिकता मेह कहते है ।

८)शीतमेह :-

अत्यर्थमधूरं शीतं मूत्रं मेहति यो भृशम् ।
शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ।।

(च. नि. ४/१९)

शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ।।

(अ.हृ. नि. १०/ १२)

- मूत्र की अत्याधिक शीत और मधुर प्रवृत्ति होने से इसे **शीत मेह** कहा है ।

९)शनैर्मेह :-

मन्दं मन्दमवेगं तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छनैः ।
शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ।।

(च. नि. ४/२१)

शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।

(अ.हृ. नि. १०/ १३)

○ समय समय (बार-बार) से मन्द-मन्द वेग से सकष्ट मूत्र प्रवृत्ति होने को शनैः मेह कहा है ।

१०) आलालमेह :-

तन्तुबद्धमिवालालं पिच्छिलं यः प्रहिति ।
आलालमेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्मकोपतः ।।

(च. नि. ४/२२)

लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ।।

(अ.हृ.नि. १०/ १३)

○ मुख से निकलने वाले लार की समान पिच्छिल और तन्तुल मूत्र प्रवृत्ति होने को आलाल या लाला मेह (वाग्भट ने) कहा है ।

कफज प्रमेह के उपद्रव :-

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिनिद्रा कासः सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ।।

(अ.हृ. नि. १०/२२)

अविपाक, अरुचि, छर्दि, निद्राधिक्य, कास, पीनस ये कफज प्रमेह के उपद्रव है ।

पित्तज प्रमेह के हेतू:-

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनोपसेविन
स्तथाऽतितीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारोपसेविनश्च
तथाविधशरीरस्यैव क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते ।

(च. नि.४/२४)

ते षड्भिरेव क्षाराम्ललवणकटुकविस्रोष्णैः पित्तगुणैः
पूर्ववद् युक्ता भवन्ति ।।

(च. नि.४/२६)

निम्न पित्त प्रकोपक कारणों से पित्तज प्रमेह उत्पन्न होता है।

○ अम्ल, लवण और कटु रस के द्रव्य, उष्ण पदार्थ, क्षार द्रव्य आदि का अधिक मात्रा में सेवन करना ।
○ अजीर्ण रहते भी भोजन करना ।
○ अति तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन करना ।
○ आतप-अग्नि का सेवन करना ।
○ विषम आहार का सेवन करना ।

पित्तज प्रमेह की सम्प्राप्ति :-

करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ।।

(च. चि. ६/५)

तत्तु प्रकुपितं तयैवानुपूर्व्या प्रमेहानिमान् षट्
क्षिप्रतरमभिनिर्वर्तयति ।। (च. नि.४/२४)

पित्तं रक्तमपि क्षीणे कफादौ मूत्रसंश्रयम् ।

(अ.हृ. नि. १०/ ५)

प्रकोपित पित्त अपने उष्ण-तीक्ष्ण कटु, क्षार, लवण आदि गुणों से विकृत हो जाता है । इन गुणों के तरतम भाव के अनुसार पित्त से रस, मांस, मेद, ओज, लसिका आदि दुष्यों की दूष्टि होकर पित्तज प्रमेह के छः प्रकार उत्पन्न होते है ।

पित्तज प्रमेह के नाम :-

तेषामपि तु खलु पित्तगुणविशेणैव नामविशेषा भवन्ति; तद्यथा- क्षारमेहश्च, कालमेहश्च, नीलमेहश्च, लोहितमेहश्च, माञ्जिष्ठमेहश्च, हारिद्रमेहश्चेति ।। (च. नि.४/२५)

....क्षारोपमं कालमथापि नीलम् ।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान् प्रमेहान्
षड्डुशन्ति पित्तात् ।।

(च. चि. ६/१०)

पित्तज प्रमेह के निम्न छः प्रकार होते है।

१) क्षारमेह	२)कालमेह	३)नीलमेह
४)लोहितमेह	५) मंजिष्ठामेह	६) हारिद्रामेह

पित्तज प्रमेह के लक्षण:-

१)क्षारमेह :-

गन्धवर्णरसस्पर्शैयथा क्षारस्तथाविधम् ।
पित्तकोपान्नरो मूत्रं क्षारमेही प्रमेहति ।। (च. नि.४/२९)
गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ।

(अ.हृ.नि.१०/१४)

○ गंध, वर्ण, रस, स्पर्श इन सभी गुण से युक्त और क्षार मिश्रित जल जैसी मूत्र प्रवृत्ती होने को क्षारमेह कहते है ।

२) कालमेह:-

मसीवर्णमजस्त्रं यो मूत्रमुष्णं प्रमेहति ।
पित्तस्य परिकोपण तं विद्यात् कालमेहिनम् ।।

(च. नि.४/३०)

○ कज्जली समान काले वर्ण का तथा उष्ण मूत्र की प्रवृत्ति होने को कालमेह कहते है ।

३) नीलमेह :-

चाषपक्षनिभं मूत्रमम्लं मेहति यो नरः ।
पित्तस्य परिकोपण तं विद्यान्नीलमेहिनम् ।।

(च. नि.४/३१)

नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ।।

(अ.हृ.नि.१०/१४)

- चाष पक्षी के पंख के नीले वर्ण जैसी मूत्र प्रवृत्ती होने को नीलमेह कहते है ।

४) लोहितमेह:-

विस्रं लवणमुष्णं च रक्तं मेहति यो नरः ।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्याद् रक्तमेहिनम् ।।

(च. नि.४/३२)

विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः ।

(अ.हृ.नि.१०/१६)

- लवण रस की, दुर्गंध युक्त, उष्ण तथा आरक्त वर्ण की मूत्र प्रवृत्ति को लोहितमेह **(वाग्भटने-रक्तमेह)** में कहते है ।

५)हारिद्रमेह :-

हरिद्रोदकसङ्काशं कटुकं यः प्रमेहति ।
पित्तस्य परिकोपात् तं विद्याद्धारिद्रमेहिनम् ।।

(च. नि.४/३४)

हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभं दहत् ।

(अ.हृ. नि.१०/१५)

- कटु रसात्मक एवं हल्दी के वर्ण समान हारिद्र वर्ण की मूत्र प्रवृत्ति होने को हारिद्रमेह कहते है ।

६)मञ्जिष्ठमेह :-

मञ्जिष्ठोदकसङ्काशं भृशं विस्रं प्रमेहति ।
पित्तस्य परिकोपात् तं विद्यान्माञ्जिष्ठमेहिनम् ।।

(च. नि.४/३३)

विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ।।

(अ.हृ.नि.१०/१५)

- मंजिष्ठ के क्वाथ के वर्ण समान और दुर्गंधित मूत्र प्रवृत्ति होने को मंजिष्ठमेह कहते है ।

पित्तज प्रमेह के उपद्रव :-

बस्ति-मेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ।।

(अ.हृ. नि. १०/२३)

- बस्ति, मेहन, मुष्क इन स्थानों में तोदवत पीड़ा उत्पन्न होना।
- इन स्थानों का अवदारण (भेद) होना ।
- ज्वर, दाह, तृष्णा, अम्लिका, मूर्च्छा और अतिसार उत्पन्न होना ।

ये पित्तज प्रमेह के उपद्रव है ।

वातज प्रमेह के हेतू :-

कषायकटुतिक्तरुक्षलघुशीतव्यवायव्यायामवमनविरेचनास्थापन शिरोविरेचनातियोगसन्धारणानशनाभिघातातपोद्वेगशोकशोणितातिषेक जागरणविषमशरीरन्यासानुपसेवमानस्य तथाविधशरीरस्यैव क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते ।। **(च. नि.४/३६)**

- कषाय, कटु, तिक्त, रुक्ष, लघु, शीत आदि वातप्रधान रस और गुणों से युक्त आहार-विहार का सेवन करना ।
- अतिव्यवाय, अतिव्यायाम, अनशन करना ।
- वमन, विरेचन, आस्थापन बस्ति, नस्य आदि पंचकर्म उपचार का अतियोग करना ।
- वेगसंधारण करना ।
- शोक-उद्वेग से मन उपतप्त होना ।
- अभिघात, आघात या रक्तमोक्षण से अति रक्तस्त्राव होना ।
- शरीर की विषम हालचाल या क्रिया करना ।
- आदि वात प्रकोप कारणों का सेवन करने से वायु का प्रकोप शीघ्रता से होकर वातज प्रमेह उत्पन्न होता है।

वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति :-

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ धातून् प्रमेहाननिलः करोति ।
दोषो हि बस्तिं समुपेत्य मूत्र सन्दूष्य मेहाञ्जनयेद् यथास्वम्।।

(च. चि. ६/६)

धातून् बस्तिमुपानीय तत्क्षयेऽपि मारुतः ।।

(अ.हृ. नि. १०/५)

कफपित्तवसामज्जमेदोभिरन्वितो वायुर्वातप्रमेहान् ।।

(सु. नि. ६/ ९)

- प्रकोपित वायु द्वारा जिस विशिष्ट धातु की निश्चित दूष्टि होती है, उसके अनुसार वातज प्रमेह के प्रकार उत्पन्न होते है ।
- कफज और पित्तज प्रमेह में दोषों के गुणों के दूष्टि के अनुसार से प्रकार कहे गये है लेकिन वातज प्रमेह में दूष्यों को प्राधान्य देकर प्रकार कहे गये है ।
- चरकाचार्य ने वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति में कफ और पित्त दोष की क्षीण स्थिती शरीर में उत्पन्न होती है ऐसा कहा है । इस अवस्था में प्रकोपित वात वसा, मज्जा, ओज और लसिका इन धातुओं को बस्ति में खींचकर लाकर वातज प्रमेह उत्पन्न करता है ।

वातज प्रमेह के नाम :-

तेषामपि पूर्ववद्गुणविशेष नामविशेषा भवन्ति; तद्यथा-
वसामेहश्च, मज्जमेहश्च, हस्तिमेहश्च, मधुमेहश्चेति ।।

(च. नि.४/३९)

मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम् ।

चतुर्विधं मूत्रयतीह वाताच्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु ।।

(च. चि. ६/११)

वातज प्रमेह के चार प्रकार होते है ।

१) वसामेह	२)मज्जमेह	३)हस्तिमेह	४)मधुमेह

चरक द्वारा चिकित्सा स्थान में लसिका मेह का उल्लेख किया है

लसीकाया हस्तिमेहः ।

चक्रपाणि ने हस्तिमेह को ही लसिकामेह कहा है ।

वातज प्रमेह के प्रकारानुसार लक्षण:-

१)वसामेह :-

स प्रकुपितस्तथाविधे शरीरे विसर्पन् यदा वसामादाय
मूत्रवहानि स्त्रोतांसि प्रतिपद्यते तदा
वसामेहमभिनिर्वर्तयति;......।।

(च. नि. ४/३७)

वसामिश्रं वसाभं वा मुहुर्मेहति यो नरः ।
वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ।।

(च. नि.४/४१)

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ।।

(अ. हृ. नि. १०/१६)

प्रकोपित वात समस्त शरीर में परिधावन करके सार्वदैहिक वसा को मूत्रवह स्त्रोतस में अपकर्षित (खींचकर लाना) करके वसामेह की उत्पत्ति करता है । इसमें वसा मिश्रित या वसा के समान वर्ण की मूत्र प्रवृत्ती बार-बार होने लगती है । वाग्भटने मूत्र के रुप में केवल वसा ही निकल सकती है, ऐसा विधान किया है ।

२)मज्जामेह :-

.... यदा पुनर्मज्जानं मूत्रबस्तावाकर्षति तदा
मज्जमेहमभिनिर्वर्तयति; ....।।

(च. नि. ४/३७)

मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः ।
मज्जमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ।।

(च. नि.४/४२)

मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः।

- प्रकोपित वायु से मज्जा धातु बस्ति में खींचकर (अपकर्षित) लाने से मज्जामेह उत्पन्न हो जाता है ।
- इसमें मज्जा के समान या मज्जा मिश्रित मूत्र प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।
- वाग्भटने मूत्र के रुप में केवल शुद्ध मज्जा ही निकल सकती है ऐसा विधान किया है ।

३) हस्तिमेह :-

वायोःखल्वस्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति, तदा
स मत्त इव गजः क्षरत्यजस्त्रं मूत्रमवेगं, तं
हस्तिमेहिनमाचक्षते; ......।।
यदा तु लसीकां मूत्राशयेऽभिवहन्मूत्रमनुबन्धं च्योतयति
लसीकातिबहुत्वाद् विक्षेपणाच्च ..।।

(च. नि.४/३७)

हस्तीमत्त इवाजस्त्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ।
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ।

(अ.हृ.नि.१०/ १४-१६)

हस्ती मत्त इवाजस्त्रं मूत्रं क्षरति यो भृशम् ।
हस्तिमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ।।

(च. नि.४/४२)

- मद मस्त हाथी जिस प्रकार से बार-बार किन्तु अनुबंध विरहित मूत्र प्रवृत्ति करता है, ठिक उसी प्रकार की मूत्र प्रवृत्ति हस्तिमेह में उत्पन्न होती है।
- इसमें मूत्र लसीका युक्त रहता है।
- मूत्र प्रवृत्ति अधिक मात्रा में होकर भी मूत्र मार्ग अवरुद्ध है ऐसी संवेदना बनी रहती है।
- यह असाध्य प्रकार है।

४)मधुमेह :-

ओजः पुनर्मधुरस्वभावं तद् यदा रौक्ष्याद् वायुः
कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति ।।

(च. नि.४/३७)

कषायमधुरं पाण्डुं रुक्षं मेहति यो नरः ।
वातप्रकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ।।

(च. नि.४/४२)

कषायं मधुरं रुक्षं क्षौद्रमेहं वदेद्बुधः ।।

- प्रकोपित वात ओज के मधुर भाव को अपने कषाय रस और रुक्ष गुण के साथ मूत्राशय में अभिवाहित करके मधुमेह की उत्पत्ति करता है।
- इसमें मूत्र में मधुरता, श्वेतता और रुक्षता ये भाव उत्पन्न हो जाते है ।

मधुमेह की निरुक्ति :-

कालेनोपक्षिताः सर्वे यद्यन्ति मधुमेहताम् ।।
मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ।।

(अ.हृ.नि.१०/२०-२१)

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ।।

(सु. नि. ६/)

सभी प्रकार के प्रमेह की उपेक्षा अगर की जाती रही तो वे कालान्तराल से वे मधुमेह में परिवर्तित हो जाते है ।

मधुमेह के दो प्रकार :-

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा ।।
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ।
आवृत्तो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयत् ।।
क्षीणः क्षणात् पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ।

(अ.हृ.नि.१०/१८-२०)

मधुमेह के दो प्रकार होते है ।

१) धातुक्षय जन्य :- धातु के क्षीण होने से धातुक्षयजन्य मधुमेह उत्पन्न होता है ।

२) अवरोध जन्यः- वात दोष का दोष या दूष्यों से अवरोध होने से मार्गावरोध उत्पन्न होकर प्रकोप होने से अवरोधजन्य मधुमेह उत्पन्न होता है ।

वायु जिस दोष के कारण अवरोधित होता है उसके लक्षण उस दोष का प्रकोप न होते हुए ही प्रकट करता है । इस स्थिती में मूत्राशय कभी भर जाता या कभी रिक्त रहता है । इन लक्षणों के कारण मधुमेह कष्टसाध्य बन जाता है ।

वातज प्रमेह के उपद्रव :-

वातजनामुदावर्तः कम्प-हृद्ग्रह-लोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ।।

(अ.हृ.नि.१०/२४)

उपद्रवस्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसार-ज्वर-दाह-दौर्बल्यारोचकाविपाकपूतिमांस पिडकालजी विद्रध्यादयः ।

(च.नि. ४/ ४८)

उदावर्त, कम्प, हृद्रोग, ग्रहलोलता (कण्ठ या श्वासमार्ग में अवरोध उत्पन्न होना), सभी प्रकार के पदार्थ खाने की इच्छा होना, शूल, शोष, कास, श्वास आदि उपद्रव वातज प्रमेह में उत्पन्न होते है ।

मूत्र-वर्ण-दोष संबंध :-

वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं यथास्वदोषं भजते प्रमेहः ।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो
मज्जादिसाद्गुण्यमुपैत्यसाध्यः ।।

(च. चि. ६/१२)

- मूत्र में वर्ण, रस, स्पर्श और गंध यह विकृती दोष प्राधान्यता के अनुसार उत्पन्न होती है ।
- वात दोष से मूत्र श्याव-अरुण वर्ण का, शूलयुक्त होता है।
- मज्जा, लसीका तथा ओज इनके गुणों से वात दोष संयुक्त होने से प्रमेह असाध्य हो जाता है ।

प्रमेह का साध्यासाध्यत्व :-

साध्याः कफोत्थाा दश, पित्तजा षड् याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः ।
समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ।।

(च. चि. ६/७)

कफज :-ते दशप्रमेहाः साध्याःस्थानकत्वात्,
कफस्य प्राधान्यात्; समक्रियत्वाच्च ।।

(च. नि.४/११)

पित्तज :- सर्व एव ते याप्याः, संसृष्टदोषमेदः
स्थानत्वाद् विरुद्धोपक्रमात्वाच्चेति ।।

(च. नि.४/२६)

वातजः- इमाश्चतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचक्षते
भिषजः, महात्ययिकत्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ।।

(च. नि.४/३८)

- समक्रियता के कारण कफज प्रमेह साध्य होता है ।
- विरुद्धोपक्रम के कारण पित्तज प्रमेह याप्य होता है ।
- महात्ययत्वात के कारण वातज प्रमेह असाध्य होता है ।

सपूर्वरुपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः ।
साध्याः न ते पित्तकृतास्तु याप्याः, साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ।।

(च. चि. ६/५६)

सपूर्वरुपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः ।
साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्याः साध्यास्तु मेदो
यदि नातिदुष्टम् ।।

(अ.हृ.नि.१०/४१)

पुर्वरुप के साथ उत्पन्न वातज, पित्तज और कफज प्रमेह असाध्य हो जाते है । सामान्यतः पित्तज प्रमेह याप्य होता है । यदि पित्तज प्रमेह में मेद धातु की दुष्टि नहीं होती है तो वह साध्य होता है ।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति
तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ।।

(च. चि. ६/५७)

बीज दोष से अर्थात माता-पिता प्रमेह व्याधी से पीडित होने से उत्पन्न हुआ प्रमेह असाध्य होता है । सभी प्रकार के कुलज विकार असाध्य होते है ।

प्रमेह के असाध्य लक्षण:-

यथोक्तोद्रवाविष्टमतिप्रस्नुतमेव च ।
पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ।।

(सु. सू. ३३/ ८)

गुल्मी च मधुमेहीच राजयक्ष्मी च यो नरः ।
अचिकित्सा भवन्त्येते बल-मांसपरिक्षयात् ।।

(च.इं. ९/८)

व्यक्ति का अगर मांस या बल क्षीण होने से गुल्म, मधुमेह और राजयक्ष्मा ये रोग असाध्य होते है ।

प्रमेह के उपद्रव :-

उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां
तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः
पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यदयश्च तत्प्रसङ्गाद् भवन्ति ।।

(च. नि.४/४८)

तृष्णा, अतिसार, ज्वर, दौर्बल्य, अरोचक, अविपाक, पूतिमांस, पिडका, अलजी तथा विद्रधी आदि प्रमेह के उपद्रव है ।

प्रमेह के अरिष्ट :-

मन्दोत्साहमतिस्थुलमितिस्निग्धं महाशनम् ।
मृत्युः प्रमेहरुपेण क्षिप्रमादाय गच्छति ।।
यस्त्वाहारं शरीरस्य धातुसाम्यकरं नरः ।
सेवते विविधाश्चान्याश्चेष्टाः स सुखमश्नुते ।।

(च. नि.४/५१-५२)

स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन् गृघ्नन्ति मक्षिकाः ।
स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते ।।

(च. इं. ५/ १६)

प्रमेह से पिडीत व्यक्ति ने स्नान करने के पश्चात चंदन लगाने पर भी उसके शरीर पर मक्खीयाँ बैठती है, तो वह प्रमेह मारक होता है ।

प्रमेह के स्वप्न संबंधीत अरिष्टः-

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सहः यः पिबेत् ।
बध्यते स प्रमेहण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ।।

(च. इं. ५/ १७)

अगर चाण्डाल के साथ मद्यपान प्राशन कर रहा है, ऐसा स्वप्न दर्शन होता है, तो प्रमेह होने से मृत्यु निश्चित ही होती है।

प्रमेह और रक्तपित्त का भेद :-

हारिद्रवर्णं रुधिरं मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरुपैः ।
यो मूत्रयेत् तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः।।
दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः ।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् सन्तर्पणाद् वा कफसम्भवः स्यात् ।।

(च. चि. ६/५४-५५)

प्रमेह के पुर्वरुप अगर दिखलाई नहीं देते है और हारिद्र-रक्त वर्ण की मूत्र प्रवृत्ति अगर होती है तो उसे प्रमेह न समझकर रक्तपित्त समझना चाहिए ।

प्रमेह ग्रस्त व्यक्ति में अगर मधुर, सपिच्छ और मधु के समान मूत्र दिखलाई दे तो निम्न दो प्रकार के अनुमान लगाए जा सकते है ।

१) दोषों तथा दूष्यों (मेद आदि)के क्षीण होने से यह वातज प्रकार का हो सकता है ।

२) संतपर्णजन्य आहार-विहार सेवन से कफज प्रकार का प्रमेह हो सकता है ।

प्रमेह प्रकरण समाप्त

मद (मद्यजन्य)

26

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह	मा. नि.
चि. २४	उ.तं. ४७	नि. ०६	नि. ०६	१८

मद्यजन्य मद व्याख्या :-

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् ।
विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ।।
जायन्ते मोहनिद्रान्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
स मद्यविभ्रतो नाम्ना मद इत्यभिधीयते ।।

(च. चि. २४/३९-४०)

अत्याधिक मात्रा में मद्यपान सेवन करने से मद्य के गुण हृदय में प्रविष्ट होते है । इसके परिणाम से रोमहर्ष, रति (प्रीति), सुख (आनंद की अनुभूति), मोह (विचार शक्ति का अभाव), निद्रा, तथा राजस एवं तामस भावों का उदय होता है अथवा होने लगता है । इस मद्यजनित विभ्रम अवस्था को मद कहते है ।

मद के परिणाम :-

मदेन करणानां तु भावान्यत्वे कृते सति ।
निगुढमपि भावं स्वं प्रकाशीकुरुतेऽवशः ।।

(सु.उ.४७/१०)

मद्य के प्रभाव के कारण मनुष्य अपने प्राकृत स्वभाव को छोड़कर भिन्न प्रकार आचरण करने लगता है ।

मद्य के प्रभाव से विवश होकर वह गुप्त बातों को प्रकट कर देता है।

मद के प्रकार:-

ग्रंथकार	मद के प्रकार की संख्या
सुश्रुत	**३**
चरक, मा. नि.	**४**

त्र्यवस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः ।

सुश्रुत

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः ।
प्रथमो मध्यमोऽन्त्यश्च लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ।।

(च. चि. २४/४१)

अति मद्यपान से तीन प्रकार के मद उत्पन्न होते है । इन्हें मद की तीन अवस्था समझने चाहिए ।

चरक	सुश्रुत
१) प्रथम मद	१) पूर्व मद
२) मध्यम मद	२)मध्य मद
३)अन्त्य मद	३) पश्चिम मद

पूर्व (प्रथम) मद के लक्षण :-

पूर्वे वीर्यरतिप्रीतिहर्षभाष्यादिवर्धनम् ।।

(सु. उ. ४७/११)

पूर्व मद की अवस्था में वीर्य, रति, हर्ष, भाषण आदि भावों की वृद्धि हो जाती है । जो शरीरवर्धन, बुद्धि एवं ज्ञान आदि के लिए लाभदायक होती है ।

मध्यम (द्वितीय) मद के लक्षण :-

प्रलापो मध्यमे मोहो युक्तायुक्तक्रियास्तथा ।

(सु. उ. ४७/१२)

- मध्यम मद की अवस्था में मोह उत्पन्न होता है ।
- सारासार विवेक बुद्धि नष्ट होने से योग्य या अयोग्य भावों का आकलन नहीं होता ।

पश्चिम (तृतीय) मद के लक्षण :-

विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणः ।।

(सु. उ. ४७/१२)

- तृतीय मद की अवस्था में संज्ञानाश होता है ।
- हस्त-पादादि की क्रियाहानि हो जाती है ।

प्रथम मद अवस्था के लक्षण :-

बुद्धि-स्मृति-प्रीतिकरः सुखश्च पानान्न-निद्रा-रतिवर्धनश्च ।
सम्पाठ-गीत-स्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि।।

(मा. नि. १८/ ७)

तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्मद्यं मन्दादीनोजसो गुणान् ।
दशभिर्दश सङ्क्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ।।

(अ. हृ. नि.६/३)

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः ।

वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः ।।
न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः ।
सुखनिद्राप्रबोधनश्च प्रथमः सुखदो मदः ।।

(च. चि. २४/४२-४३)

उचित मात्रा में मद्यपान सेवन करने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। प्रथम मद की इस अवस्था में निम्न लक्षण युक्त होती है ।

- सुखानुबंध (प्रहर्षण) और प्रसन्नता की वृद्धि होती है।
- जाठराग्नि वर्धक होने से अन्न तथा पेय पदार्थों के सेवन में रुचि बढ़ जाती है ।
- वाद्य बजाने की रुचि पैदा होती है ।
- स्वर-पढ़न-गायन, हास्य की प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती है ।
- कथाओं को सुनने-सुनाने का प्रेरक होता है ।
- बुद्धि, स्मृति का वर्धन होता है ।
- इन्द्रिय अपने विषय सेवन करने के अधिक सक्षम हो जाते है।
- सुख पुर्वक निद्रा उत्पन्न होती है ।
- प्रथम मद की यह अवस्था सुखकारक होती है ।

द्वितीय मद अवस्था के लक्षण :-

अव्यक्तबुद्धि-स्मृति-वाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्य-निद्राभिहतो मुहुश्च मद्येन मत्तः पुरुषो मदेन ।।

(मा. नि. १८/ ८)

.....द्वितीये तु प्रमादायतने स्थितैः ।
दुर्विकल्पहतो मूढः सुखमित्यधिमुच्यते ।।

(अ. हृ. नि.६/४)

मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहोऽव्यक्ता सज्जति वाङ्मुहुः ।
युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रचलायनमेव च ।।
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजना स्वविपर्यया ।
लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ।।

(च. चि. २४/४४-४५)

- प्रथम मद से अधिक मात्रा में अगर मद्य सेवन होता है तो मध्यम मद की अवस्था उत्पन्न होती है । यह अवस्था निम्न लक्षण युक्त होती है ।
- कभी स्मृति ठिक रहती है कभी स्मृति का नाश हो जाता है।
- इस स्थिती को प्रमाद (पागलपन) कहा है ।
- वह असंबध प्रलाप करने लगता है ।
- जो कहने नहीं चाहिए ऐसी गुप्त बातें भी वह बोल देता है ।
- शिर को इधर-उधर घूमाने लगता है ।
- उसे भ्रम आ जाता है ।
- उठ़ना-बैठ़ना, खाना-पीना, बात-चीत, चलना आदि शरीर की क्रियाओं का क्रम बदल जाता है, उस पर नियंत्रण नहीं रहता है ।
- सही और गलत दोनों प्रकार की घटनाऐं उसके द्वारा होने लगती है ।
- इस अवस्था में व्यक्ति मुढ़ या विवेकशुन्य हो जाता है ।

द्वितीय और तृतीय मद के संधि स्थिती में उत्पन्न होनेवाले लक्षण :-

मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमाप्राप्य चोत्तमम् ।
न किंचिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ।।
को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम् ।
गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ।।

(च. चि. २४/४६-४७)

मध्यमोत्तमयोः सन्धिं प्राप्य राजसतामसः ।
निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः ।।
इयं भूमिवद्यानां दौः शील्यस्येदमास्पदम् ।
एकोऽयं बहुमार्गाया दुर्गतेर्देशिकः परम् ।।

(अ. हृ. नि.६/५-६)

- द्वितीय मद समाप्त होने के पहले और अंतिम मद की शुरुवात की अवस्था के बीच एक विशिष्ट स्थिती पैदा होती है।
- इस स्थिती में रज और तम दोष प्रधान पुरुष द्वारा समस्त कुकर्म हो जाते है ।
- उसके लिए कोई भी कुकृत्य शेष नहीं रहता है।
- इस कारण से विवेकशील पुरुष मद्यपान करने इच्छा नहीं रखता।
- चिता, सर्प, बाघ, दुष्टगज आदि में जैसी हिंस्त्र प्रवृत्ति होती है, वैसी ही प्रवृत्ति इस अवस्था में उत्पन्न हो जाती है । इस लिए **वाग्भटने इसे व्याल** संज्ञा दी है ।
- दुश्चरित्रता आदि का निवास स्थान इस अवस्था में बन जाता है।
- यह अकेली ऐसी आवस्था है जो अनेक मार्गों से घिरकर आने वाले दुर्गतियों के तरफ ले जानेवाली होती है ।
- जिस तरह कण्टकादी युक्त मार्ग को क्रमण करना दुःखदायक होता है, उसी तरह मद्यपान भी क्लेशकारक होता है ।

तृतीय मद अवस्था के लक्षण :-

गच्छेदगम्यान्न गुरुंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।

ब्रुयाच्च गुह्यानि ह्वदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ।।

(मा. नि. १८/ ९)

निचेष्टः शववच्छेते तृतीये मदे स्थितः ।
मरणादपि पामात्मा गतः पापतरां दशाम् ।।

(अ. ह्व. नि.६/७)

तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ।।
रमणीयान् स विषयान्न वेत्ति न सुह्वज्जनम् ।
यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ।।
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम् ।
यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद्बुधः ।।
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाग्राह्य एव च ।
व्यसनित्वारदुर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते ।।

(च. चि. २४/४८-५१)

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ।।
को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ।
बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ।।

(मा. नि. १८/ १०-११)

- तृतीय मद की अवस्था में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।
- व्यक्ति स्थिती टुटी हुई लकड़ी के समान निष्क्रिय हो जाती है ।
- वह कोई भी कार्य करने के लायक नहीं रहता है ।
- मद और मोह से वह आवृत्त होने से मृतवत हो जाता है ।
- रमणीय (मन बहलाने वाली) बातों का भी उसे आकर्षण नहीं रहता है ।
- वह अपने मित्र या शुभ चिंतको भी पहचान नहीं पाता है ।
- जिस रति/सुख प्राप्ति के लिए वह मद्यपान करता है उसे वह प्राप्त नहीं कर सकता ।
- क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए (कार्याकार्य) इसका अभाव रहता है ।
- सुख-दुःख, हित-अहितकर को वह समझ नहीं पाता है ।
- इस स्थिती से पिडीत व्यक्ति की समाज में निंदा होती है ।
- वह अग्राह्य अर्थात किसी कार्य में लेने के लिए योग्य नहीं रहता है ।
- व्यसनाधिनता के कारण वह दुःख दायक मदात्यय व्याधी से ग्रस्त हो जाता है ।
- **माधवकर ने** इस अवस्था को चतुर्थ मद नाम दिया है।

मद्य सेवन का निषेध :-

धर्माधर्मं सुखं दुःखमर्थानर्थं हिताहितम् ।
यदासक्तो न जानाति कथं तच्छीलयेद्बुधः ।।

(अ. ह्व. नि. ६/ ८)

मद्यपान से धर्म और अधर्म, सुख और दुःख तथा हित और अहित इनकों समझने की बुद्धि या विवेक को व्यक्ति खो बैठता है इस लिए मद्यपान निषद्य कहा है ।

मद्य के दुर्गुण से होनेवाले विकार :-

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रिताः ।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ।।
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधु यत् ।

(अ. ह्व. नि. ६/ ९-१०)

- मद्य के आश्रय से मोह, भय, शोक, क्रोध, तथा मृत्युकारक दुर्गुण पहले से ही रहते है ।
- मद्यसेवन से उन्माद, मद, मूर्च्छा, अपस्मार तथा अपतानक आदि रोग हो जाते है ।
- इसके अतिरिक्त स्मृतिभ्रंश भी हो जाता है ।
- इन कारणों से इसे सर्व अहितकरों में अत्याधिक अहितकर कहा है ।

मद्यजन्य मद प्रकरण समाप्त

मदात्यय

27

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
चि. २४	उ. ४७	नि. ६	१८

व्याख्या :-

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः ।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ।।

(मा. नि. १८/ १)

विष के सभी गुण मद्य में अधिष्ठित होते है। मद्य का अगर मिथ्या उपयोग हुआ या किया गया तो वह उग्र स्वरुप का मदात्यय रोग उत्पन्न करता है ।

मदात्यय के प्रकार :-

वातात्पित्तात्कफात्सर्वैश्चत्वारः स्युर्मदात्ययाः ।
सर्वेऽपि सर्वैर्जायन्ते व्यपदेशस्तु भूयसा ।।

(अ. हृ. नि.६/१४)

मदात्यय के चार प्रकार होते है ।

१) वातज	२) पित्तज	३) कफज	४)सान्निपातज

पानात्यय के सामान्य लक्षण :-

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रमोहो हृदयव्यथा ।
विड्भेदः प्रततं तृष्णा सौम्याग्नेयो ज्वरोऽरुचिः ।।
शिरः पार्श्वास्थिरुक्कम्पो मर्मभेदस्त्रिकग्रहः ।
उरोविबन्धस्तिमिरं कासः श्वासः प्रजागरः ।।
स्वेदोऽतिमात्रं विष्टम्भः श्वयथुश्चित्तविभ्रमः ।
प्रलापश्छर्दिरुत्क्लेशो भ्रमो दुःस्वप्नदर्शनम् ।।

(अ. हृ. नि.६/१५-१७)

शरीरदुःखं बलवत् समोहो हृद्यव्यथा ।
अरुचिः प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणाः ।।
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां विद्युत्तुल्या च वेदना ।
जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः ।।
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः ।
शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः ।।
छर्द्यतीसारहृल्लासा वातपित्तकफात्मकाः ।
भ्रमः प्रलापो रुपाणामसतां चैव दर्शनम् ।।
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम् ।
प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते ।।
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च ।
मदात्ययस्य रुपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत् ।।

(च. चि. २४ /१०१-१०६)

मदात्यय के सामान्य लक्षण निम्न है ।

- सर्वांगशूल एवं हृद्शुल एवं मर्मभेदवत् पीडा उत्पन्न होती है ।
- मोह अर्थात ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का सत्य ज्ञान नहीं होता।
- अरुचि, अग्निमांद्य, तृष्णा एवं जृम्भाधिक्य ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- कभी दाह पूर्वक या कभी शीत पूर्वक ज्वर उत्पन्न होता है ।
- शिर-पार्श्व-अस्थि में विद्युत आघात के समान शूल और उत्पन्न कंप उत्पन्न होता है ।
- गात्रों में सर्वांग स्फुरण (फड़कना) और वेपन (कंप) उत्पन्न होता है ।
- कर्ण-मुख-नेत्र इनके रोग उत्पन्न होते है ।
- श्रम (थकावट), उरोविबंध (उरःस्थान में जखड़न), कास, हिक्का, श्वास, अनिद्रा, छर्दि, अतिसार या विबंध, शोथ, उत्क्लेश, हृल्लास, भ्रम, प्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।
- तृण-भस्म-लता-पर्ण-पांशु (धूल) आदि से स्वयं के शरीर को आवृत्त हो गया है।
- पक्षीयों द्वारा भयभीत हो गया है । ऐसे अशुभ स्वप्न देखने से व्याकुल हो जाता है । इस प्रकार के भयप्रद अनुभवों से उसका चित्त भ्रमित हो जाता है ।

वातज मदात्यय के हेतू :-

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्शितः ।
रुक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया ।।
रुक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च ।
करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ।।

(च. चि. २४ /८९-९०)

वातज मदात्यय के हेतू निम्न प्रकार से है ।

- अतिमैथुन करना ।
- हमेशा भय से पीडित रहना ।
- अध्वगमन अर्थात निरंतर पैदल चलना ।
- अपने शक्ति से जादा भार वहन करना ।
- निरंतर अत्याधिक शारीरिक श्रम के काम करना ।
- रुक्ष-अल्प-प्रमित (मात्रा में कम) आहार सेवन करना ।
- रुक्ष तथा परिणत (पुरानी और पूर्ण शक्तिशाली) मदिरा (मद्य) का सेवन करने से वातज मदात्यय उत्पन्न हो जाता है ।

वातज मदात्यय के लक्षण :-

स्तम्भाङ्गमर्दहृदयग्रहतोदकम्पाः पानात्ययेऽनिलकृते शिरसो रुजश्च ।

(सु.उ.४७/१८)

हिक्का-श्वास-शिरःकम्प-पार्श्वशूल-प्रजागरैः ।
विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ।।

(च. चि. २४/ ११) (मा. नि. १८/ १६)

विशेषाज्जागरश्वासकम्पमूर्धरुजोऽनिलात् ।
स्वप्ने भ्रमत्युत्पतति प्रेतैश्च सह भाषते ।।

(अ. हृ. नि.६/१८)

- बहु-प्रलाप, हिक्का, श्वास, शिरःकम्प, पार्श्वशूल, प्रजागरण, स्तम्भ, अंगमर्द, हृदयग्रह, तोद, सर्वांगकम्प ये लक्षण वातज मदात्यय के है ।
- स्वप्न में स्वयं घुमता हुआ देखना, उपर की ओर उछलता हुआ देखना तथा और प्रेतो के साथ बातें करना ये वातज मदात्यय के लक्षण वाग्भट द्वारा अधिक कहे है ।

पित्तज मदात्यय के हेतू :-

तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लं च योऽतिमात्रं निषेवते ।
अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्न्यातपप्रियः ।।
तस्योपजायते पित्ताद्विशेषेण मदात्ययः ।

(च. चि. २४ /१२-१३)

- तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल गुणों के पदार्थों का अधिक सेवन करना।
- अत्याधिक क्रोध करना ।
- अग्नि के सम्पर्क में काम करना या धूप (आतप सेवन) में काम करना ।

उपरोक्त हेतुओं के साथ अगर तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल गुणों के मद्य का अधिक सेवन किया जाता है तो पित्तज मदात्यय उत्पन्न होता है ।

पित्तज मदात्यय के लक्षण:-

स तु वातोल्बणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा ।
तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ।।

(च. चि. २४ / १३-१४)

स्वेदप्रलापमुखशोषणदाहमूर्च्छाः पित्तात्मके वदनलोचनपीतता ।।
तृष्णा-दाह-ज्वर-स्वेद-मोहातीसार-विभ्रमैः ।

(सु.उ.४७/१८)

विद्याद्हरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ।।

(च. चि. २४/ १४) (मा. नि. १८/ १७)

पित्ताद्दाहज्वरस्वेदमोहातीसारतृड्भ्रमाः ।
देहो हरितहारिद्रो रक्तनेत्रकपोलता ।।

(अ. हृ. नि.६/१९)

- यह पित्तज मदात्यय अगर वात प्रधान प्रकृति के रुग्ण को होता है तो वह शीघ्र शांत होता है या उसे शीघ्र मार डालता है ।
- शरीर हरित-हारिद्र वर्ण का होना ।
- नेत्र तथा कपोल आरक्त वर्ण का होना ।
- तृष्णा, दाह, ज्वर, स्वेदाधिक्य, मूर्च्छा, अतिसार, मुखशोष, प्रलाप एवं विभ्रम ये पित्तज मदात्यय के लक्षण है ।

कफज मदात्यय के हेतू :-

तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा ।
मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ।।
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः ।
मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति ।।

(च. चि. २४ /१५-१६)

- व्यायाम न करना ।
- दिवास्वाप, अधिक समय तक शय्या या आसन सुख (एक जगह बैठना) का उपभोग लेना ।
- मधुर, स्निग्ध तथा गुरु आदि कफकर द्रव्यों का सेवन करना ।

उपरोक्त हेतूओं का सेवन करनेवाले व्यक्ति ने नवान्नपान, मधुर, गुड़ तथा पिष्टमय पदार्थ से निर्मीत मद्य का सेवन अधिक मात्रा में किया तो उसे शीघ्र ही कफज मदात्यय हो जाता है।

कफज मदात्यय के लक्षण :-

छर्द्यरोचकहृल्लासतन्दरास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रयं मदात्ययम् ।। (च. चि. २४ /१७)

श्लेष्मात्मके वमथुशीतकफप्रसेकाः .... ।

(सु. उ. ४७/१८)

छर्द्यरोचक -हृल्लास-तन्द्रा-स्तैमित्य-गौरवैः ।

विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ।।

(च. चि. २४/ ९७) (मा. नि. १८/ १८)

श्लेष्मणा छर्दिहृल्लासनिद्रोदर्दाङ्गगौरवम् ।

(अ. हृ. नि.६/२०)

कफज मदात्यय के कारण छर्दि, अरोचक, हृल्लास, तन्द्रा, स्तैमित्य, गौरव, निद्राधिक्य तथा शीतानुभूति ये लक्षण उत्पन्न होते है।

सन्निपातज मदात्यय :-

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत् ।

ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ।।

(सु. उ. ४७/१८)

सर्व मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषं ।

(च .चि. २४/ ९८-१०७)

सर्वजे सर्वलिङ्गत्वम्......। (अ. हृ. नि.६/२०)

- सन्निपातज मदात्यय त्रिदोष प्रकोपक हेतू से उत्पन्न होता है।
- इसमें तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण उत्पन्न होते है ।

मदात्यय की त्रिदोष प्रधानता :-

तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये ।

दृश्यते रुपवैशेष्यात् पृथक्त्वं चास्य लक्ष्यते ।।

(च. चि. २४ /१००)

सभी प्रकार के मदात्यय में त्रिदोषज लक्षण उत्पन्न होते है लेकिन दोष प्राधान्यता के अनुसार वातादि दोषों के अनुसार प्रथक् प्रथक् लक्षण भी उत्पन्न होते है ।

निरन्न मद्यपान के परिणामः-

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम् ।

उत्पादयेत् कष्टतमान्विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम् ।।

(सु. उ. ४७/१४)

आहार सेवन न करते हुए अगर मद्यपान किया जाता है तो उससे शरीर में अत्यन्त कष्टतम विकार उत्पन्न होते है । इन विकारों से शरीर नष्ट हो जाता है ।

(अविधीवत) मद्यपान से होनेवाले विकारों के कारण :-

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन ।

व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ।।

अत्यम्लभक्ष्यावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन ।

उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्य विविधान्

विकारान्।। (सु.उ.४७/१५-१६)

निम्न प्रकार के हेतू सेवन करने पर मद्य सेवन करने से मद्यपानजन्य विकार उत्पन्न होते है ।

- क्रोध, भय, तृष्णा, शोक और क्षुधा इनसे पीडित रहना ।
- व्यायाम, भारवहन, चंक्रमण, वेगावरोध आदि वातप्रकोपक हेतूओं का सेवन करना ।
- अत्याधिक अम्ल रस प्रधान द्रव्यों का सेवन करना ।
- अग्नि या आतप सेवन करना ।
- भुक्त अन्न का सम्यक् परिपाक न होने से अजीर्ण रहना ।
- शारीरिक बल का विचार न करते हुए मद्य सेवन करना ।

मद्यजन्य विकार :-

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा ।

पानविभ्रममुग्रं च तेषा वक्ष्यामि लक्षणम् ।।

(सु.उ.४७/१७)

अतिमद्यपान सेवन से निम्न विकार उत्पन्न होते है ।

१)परमद	२) पानाजीर्ण	३) पानविभ्रम

परमद :-

ऊष्माणमङ्गगुरुतां विरसाननत्वं

श्लेष्माधिकत्वमरुचिं मलमूत्रसङ्गम् ।

लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञास्तृष्णां रुजां

शिरसि सन्धिषु चापि भेदम् ।।

(सु.उ.४७/१९)

परमद में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- शरीर की उष्णता अधिक बढ़ जाती है ।
- **कफाधिक्य** के कारण अंगगौरव, आस्यवैरस्य, अरुचि, मल तथा मूत्र का अवरोध उत्पन्न होता है ।
- तृष्णाधिक्य, शिरःशूल, तथा संधियों में भेदवत् वेदना उत्पन्न होती है ।

पानाजीर्ण :-

आध्मानमुद्गिरणमम्लसो विदाहोऽजीर्णस्य पानजिनतस्य वदन्ति लिङ्गम् ।।

ज्ञेयानि तत्र भिषजा सुविनिश्चतानि पित्तप्रकोपजनितानि च कारणानि । (सु.उ.४७/२०)

- यह **पित्त प्रकोपक** हेतूओं से उत्पन्न होता है ।
- अम्ल उद्गिरण अर्थात् मुख में अम्ल स्वाद तथा उरः और कण्ठ में दाह उत्पन्न होता है ।

- अन्न का विदाह उत्पन्न होता है ।
- आध्मान एवं अजीर्ण आदि पित्त प्रकोपक लक्षण उत्पन्न होते है ।

पानविभ्रम :-

हृद्गात्रतोदवमथुज्वरकण्ठधूममूर्च्छाकफस्त्रवणमूर्धरुजो विदाहः ।।
द्वेषः सुरान्नविकृतेषु च तेषु तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीरा : ।
(सु.उ.४७/२१)

पानविभ्रम में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- हृदय और शरीर में सुचीवेधवत वेदना उत्पन्न होती है।
- मुख से कफ का स्त्राव बहते रहता है ।
- च्छर्दि, ज्वर, कण्ठ धूमायन, मूर्च्छा, शिरःशूल उत्पन्न होता है ।
- अन्न का विदाह होता है ।
- अन्न तथा मद्य से बने पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है ।

मदात्यय का साध्यासाध्यता:-

हीनेत्तरौष्ठमतिविशीतममन्ददाहं
तैलप्रभास्यमति(पि)पानहतं विजह्यात् ।।
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं पीते च यस्य
नयने रुधिरप्रभे ।   (सु.उ.४७/२२)

निम्न लक्षणों से पीडित व्यक्ति का मदात्यय असाध्य होता है ।

- नींचे का होंठ लटक जाना ।
- शरीर में बाह्यतः शैत्य तथा अभ्यन्तरतः दाह उत्पन्न होना।
- चेहरे पर तेल लगाया है ऐसा दिखना ।
- ओष्ठ, जिह्वा तथा दन्तमांस कृष्ण वर्ण के या नीले वर्ण के होना ।
- नेत्र पीत या आरक्त हो गये होना ।

मदात्यय के उपद्रव :-

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशुलाःकासभ्रमावपि च पानहतं भजते।
(सु.उ.४७/२३)

- हिक्का, ज्वर, छर्दि, कंप, पार्श्वशूल, कास, भ्रम, ये मदात्यय के उपद्रव है ।

ध्वंसक एवं विक्षय (विक्षेपक) :-

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते ।
ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ।।
व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ ।
(च. चि. २४ / १९९)

............मुक्त्वा मद्यं पिबेत्तु यः ।।
सहसाऽनुचितं वाऽन्यत्तस्य ध्वंसकविक्षयौ ।
भवेतां मारुतात्कष्टौ दुर्बलस्य विशेषतः ।।
(अ. हृ. नि.६/२०-२१)

- मद्यपान का त्याग करने के बाद पुनः अति मात्रा में मद्यपान करने से **ध्वंसक और विक्षय** रोग उत्पन्न होते है ।
- इन रोगों के कारण वायु का प्रकोप होने पर रोगी अत्यंत क्षीण तथा दुर्बल हो जाता है ।
- ये अवस्था में अत्यन्त दुःसाध्य होती है ।

ध्वंसक :-

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता ।
तन्द्रा-निद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ।।
(च. चि. २४ / २०१)

ध्वंसके श्लेष्मनिष्ठीवः कण्ठशोषोऽतिनिद्रता ।
शब्दासहत्वं तन्द्रा च ....।। (अ. हृ. नि.६/२२)

- मुख से कफ का स्त्राव आता है ।
- कण्ठशोष, शब्दासहिष्णुता, तन्द्रा एवं निद्राधिक्य उत्पन्न होता है ।

ये ध्वंसक के लक्षण होते है ।

विक्षयः-

हृत्कण्ठरोगः सम्मोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः ।
तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षयलक्षणम् ।।
(च. चि. २४ / २०२)

.....विक्षयेऽङ्गशिरोरुक् ।।
हृत्कण्ठरोगः सम्मोहः कासस्तृष्णा वमिर्ज्वरः ।
(अ. हृ. नि.६/२२)

- हृदय रोग, गल रोग, सम्मोह, छर्दि, अंगरुजा, ज्वर, तृष्णा, कास एवं शिरःशूल ये विक्षय के लक्षण होते है ।
- चरकसंहिता में **विक्षय का विक्षेपक** ऐसा पाठभेद पाया जाता है ।

मदात्यय प्रकरण समाप्त

ऊरुस्तम्भ

संदर्भः-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
चि. २७	**चि. ५**	नि. १५	२४

ऊरुस्तम्भ की व्याख्या:-

ऊरु श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु ।
स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततस्तु सः ।।

(च. चि. २७/ १४)

उरुस्थान में प्रकोपित कफ प्रधान वात एवं पित्त दोषों से शैत्य, स्थैर्य और स्तम्भ उत्पन्न होता है । इसके कारण उत्पन्न उभय पाद की क्रिया हानि को ऊरुस्तम्भ कहते है ।

ऊरुस्तम्भ व्याधी को सुश्रुताचार्य ने आढ्यवात कहा है ।

हेतू :-

स्निग्धोष्णलघुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः ।
द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामाषैः ।।
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः ।।

(च. चि. २७/ ८-९)

शीतोष्ण-द्रव-संशुष्क-गुरु-स्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयास-सङ्क्षोभ-स्वप्न-जागरैः ।।

(अ. हृ. नि. १५/ ४७) (मा. नि. २४ / १)

ऊरुस्तम्भ रोग के निम्न हेतू है ।

- अति स्निग्ध, उष्ण, लघु, शीत, गुरु, द्रव एवं शुष्क ऐसे अन्नपान का सेवन करना।
- दहि, दूध, ग्राम्य, जलज तथा आनूप प्राणीयों का मांस सेवन करना ।
- अत्याधिक पिष्टमय पदार्थों का सेवन करना ।
- दूषित मद्यसेवन करना ।
- दिवास्वाप, अति जागरण, लंघन, अध्यशन, अजीर्णाशन, समशन करना ।
- अत्याधिक परिश्रम करना ।
- क्षोभ, भय तथा वेग विधारण करना ।

ऊरुस्तम्भ की सम्प्राप्ति :-

स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन्मेदसा सह ।
रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरु यात्यधोगैः सिरादिभिः ।।
पूरयन् सक्थिजङ्घोरु दोषो मेदोबलोत्कटः ।
अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ।।
महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा ।
तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः ।।

(च. चि. २७/ १०-१२)

सश्लेष्म-मेदः पवनः साममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरु चेत् प्रतिपद्यते ।।

(अ. हृ. नि. १५/ ४८)

हेतू सेवन से अग्निमांद्य

कोष्ठ में संचित स्निग्ध गुण भूयिष्ठ आम का मेदधातु के साथ संयोग

वात और पित्त दोष का अवरोध

गुरु गुण के संचित आम से संयुक्त मेद का अधोगामी सिराओं के मार्फत शीघ्रता से ऊरु स्थान में स्थानसंश्रय

मेद धातु के अवरोध से प्रकोपित हुए वातादि दोषों से सक्थि, जंघा तथा ऊरु स्थान में अविधेयपरिस्पन्द इस लक्षण की उत्पत्ति

रोगी के शक्ति का ह्रास

ऊरु की आंकुचण-प्रसारण-विवर्तन आदि कर्म का ह्रास

ऊरुस्तंभ व्याधी की उत्पत्ति
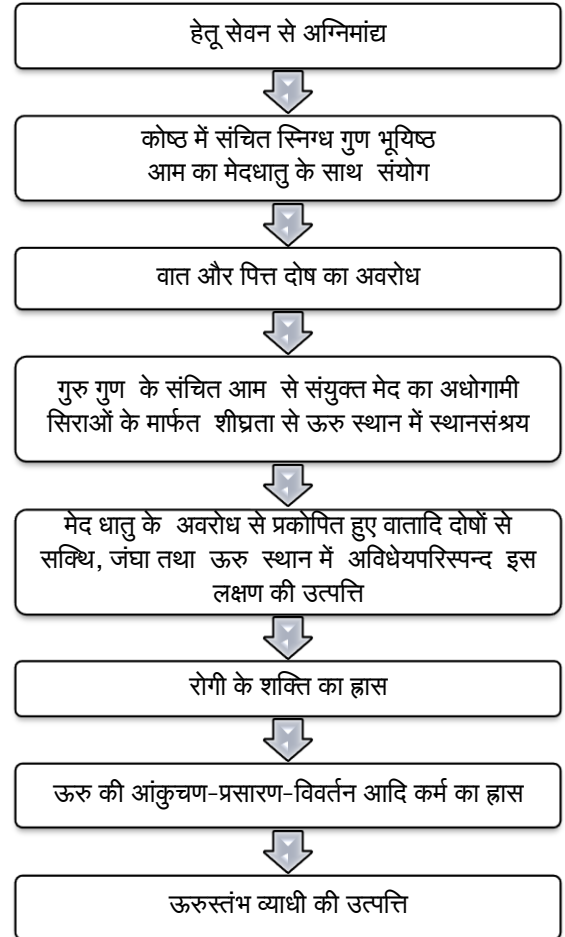
कोष्ठ में संचित स्निग्ध गुण से भूयिष्ठ आम (कफ) मेदधातु के साथ संयुक्त होकर वात और पित्त दोष को अवरोधित कर देता है । **गुरु स्वभाव** के कारण संचित हुआ से यह आम मिश्रित मेद पैर की

ओर अधोतः जानेवाली सिराओं से शीघ्रता से ऊरु स्थान में प्रविष्ठ हो जाता है। मेद धातु के बल से प्रकोपित हुए वातादि दोष अपने प्रभाव से सक्थि, जंघा तथा ऊरु इन स्थानों में **अविधेयपरिस्पन्द** (मन की इच्छा होने पर भी उठने, चलने, फिरने बैठने आदि क्रियायों में अक्षम होना ।) उत्पन्न कर देते है । इस कारण से रोगी शक्तिहीन हो जाता है।

जल से भरे हुए बहुत बडे और गहरे तालाब के पानी जैसे स्थिर रहता है, वैसे ही ऊरु-प्रदेश में पहुँचा हुआ कफ स्थिर रहता है और इसके कारण ऊरु अक्षोभ्य (क्रियाहिन) हो जाता है, अर्थात ऊरु की आंकुचण-प्रसारण- विवर्तन आदि क्रियायें नहीं होती ।

ऊरुस्तम्भ के प्रकार :-

एक ऊरुस्तम्भ इत्यामत्रिदोषसमुत्थः । (च.सू. १९/८)

ऊरुस्तम्भ सन्निपातज होकर उसका एक ही प्रकार होता है ऐसा चरकाचार्य ने कहा है।

ऊरुस्तम्भ के पूर्वरुप :-

प्राग्रुपं ध्याननिद्राऽतिस्तैमित्यारोचकज्वराः ।
लोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा ।।

(च. चि. २७/ १५)

ध्यान (चिंतायों में डुबे रहाना), अतिनिद्रा, स्तिमितता (गीले वस्त्र से लिप्त), अरुचि, छर्दि, रोमहर्ष, जंघा तथा ऊरु में साद उत्पन्न होना ये ऊरुस्तम्भ के पूर्वरुप है ।

ऊरुस्तम्भ के सामान्य लक्षण :-

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाह-वेदने ।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ।।
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यस्येव हि सम्भग्नावूरु पादौ च मन्यते ।।

(च. चि. २७/ १७-१८) (मा. नि. २४/७-९)

कफमेदोवृतो वायुर्यदोरुः प्रतिपद्यते ।
तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः।।
निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ ।
गुरुकावस्थिरावूरु न स्वाविव च मन्यते ।।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ।

(सु. चि. ५/ ३१-३२)

सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तभ्नाति तेनोरु स्तब्धौ शीतावचेतनौ ।।
परकीयाविव गुरु स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्द-स्तैमित्य-तन्द्रा-च्छर्द्यरुचि-ज्वरैः ।।
संयुक्तौ पादसदन-कृच्छ्रोद्धरण-सुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ।।

(अ. हृ. नि. १५/ ४९-५१)

उरुस्तम्भ में निम्न सामान्य लक्षण उत्पन्न होते है ।

- ऊरु-जंघा में ग्लानि (कार्यक्षमता का अभाव) होती है ।
- जमीन पर पैर रखने से अत्याधिक पीड़ा उत्पन्न होती है ।
- शीतादि स्पर्श ज्ञान का पैरों में अभाव होता है ।
- खुद के पैरों पर खड़ा होना, हिलाना, चलना असंभव होती है।
- ऊर्वस्थि में भग्नवत वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।
- किसी दूसरों के पैरों को चलाया जा रहा है ऐसा लगता है ।
- कफ और मेद से आवृत्त वात से अंगमर्द, स्तैमित्य, रोमहर्ष, ज्वर, निद्राधिक्य, चिंताधिक्य, सुप्ति, छर्दि, अरुचि, पादसाद आदि वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।

ऊरुस्तम्भ का साध्यासाध्यत्व :-

यदा दाहार्ति-तोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्, साधयेदन्यथा नवम् ।।

(च. चि. २७/ १९) (मा. नि. २४/ १०)

- दाह, वेदना, कंप इन लक्षणों से युक्त उरुस्तम्भ घातक होता है ।
- उरुस्तम्भ अगर नया हो तो साध्य होता है ।

ऊरुस्तम्भ में पंचकर्म का निषेधः-

तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम् ।
न चैव वमनं यस्मात् तन्निबोधत कारणम् ।।
वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं बस्तिकर्म च ।
तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ।।

(च. चि. २७/ २०-२१)

ऊरुस्तम्भ व्याधी पंचकर्म चिकित्सा करने के लिए अयोग्य कहा है ।

- इसमें स्नेहपान, वमन, विरेचन और बस्ति ये पंचकर्म नहीं कर सकते।
- प्रतिदिन स्नेहन तथा अनुवासन बस्ति से कफ दोष की वृद्धि होने लगती है ।
- ऊरु तथा जंघा स्थान में प्रविष्ट कफ दोष का संशोधन वमन या विरेचन से भी नहीं हो सकता । इस लिए ऊरुस्तंभ पंचकर्म करने के अयोग्य होता है।

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्राद्‌द्धहरणं तथा ।।

(च. चि. २७/ १६)

ऊरुस्तम्भ व्याधी से पिडीत रुग्ण में वात प्रकोप है, ऐसा समझकर अगर स्नेहन कराने से पादसाद (वेदना), पादसुप्ति (संवेदना अभाव), सकष्ट पाद क्रिया ये लक्षण उत्पन्न हो जाते है

ऊरुस्तम्भ प्रकरण समाप्त

सन्धिगत वात

29

संदर्भ :-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
चि. २८	नि. १	**नि. १५**	

संधिगत वात के लक्षण :-

वातपूर्णदृतिस्पर्शं शोफं सन्धिगतोऽनिलः ।।
प्रसारणाकुञ्चनतयोः प्रवृत्तिं च सवेदनाम् ।

(अ. हृ. नि. १५/ १४)

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।

(सु. नि. १/२८)

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले ।
प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ।।

(च. चि. २८/३७)

प्रकोपित वायु से व्याधीग्रस्त संधियों का स्पर्श वायु भरे हुऐ चामड़े के थैली (वातपूर्णदृति) समान लगता है।

संधिशोथ, आंकुचण-प्रसारणादि संधि क्रिया करते समय वेदना उत्पन्न होती है ।

संधिगत वात प्रकरण समाप्त

वातव्याधि

30

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ. हृदय
चि. २८	नि. १	नि. १५

व्याख्या:-

वातव्याधि की व्याख्या स्पष्ट करते हुए विभिन्न मतों का निराकरण किया गया है ।

१) **वात एव व्याधि :**

- वात दोष को ही व्याधी कहना ऐसी व्याख्या करने से वात दोष को ही स्वस्थ व्यक्ति में भी व्याधी मानना होगा, इस लिए यह व्याख्या उचित नहीं है ।

२) **वातजनितो व्याधि:**

- इसका अर्थ ऐसा होता है की, वातदोष से उत्पन्न होने व्याधियों को वातव्याधि कहा जाए ।
- इस व्याख्या से वातदोष के प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले ज्वरादि व्याधियों का भी समावेश हो जाता है। वातव्याधि के स्वतंत्र अस्तित्व का बोध इस व्याख्या से नहीं होता, इस लिए यह व्याख्या ठिक नहीं होती।

वातव्याधि नानात्मज विकार होने के कारण इन्हें इतर व्याधियों से अलग स्वरुप में दर्शाने के लिए विजयरक्षित की माधव निदान की निम्न टीका महत्व पूर्ण है।

वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिरिति विशेषणायं,
तेनोभयत्राप्रसङ्गः ।

(विजयरक्षित)

- वायु द्वारा जो विशेष रुप से उत्पन्न होनेवाली **असाधारण** व्याधी है, उन्हें वातव्याधि कहते है । **असाधारण** का प्रयोग करके ज्वरादि साधारण व्याधियों को वातव्याधि से अलग श्रेणी में रखा है ।

वातव्याधी के हेतू एवं सम्प्राप्ति :-

धातुक्षयकारैर्वायुः कुप्यत्यतिनिषेवितैः।।
चरन् स्त्रोतःसु रिक्तेषु भृशं तान्येव पूरयन् ।
तेभ्योऽन्यदोषपूर्णेभ्यः प्राप्य वाऽऽवरणं बली ।।

(अ. हृ. नि. १५/ ५-६)

रुक्षशीताल्पलघ्वन्नव्ययामातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषास्त्रक्स्त्रवणादति ।
लङ्घमप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचैष्टितैः ।
धातूनां सङ्क्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ।।
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद् दिवास्वप्नाद्भयादपि ।
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ।
देहे स्त्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।।
करोति विविशधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान् ।

(च. चि. २८/१५-१८)

व्याधी नाम	वातव्याधी	
अशांश संप्राप्ति		
दोष	वात	पित्त	कफ
	पाँचों प्रकार	पाचक	तर्पक, श्लेषक
दूष्य	रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, सिरा, कण्डरा		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य, मज्जाधात्वाग्नि		
दुष्ट स्त्रोतस	मज्जावह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग, सिराग्रन्थि अथवा विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	शिर (मस्तिष्क)		
उद्भवस्थान	पक्वाशय		
अधिष्ठान	एकांग अथवा सर्वांग		
संचरण स्थान	मज्जावह, मांसवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	वातव्याधि		
भेद	वातव्याधि के ८० प्रकार		
स्वभाव	चिरकारी		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	दैवयोगात्, नवावस्था, बलवान रोगी, उपद्रव रहित	
	कष्टसाध्य	दोषानुबंधजन्य	
	असाध्य	क्षयजन्य, शुद्धवातज	

- रुक्ष, शीत, अल्प, लघु स्वरुप का अन्न सेवन करना ।
- अतिव्यायाम, रात्रि जागरण, अतिव्यवाय, लंघन, जलतरण, अध्वगमन या अति चंक्रमण करना ।
- शरीर के विषम चेष्टा करना, पंचकर्म के विषम उपचार करना ।
- मल, मूत्र तथा रसादि धातू शरीर से अधिक प्रमाण में निकल जाने से रसादि धातुओं का क्षय होना ।
- अतिसार, च्छर्दि या विसुचिका जैसे रोगों से रसादि धातुओं का क्षय हो जाना ।
- दु:खकर निद्रा लेना जैसे विषम स्थान पर सोना, रात्री जागरण करना, दिवास्वाप करना आदि ।
- क्रोध, भय, वेगसंधारण, अभिघात, अभोजन, मर्माघात आदि वात प्रकोपक हेतूओं का सेवन करना ।
- अग्निमांद्य से आम उत्पत्ति होनेवाला आहार-विहार सेवन करना ।
- हाथी-ऊँट-घोडा आदि शीघ्र गति के वाहन से प्रवास करना या इनसे गिर जाना ।

उपरोक्त कारणों से धातुओं के ह्रास (अवतंसन) होकर शरीर में प्रकोपित हुई वायु बलवान होकर रिक्त हुए स्त्रोतसों का संपुरण कर देती है ।

इस प्रकार स्त्रोतसों को प्राप्त हुई वायु जिन स्थानों में स्थानसंश्रय करती है, उन स्थानों के अनुसार सर्वांग अथवा एकांग स्वरुप के वातव्याधी उत्पन्न करती है ।

वात के नानात्मज विकार ८० होते है । इन वातविकारों का मुख्य कारण शुद्ध वात प्रकोप ही होता है परंतु इसमें इतर दोषों का अनुबंध रह सकता है ।

वातव्याधी के पूर्वरुप:-

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरुपमिति स्मृतम् ।

(च. चि. २८/१९)

वातव्याधी में पूर्वरुप अव्यक्त होते है। इस अव्यक्त के निम्न दो अर्थ हो सकते है। ये दोनों अर्थ वातव्याधि के अनुषंग से उचित होते है।

१) व्यक्त ही न होना ।

२) अल्प प्रमाण में लक्षण दिखलाई देना ।

वातव्याधी के रुप (सामान्य):-

आत्मरुपं तु तद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः

(च. चि. २८/२०)

वातव्याधी में अव्यक्त स्वरुप में जो पूर्वरुप रहते है, वे ही जब प्रकट हो जाते है तो उन्हें रुप कहते है । इन लक्षणों में लघुता (लक्षण कम होना) या अपाय (लक्षण का विनाश) होना, यह विशेषता दिखलाई देती है ।

वातव्याधी में उत्पन्न होनेवाले लक्षण:-

सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि ।।
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ।
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुबज्यत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।।
गर्भरजोशुक्रनाशःस्पन्दनं गात्रसुप्तता ।
शिरोनासाक्षिजत्रुणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।।
भेदस्तोदार्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ।
एवंविधानि रुपाणि करोति कुपिताऽनिलः ।।

(च. चि. २८/२०-२३)

- वात प्रकोप से हस्त-पादादि अवयवों में संकोच उत्पन्न होता है ।
- अवयव की क्रियाओं में स्तम्भ (रुक् जाना) उत्पन्न होता है ।
- अस्थि-पर्वसंधि भेदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- हस्त-पाद-पृष्ठ-शिर आदि संधि स्थानों में ग्रह (जखड़न) उत्पन्न होती है ।
- रोगी लंगड़ते (खंज)चलने लगता है या लुला (पांगुल्य) हो जाता है ।
- पृष्ठवंश में वक्रता (कुब्ज) आती है ।
- सर्वांगशोष उत्पन्न होता है ।
- प्रकोपित वायु गर्भ-शुक्र-रज नाश करता है ।
- अवयवों में स्पन्दन, एवं गात्रसुप्तता उत्पन्न होती है ।
- शिर-नासा-नेत्र-जत्रु-ग्रीवा आदि अवयवों के कार्य की (हुण्डन) कार्य हानि होती है ।
- अंगभेद, तोद, वेदना, आक्षेप, मोह, आयास (थकावट), रोमहर्ष, प्रलाप, अनिद्रता आदि अनेक प्रकार के लक्षण प्रकोपित वायु से उत्पन्न होते है ।

हेतुस्थान विशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत् ।

(च. चि. २८/ २४)

प्रकोपित वायु से स्थान और हेतू विभिन्नता के अनुसार विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते है । वात दोष अगर चल गुण से प्रकोपित होकर कोष्ठ में स्थानसंश्रय करता है, तो आंत्र का क्षोभ करके अतिसार उत्पन्न कर सकता है । रुक्ष गुण से अगर प्रकोपित होकर आंत्र में स्थानसंश्रय करता है, तो मलावष्टंभ उत्पन्न कर सकता है। इस तरह गुण और हेतू के अनुसार एक ही स्थान में अलग-अलग विकार उत्पन्न हो सकते है । स्थान बदलने से, जैसे- शिरः में

प्रकोपित हुआ तो शिरःशूल, संधि में संधिशूल-ग्रह आदि प्रकार से स्थान विशेष नुसार विभिन्न विकार उत्पन्न होते है ।

सर्वांगगत कुपित वात :-

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।।
वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ।

(च. चि. २८/ २५)

गात्र-स्फुरण, अंगभंजन, सर्वांग शूलाधिक्य, संधि-भेदनवत वेदना ये लक्षण प्रकोपित वात सर्वांगगत होने से उत्पन्न होते है ।

आमाशयस्थ वात :-

हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ।

(च. चि. २८/ २७)

आमाशये तृड्वमथुश्वासकासविसुचिकाः ।।
कण्ठोपरोधमुद्गारान् व्याधीनूर्ध्वं च नाभितः ।

(अ. हृ. नि. १५/ ८)

वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान्।
मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ।
(आदि शब्दात् रुजः पार्श्वोदरहृत्स्तम्भतोदादिका ग्राह्याः, अथवा ऊर्ध्वगरक्तपित्तादिकाः।)

(सु. नि. १/२२)

- प्रकोपित वातदोष का आमाशय में स्थानसंश्रय होने से कण्ठ और मुख में शोष, छर्दि, पार्श्व-हृदय-उदर आदि स्थानों में शूल-स्तंभ-तोद-भेदवत् वेदना, मोह, मूर्च्छा, तृष्णा, उद्गार बाहुल्य ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- ऊर्ध्वगत होकर विसूचिका, श्वास, कास, हृद्ग्रह, पार्श्वशूल, रक्तपित्त आदि विकारों को उत्पन्न करता है।

कोष्ठाश्रित वात :-

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते ।

(च. चि. २८/२४)

कोष्ठ में प्रकोपित वायु स्थानसंश्रय करके मल-मूत्र का अवरोध उत्पन्न करता है। इस अवरोध के कारण प्रकोपित हुए वायु से ब्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श एवं पार्श्वशूल आदि विकार उत्पन्न होते है ।

पक्वाशयस्थ वात :-

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् । (च. चि. २८/ २८)
तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहान्त्रकूजनम् ।
मलरोधाश्मवर्ध्मार्शस्त्रिकपृष्ठकटीग्रहम् ।।
करोत्यधरकाये च तांस्तान् कृच्छ्रानुपद्रवान् ।

(अ. हृ. नि. १५/ ६-७)

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभी करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ।

(सु. नि. १/२४)

प्रकोपित हुआ वात पक्वाशय में स्थानसंश्रय करके उदरशूल, आटोप, आन्त्रकुंजन, मलावरोध, मलाश्मता (ग्रंथिल मल प्रवृत्ती), त्रिक-पृष्ठ-कटी ग्रह एवं वेदना, सकष्ट मूत्र-मल प्रवृत्ती, आनाह आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है।

गुदगत वात :-

ग्रहोविण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदस्थिते ।

(च. चि. २८/ २६)

प्रकोपित हुआ वात गुद में स्थानसंश्रय करके मल, मूत्र और अधोवात इनमें अवरोध उत्पन्न करता है।

उदरशूल, आध्मान, अश्मरी उत्पन्न होना, जंघा, ऊरु, त्रिक, पाद और पृष्ठ इनमें शोथ, वेदना तथा शोष उत्पन्न होना ये गुदगत वात के अन्य लक्षण है।

श्रोत्रादिगत वात :-

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् समीरणः ।।

(च. चि. २८/ २९)

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं .... ।। (अ. हृ. नि. १५/ ९)
श्रोत्रादिष्विन्द्रिवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः।।

(सु. नि. १/२४)

कर्ण, नेत्र, नासा, त्वचा, जिह्वा इन पाँच ज्ञानेंद्रियों में जब प्रकोपित वायु स्थित हो जाती है, तब इन सभी इन्द्रियों के कार्यों की हानि हो जाती है, जिसे इन्द्रियवध कहते है।

बाधिर्य :-

यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति ।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ।।

(सु. नि. १/ ८३)

प्रकोपित वात अकेले या कफ से संयुक्त होकर शब्दवह स्रोतस में स्थानसंश्रय करके बाधिर्य विकार को उत्पन्न करता है । इसमें रुग्ण की श्रवणशक्ति कम होती है, या नष्ट जो जाती है ।

कर्णशूल :-

हनुशङ्खशिरोग्रीवं यस्य भिन्दन्निवानिलः ।
कर्णयोः कुरुते शूलं कर्णशूलं तदुच्यते ।।

(सु. नि. १/ ८४)

प्रकोपित वात के कारण हनु, शंख, शिर, ग्रीवा तथा कर्ण इन स्थानों में उत्पन्न हुए शूल को कर्णशूल कहते है ।

मूक (Aphasia), मिन्मिन (Nasal twang) और गद्गद (Stammering):-

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दवाहिनीः ।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिणगद्गदान् ।।

(सु. नि. १/८५)

प्रकोपित वायु कफ से संयुक्त होकर शब्दवाहिनी धमनीयों में आवृत्त हो जाती है । इस कारण वाणी में विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न होते है ।

- अगर शब्द उच्चारण का अभाव होता है, तो उसे **मूकत्व** कहते है ।
- अनुनासिक स्वर निकलते हो तो, उसे **मिन्मिन** कहते है ।
- बोलते समय कुछ शब्दों का उच्चारण होता नहीं, अव्यक्तता रहती है, तो उसे **गद्गद** कहते है ।

त्वक्गत वात :-

त्वग्रुक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ।।

(च. चि. २८/ ३०)

......त्वचि स्फुटनरुक्षते ।। **(अ. हृ. नि. १५/ ९)**

वैवर्ण्य स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमुचुमायनम् ।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ।।

(सु. नि. १/२५)

- त्वचा में प्रकोपित वात का स्थानसंश्रय होने से त्वचा में रुक्षता, वैवर्ण्य, कार्श्य, कार्ष्ण्य, स्फुरण, स्फुटन, सुप्ति, तोदवत वेदना, चिमचिमायन, पाटनवत (त्वचा फटने जैसी) वेदना आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।
- त्वचा में तनाव होता है और आरक्तता हो जाती है ।
- पर्वसंधियों में वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।

ये त्वचागत प्रकोपित वायु के लक्षण है ।

रक्तगत वात :-

रुजास्तीव्रा ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
गात्रे चारुंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ।।

(च. चि. २८/३१)

व्रणांश्च रक्तगो............। (सु. नि. १/२६)

सर्वांगगत तीव्र वेदनाएँ, वैवर्ण्य, कृशता, अरुचि, सर्वांगगत पिटिका, स्तम्भ, व्रण आदि लक्षण रक्तगत प्रकोपित वात से उत्पन्न होते है।

मांस-मेदोगत वात :-

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं तथा ।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ।।

(च. चि. २८/३२)

मांसमेदोगतो ग्रन्थीस्तोदढ्यान् कर्कशान् श्रमम् ।
गुर्वङ्ग चातिरुक्स्तब्धं मुष्टिदण्डहतोपमम् ।।

(अ. हृ. नि. १५/११)

... ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।
तथा मेदःश्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणोन् ।।

(सु. नि. १/२६)

मांसगत तथा मेदगत वात से शरीर गौरव, तोदवत वेदना, डंडों या मुट्ठियों से मारने जैसी वेदना उत्पन्न होती है । शरीर में थकावट (श्रमित) आ जाती है ।

इन लक्षणों के अतिरिक्त वाग्भट और सुश्रुत ने मांसगत प्रकोपित वायु से वेदना युक्त ग्रन्थि उत्पन्न होना और मेद स्थित विकृत वात से व्रण रहित और अल्प वेदना वाली ग्रन्थियाँ पैदा होना कहा है ।

अस्थिगत वात :-

भेदोस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः ।

(च. चि. २८/३३)

अस्थिस्थः सक्थिसन्ध्यस्थिशूलं तीव्रं बलक्षयम् ।

(अ. हृ. नि. १५/ १२)

अस्थिशोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ।।

(सु. नि. १/२८)

अस्थिगत प्रकोपित वायु से सक्थि-सन्धि- अस्थि स्थानों तीव्र वेदना, बलक्षय, अस्थिशोष, अस्थि-प्रभेद ये लक्षण उत्पन्न होते है।

मज्जागत वात :-

अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ।।

(च. चि. २८/३३)

मज्जस्थोऽस्थिषु सौषिर्यमस्वप्नं सन्ततां रुजम् ।।

(अ. हृ. नि. १५/ १२)

तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति ।

(सु. नि. १/२९)

मज्जागत प्रकोपित वायु से संतत रुक् अर्थात कभी न शांत होने वाली वेदना, अस्थि सौषिर्य, अनिद्रा ये लक्षण पैदा होते है।

शुक्रगत वात :-

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ।।

(च. चि. २८/३४)

शुक्रस्य शीघ्रमुत्सर्गं सङ्गं विकृतिमेव वा ।
तद्वद्गर्भस्य शुक्रस्थः ....।। (अ. हृ. नि. १५/ १३)
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले ।।

(सु. नि. १/२९)

प्रकोपित वात शुक्रगत होने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते है।

- मैथुन करने के बाद शुक्र की प्रवृत्ति नहीं होती।
- अति शीघ्रता से या अतिमन्दता से शुक्र प्रवृत्त हो जाता है।
- शुक्र में विकृति उत्पन्न होती है ।
- ग्रथित और वैवर्ण्य युक्त शुक्र उत्पन्न होता है।

सिरागत वात :-

शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पंदते तथा ।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ।।

(च. चि. २८/३६)

......सिरास्वाध्मानरिक्तते ।। (अ. हृ. नि. १५/ १३)
कुर्याच्छिरागतः शूलं शिराकुञ्चनपूरणम् ।

(सु. नि. १/२७)

सिरागत वात से शरीर में मंद वेदना, शोथ, सिराध्मान, शुल, सुप्तता, सिरासंकोच (सिरातनुत्व) और सिरापुरण (सिरा महता) ये लक्षण उत्पन्न होते है।

स्नायुगत वात :-

बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्मेव च ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ।।

(च. चि. २८/३५)

तत्स्थःस्नावस्थितः कुर्यादगृध्रस्यायामकुब्जताः ।

(अ. हृ. नि. १५/ १३)

स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ।।

(सु. नि. १/२७)

स्नायुगत प्रकोपित वात से स्तम्भ, शूल, आक्षेपण, ग्रधृसि, बहिरायाम, अभ्यन्तरायाम, खल्लि और कुब्जता, सर्वांगवात तथा एकांगवात आदि रोग उत्पन्न हो जाते है ।

सन्धिगत वात :-

वातपूर्णदृतिस्पर्शं शोफं सन्धिगतोऽनिलः ।।
प्रसारणाकुञ्चनतयोः प्रवृत्तिं च सवेदनाम् ।

(च. चि. २८/३७), (अ. हृ. नि. १५/ १४)

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।

(सु. नि. १/२८)

संधिगत वायु से वातपूर्णदृति स्पर्श (वायु भरे हुऐ चमड़े के थैली समान स्पर्श), संधिशोथ, आंकुचण-प्रसारणादि संधि क्रिया करते समय वेदना उत्पन्न होना ये लक्षण उत्पन्न होते है।

उपेक्षित वायु के सार्वदैहिक परिणामः-

हस्तपादशिरोधातूंस्तथा सञ्चरति क्रमात् ।
व्याप्नुयाद्वाऽखिलं देहं वायुः सर्वगतो नृणाम् ।।
स्तम्भनाक्षेपणस्वापशोफशूलानि सर्वगः ।
स्थानेषूक्तेषु सम्मिश्राः कुरुते रुजः ।।
कुर्यादवयवप्राप्तो मारुतस्त्वमितान् गदान् ।

(सु. नि. १/ ३०-३१)

- एकांगवात तथा धातुगत वात की उपेक्षा करने से यह प्रकोपित वायु क्रमशः सर्वांगगत तथा सर्वधातुगत हो सकता है ।
- प्रकोपित वात की उपेक्षा करने से वह हस्त, पाद, शिर तथा धातुओं में क्रमशः संचारित हो जाता है ।
- सार्वदैहिक होने पर वह सार्वदैहिक स्तम्भ, आक्षेप, स्वाप, शोथ तथा शूल उत्पन्न कर देता है ।
- स्थानान्तर गमन से वहाँ स्थित अन्य दोषों (कफ या पित्त) के साथ प्रकोपित वायु संसृष्ट हो जाए तो उनके लक्षण भी प्रकट करता है ।

इस तरह से शरीर के विभिन्न अवयवों में वायु का स्थानसंश्रय होने पर वह उस स्थान के अनुसार विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न करता है ।

आक्षेपक रोग :-

यदा तु धमनीः सर्वाः कूपितोऽभ्येति मारुतः ।।
तदाक्षिपत्याशु महुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः।
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ।

(सु. नि. १/५१)

चल गुण से प्रकोपित हुआ वात, शरीर के सभी धमनियों में स्थानसंश्रय करने पर शीघ्र गति से सर्वांग में बार-बार आक्षेप उत्पन्न करता है। देह में बार-बार आक्षेप उत्पन्न होने से इसे आक्षेपक कहते है।

आक्षिपति देहं हस्त्यारुढपुरुषस्येव गात्रं चालयति ।

मधुकोष

हाथी पर बैढ़कर सवारी करने पर जिस तरह झटके देकर शरीर हिलता है, उसी प्रकार की हालचाल रुग्ण के शरीर की आक्षेपक में दिखाई देती है ।

अपतानक :-

सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा।

(सु. नि. १/५२)

य आक्षेपको ऽन्तराऽन्तरा पातयति सोऽपतानकः ।

आक्षेपक में जब आक्षेप रुक-रुक कर आते है, तब उसे अपतानक कहा जाता है। यह आक्षेपक का ही भेद है।

दण्डापतानक :-

कफान्वितो भृशं वायस्तास्वेव यदि तिष्ठति ।।
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः ।

(सु. नि. १/५३)

- यह अपतानक का ही भेद है । कफ से संयुक्त होकर प्रकोपित वायु सभी धमनियों में स्थानसंश्रय करके शरीर को दण्ड की तरह कठोर बना देता है ।
- शरीर में दण्ड़ के समान कठोरता उत्पन्न होने के कारण इसे दण्ड़ापतानक कहते है।
- यह विकार कष्टसाध्य है।

अपतन्त्रक :-

अधः प्रतिहतो वायुव्रजन्नुर्ध्व हृदाश्रिताः ।।
नाडीः प्रविश्य हृदयं शिरः शङ्कौ च पीडयन् ।
आक्षिपेत्परितो गात्रं शनुर्वच्चास्य नामयेत् ।।
कृच्छ्रादुच्छ्वसितिस्तब्धस्त्रस्तमीलितदृक्ततः ।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपन्त्रकः ।।
स एव चापतानाख्यो मुक्त तु मरुता हृदि ।
अश्नुवीत मुहुः स्वास्थ्यं मुहुसरस्वास्थ्यमावृते ।।

(अ. हृ. नि. १५/ १८-२०)

वायुरुर्ध्वं व्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः ।
शङ्खौ च पीडयत्यङ्गान्याक्षिपेन्नमयेच्च सः ।।
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति ।
निरुच्छ्वासोऽथ वा कृच्छ्रादुच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः।।
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुह्यति ।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः ।।

(सु. नि. १/६४-६६)

- प्रकोपित वायु ऊर्ध्वगामी होकर हृदय, शिर तथा शंख प्रदेश को पीडित करती है तो हस्त-पादादि अंगों में आक्षेप उत्पन्न होते है ।
- रोगी हस्त-पाद आदि को शरीर मध्य की ओर संकुचित कर लेता है ।
- नेत्र स्तब्धता एवं निमिलनता, कण्ठकुजन, श्वासकष्टता, संज्ञानाश आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।
- जब वायु हृदय से मुक्त होती है तो चेतना फिर से जागृत होती है और रुग्ण स्वस्थ हो जाता है ।
- फिर से जब कफयुक्त वायु हृदय को आवृत करती है, तो फिर से ये लक्षण पैदा हो जाते है ।
- इस तरह आक्षेप के वेग अपतन्त्रक में आते रहते है ।

अपतन्त्रक की असाध्य अवस्था:-

गर्भपातसमुत्पन्न शोणितातिस्त्रवोत्थितः ।
अभिघातसमुत्थश्च दुश्चिकित्स्यतमो हि सः ।।

(अ. हृ. नि. १५/ २१)

गर्भपातसमुत्पन्न शोणितातिस्त्रवाच्च यः ।
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः ।।

(सु. नि. १/५९)

- गर्भपात, अत्याधिक रक्तस्त्राव एवं आघात के कारण उत्पन्न हुआ अपतन्त्रक रोग कष्टसाध्य या असाध्य होता है ।
- सुश्रुत के अनुसार अपतन्त्रक असाध्य होता है ।

हनुग्रहः-

हनुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्नं कृच्छ्रान्निषेवते ।।

(सु. नि. १/५३)

- दण्डापतानक होने से या स्वतंत्र रुप से हनुसंधि में ग्रह पैदा होता है, तो उसे हनुग्रह कहते है ।
- हनुग्रह होने से हनुसंधि की क्रिया हानि हो जाती है ।

धनुस्तम्भ :-

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ।

(सु. नि. १/५४)

मनुष्य का शरीर धनुष्य की तरह मरोड़ जाता है, तब उसे धनुस्तम्भ कहते है। इसके दो प्रकार होते है।

- शरीर जब अन्दर की ओर मोड़ता है, तब उसे आभ्यन्तरायाम कहते है ।
- बाहर की ओर जब मोड़ता है तब उसे बाह्यायाम कहते है।

आभ्यन्तरायाम :-

अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ।।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ।
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्।।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः।
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली।।

(सु. नि. १/५४-५६)

मन्येसंस्तभ्य वातोऽन्तरायच्छन् धमनीर्यदा ।
व्याप्नोति सकलं देहं जत्रुरायम्यते तदा ।।
अन्तर्धनुरिवाङ्गं च वेगैः स्तम्भं च नेत्रयोः ।
करोति जृम्भां दशनं दशनानां कफोद्गमम् ।।

पार्श्वयोर्वेदना वाक्यहनुपृष्ठशिरोग्रहम् ।
अन्तरायाम् इत्येष ....।।

(अ. हृ. नि. १५/ २२-२४)

- अत्याधिक तीव्र गति से प्रकोपित हुआ वात अंगुली, गुल्फ, जठर, हृदय, वक्ष और गल इन स्थानों में स्थानसंश्रित होकर स्नायुप्रतानों में बलपूर्वक बार-बार संकोच उत्पन्न करके अभ्यन्तर आयाम उत्पन्न करता है।
- इसके परिणाम स्वरुप में आँखे स्थिर हो जाती है।
- हनुसंधि में स्तब्धता, पर्शुकाभग्न, और कफयुक्त छर्दि उत्पन्न होती है।
- शरीर अभ्यन्तरतः धनुष्य की भाँति मोड़ जाता है ।

बाह्यायाम :-

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ।
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षः कट्यूरुभञ्जनम् ।।

(सु. नि. १/५७)

........बाह्यायामश्च तद्विधः ।
देहस्य बहिरायामात् पृष्ठतो नीयते शिरः ।
उरश्चोत्क्षिप्यते तत्र कन्धरा चावमृद्यते ।।
दन्तेष्वास्ये च वैवर्ण्यं प्रस्वेदः स्रस्तगात्रता ।
बाह्यायामं धनुष्कम्भं ब्रुवते वेगिनं च तम् ।।

(अ. हृ. नि. १५/ २४-२६)

प्रकोपित वात बाह्य स्नायु प्रतानों में स्थानसंश्रय करके शरीर को बाहर की ओर धनुष्य के समान मोड़ देता है, तब उसे बाह्यायाम कहते है।

बाह्यायाम वक्ष, कटि और ऊरु इन स्थानों में भग्न उत्पन्न होने से असाध्य हो जाता है।

आक्षेपक के प्रकार :-

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ।
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्।

(सु. नि. १/५८)

आक्षेपक के निम्न **चार प्रकार** होते है।

१)कफान्वित	२)पित्तान्वित	३)केवलवातकृत	४)अभिघातज

अपतानक के प्रकार:-

स एवं अपतानकस्त्रिधा दण्डापतानकः, अन्तरायाम,
बहिरायामश्च । **(डल्हण टिका)**

अपतानक रोग के निम्न तीन भेद होते है।

१)दण्डापतानक	२)अन्तरायाम	३)बहिरायाम

आक्षेपक के असाध्य अवस्था के लक्षण :-

गर्भपातसमुत्पन्नः शोणितातिस्त्रवोत्थितः ।
अभिघातसमुत्थश्च दुश्चिकित्स्यतमो हि सः ।।

(अ. हृ. नि. १५/ २१)

गर्भपात निमित्तश्च शोणितातिस्त्रवाच्च यः ।
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ।।

(सु. नि. १/५९)

- गर्भपात, अतिरक्तस्त्राव, एवं अभिघात इन कारणों से उत्पन्न आक्षेपक असाध्य होता है।

व्रणायाम :-

व्रणं मर्माश्रितं प्राप्यं समीरणात् ।
व्यायच्छन्ति तनुं दोषाः सर्वामापादमस्तकम् ।।
तृष्यतः पाण्डुगात्रस्य व्रणायामः स वर्जितः ।
गतेवेगे भवेत्स्वास्थं सर्वेष्वाक्षेपकेषु च ।।

(अ. हृ. नि. १५/ २७-२८)

- मर्म स्थानों में उत्पन्न हुए व्रण के कारण प्रकोपित हुआ वात दोष, स्वकारणों से प्रकोपित हुए पित्त तथा कफ दोषों के साथ मिलकर सम्पुर्ण शरीर को आक्रांत करके शिर से लेकर पैर तक मोड़ देता है।
- इस तरह से दुष्ट व्रण से प्रकोपित हुए दोषों से शरीर में आयाम उत्पन्न होता है इस लिए इसे व्रणायाम कहते है।
- श्वासाधिक्य और श्वेतवर्ण (रक्तस्त्रावजन्य रक्ताल्पता से पाण्डु उत्पन्न होने पर) ये लक्षण उत्पन्न होने पर व्रणायाम असाध्य हो जाता है ।
- सभी प्रकार के आक्षेपक रोगों में वेग आते- जाते रहते है।
- वेगावस्था जाने के पश्चात पुनः स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है ।

हनुस्त्रंस :-

जिह्वातिलेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्त्रसयित्वाऽनिलो हनू ।।
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुस्त्रंसः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ।।

(अ. हृ. नि. १५/२९-३०)

हनूमूले स्थितो बन्धात् स्त्रंसयत्यनिलो हनू ।
विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् स्तब्धमवेदनम् ।।
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुं (नू) संवृतवक्त्रताम् ।

(च. चि. २८/४०-५०)

- जिह्वा का अति निर्लेखन करना, शुष्क भोजन सेवन करना तथा अभिघात जैसे कारणों से प्रकोपित वायु हनुमूल में

स्थानसंश्रय करके हनुसंधि को स्वस्थान से नीचे लेकर आता है।

- इस कारण से हनुसंधि खुला या बन्द रहता है, हनुसंधि की स्वाभाविक क्रिया नहीं होती।
- वाग्भट ने इस विकार को हनुस्त्रंस कहा है।
- चरकाचार्य ने इसे हनुस्तम्भ कहा है तथा इसमें शूल न होने का उल्लेख किया है।

मन्यास्तम्भ :-

स्तम्भः मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते ।
मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम् ।।
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम् ।
दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठायामः शिरोग्रहः ।।
जृम्भा वदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम् ।

(च. चि. २८/४३-४५)

दिवास्वप्नासनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः ।
मन्यास्तम्भं प्रकुर्वते स एष श्लेष्मणाऽऽवृतः ।।

(सु. नि. १/६७)

- दिवास्वाप, अस्वाभाविक तरीके से बैठना या खड़े रहना।
- सतत ऊर्ध्वतः आकाशादि की ओर निरीक्षण करते रहना।

इन हेतूओं से मन्यास्तम्भ उत्पन्न होता है ।

चरकाचार्य ने मन्यास्तम्भ के निम्न दो प्रकार कहे है ।

१) अन्तरायाम	२) पृष्ठायाम

१) मन्यास्तम्भजन्य अन्तरायाम :-

- प्रकोपित वायु मन्या स्थान के नाडीयों में स्थानसंश्रय करके मन्यास्तम्भ जन्य अन्तरायाम रोग की उत्पत्ति करता है ।
- इस व्याधी में ग्रीवा अभ्यन्तरतः संकोचित हो जाती है ।
- मन्या स्थान में तीव्र स्वरुप का स्तम्भ निर्माण होता है ।
- इस रोग से पिडीत रुग्ण बार-बार दाँतों को किटकिटाते रहता है।
- उसके मुख से लालास्त्राव बहने लगता है ।

२) मन्यास्तम्भजन्य पृष्ठायाम :-

- ग्रीवा जब पृष्ठतः संकोचित हो जाती है, तब इसे मन्यास्तम्भ जन्य पृष्ठायाम कहते है ।
- इस अवस्था में शिरोग्रह, जृम्भा तथा वाक्संग ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- मन्यास्तम्भ रोग कफावृत्त वात दोष के कारण होता है, ऐसा सुश्रुताचार्य ने कहा है ।

जिह्वास्तम्भ :-

वाग्वाहिनी सिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ।।

(अ. हृ. नि. १५/३१)

वाणी का वहन करनेवाली सिराओं में प्रकोपित वात का स्थानसंश्रय होने से जिह्वास्तम्भ उत्पन्न हो जाता है । इस व्याधी से पिडीत रुग्ण अन्नपान सेवन, भाषण आदि क्रिया करने में असमर्थ होता है ।

धनुस्तम्भ (चरकोक्त):-

पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा सिरा बलि ।
वायुः कुर्याद्धनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम् ।।
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः ।
उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवाऽवमृद्यते ।।
दन्तानां दशनं जृम्भा लालास्त्रावश्च वाग्ग्रहः ।
जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ।।

(च. चि. २८/४६-४८)

- मन्या और पृष्ठ के आश्रय से प्रकोपित वायु स्थानसंश्रय करके बाह्यसिराओं का शोष उत्पन्न करती है ।
- इससे शिर को पिछे की ओर झुक जाता है और रोगी धनुष्य जैसे मुड़ा हुआ दिखाई देता है, तब इसे बहिरायाम कहते है।
- इसमें उरःस्थान में उभार आता है और मन्या स्थान में ग्रह उत्पन्न होता है ।
- दाँतों को रुग्ण कटकटाने लगता है ।
- अगर जृम्भाधिक्य, लालास्त्राव, वाक्स्तम्भ आदि लक्षणों के साथ वेग उत्पन्न होते है तो रुग्ण की मृत्यु हो सकती है । यदी मृत्यु नहीं होती है तो विकलांगता आ जाती है ।

सिराग्रह :-

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्द्धधराः सिराः ।।
रुक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ।

(अ. हृ. नि. १५/ ३७)

रक्त के आश्रय से प्रकोपित हुए वायु से मन्या तथा ग्रीवा (मूर्द्धधरा) स्थानों की सिराओं में रुक्षता, कृष्णता और शूल उत्पन्न होता है । इसे सिराग्रह कहते है । यह व्याधी असाध्य होता है ।

दण्डक रोग :-

पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः ।।
दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ।

(च. चि. २८/ ५१)

आमबद्धायनः कुर्यात्संस्तभ्याङ्ग कफान्वितः ।

असाध्यं हतसर्वेहं दण्डवद्दण्डकं मरुत् ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ४२)

- कफ के साथ प्रकोपित वायु उत्पन्न आम से संयुक्त होकर सार्वदैहिक स्त्रोतसों में स्थानसंश्रय करती है ।
- इससे सम्पुर्ण शरीर दण्ड के समान कठोर हो जाता है । इसे दण्डकरोग कहते है ।
- इस कठोरपण के कारण चंक्रमण-आसन-शयन आदि क्रिया करने में असमर्थता होती है ।

अवबाहुक :-

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबन्धनम् ।
शिराश्चाकुञ्च्यतत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम् ।।

(सु. नि. १/ ८२)

अंसमूलस्थितो वायुः सिराः सङ्कोच्य तत्रगाः ।
बाहुप्रस्पन्दितहरं जनयत्यवबाहकम् ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ४३)

प्रकोपित वात के कारण अंसफलक के मूल की सिराओं के उत्पन्न संकोच से बाहु के प्रस्पन्दन आदि सभी क्रियाओं की हानि होती है । इसे अवबाहुक कहते है ।

विश्वाचि :-

तलं प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा बाहुपृष्ठतः ।
बाह्वोः कर्मक्षयकारी विश्वाचीति हि सा स्मृता ।।

(सु. नि. १/ ७५)

तलं प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा बाहुपृष्ठतः ।
बाहुचेष्टापहरणी विश्वाची नाम सा स्मृता ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ४४)

हस्तांगुली, तलहस्त तथा बाहुपृष्ठ की कण्डराओं को प्रकोपित वात पीडित करके से बाहु के कर्म का नाश करता है। इसे विश्वाचि कहते है ।

खञ्ज एवं पंगु :-

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोवधात् ।।

(सु. नि. १/ ७७)

वायुः कट्यांस्थितःसक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।
तदा खञ्जो भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोरपि ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ४५)

- प्रकोपित वात, कटी में स्थानसंश्रय करके अधःशाखा की किसी एक कण्डरा को पीडित करता है ।
- एक पाद की विकलांगता के कारण रोगी लंगड़ता (Lameness or limping) हुआ चलता है । इसे खञ्ज कहते है ।
- जब दोनों कण्डरा को पीडित करता है तो पंगु रोग उत्पन्न होता है ।
- पंगु में उभय अधोशाखा में विकलांगता आने से रोगी चलने में असमर्थ होता है ।

कलायखञ्ज :-

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ।।

(सु. नि. १/ ७८)

कम्पते गमनारम्भते खञ्जन्निव च याति यः ।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ४६)

- संधिबंधनों में शैथिल्यता आने पर खंज से पीडित व्यक्ति में लंगडते हुए चलते समय कंप पैदा होता है।
- इस कंपायमान खंज के अवस्था को कलायखंज कहते है ।

क्रोष्टुकशीर्ष :-

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः ।
शिरः क्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः क्रोष्टुकमूर्द्धवत् ।।

(सु. नि. १/ ७६)

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः ।
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षश्च स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ५२)

- रक्त के साथ संयुक्त होकर प्रकोपित वायु से जानुसंधि में अत्याधिक पीडायुक्त शोथ उत्पन्न होता है ।
- इस शोथ के कारण जानुसंधि का आकार गीदड़ के शिर जैसा बड़ा दिखता है इस लिए इसे क्रोष्टुकशिर्ष कहते है ।
- प्रायः यह विकृति एक ही जानुसंधि में उत्पन्न होती है।

वातकण्टक :-

न्यस्ते तु विषमं (मे) पादे रुजः कुर्यात्समीरणः ।
वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खड्डु(ल)काश्रितः ।।

(सु. नि. १/ ७९)

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ।
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ।।

(अ. ह्र. नि. १५/ ५३)

खुडक इति पादजङ्घासन्धिसंश्रितस्य इत्यर्थः ।

- प्रकोपित हुआ वायु पाद एवं जंघा इनके संधि (खुड़क) के आश्रय से वेदना उत्पन्न करता है तो उसे वातकण्टक कहते है ।

○ विषम स्थानों पर पैर रखने से वेदनायें बढ़ जाती है ।

○ वाग्भटाचार्य ने इसे गुल्फाश्रित बताया है ।

गृध्रसी :-

पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याऽनिलार्दिता ।
सक्थ्नः क्षेपं निगृठीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता ।।

(सु. नि. १/७४)

पार्ष्णि प्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा मारुतार्दिता ।
सक्थ्युत्क्षेपं निगृठाति गृध्रसीं तां प्रचक्षते ।।

(अ. हृ. नि. १५/ ५४)

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः।।

(च. चि. २८/५६)

वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता।

(च. चि. २८/५६)

स्फिक्पूर्वेत्यादि।

प्रथमं स्फिचं स्तम्भरुक्तोदैगृह्णाति, पश्चात्तु कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं गृह्णाति सा गृध्रसी वातात्; वातकफात्तु सा पूर्वोक्तलक्षणा सती तन्द्राद्यन्विता भवति; एवं गृध्रस्यौ द्वयं द्वे गृध्रस्यौ वाताद् वातकफाच्च इत्यनेनोक्तं विवृतं भवति।।

○ प्रकोपित वात पार्ष्णी और प्रत्यंगुलियों की कण्डराओं को पीडित करके अध:शाखा की गति को अवरोधित करता है ।

○ रुग्ण स्वस्थ पैर के उपर शरीर का भार देकर पीडित पैर को उठाकर आगे डालता है ।

○ अनुकत्व के आधार से इसे ग्रधृसि नाम दिया है ।

○ गिद् के समान रोगी एक पैर पर शरीर का भार देकर चलता है इस लिए इसे ग्रधृसि कहते है ।

गृध्रसी के प्रकार:-

वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता ।
जानुकट्युरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ।।
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वन्हिमार्दवम् ।
तन्द्रा मुख प्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ।

(मा. नि. वातव्याधी)

१) वातज गृध्रसी:-

○ वातज गृध्रसी में तोदवत वेदना एवं देहवक्रता (सीधा खड़े न रह पाना।) उत्पन्न होती है।

○ जानु, जंघा, कटि एवं संधी इन स्थानों में स्फुरणवत वेदना एवं स्तम्भ उत्पन्न होता है ।

२) वातकफज गृध्रसी:-

○ वातकफज गृध्रसी में अग्निमान्द्य, तन्द्रा, गौरव, प्रसेक और अरोचक ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

खल्ली :-

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ।
स्थानानामनुरुपैश्च लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत् ।।

(च .चि. २८/५७)

विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विते ।

(अ. हृ. नि. १५/ ५५)

विश्वाचि एवं गृध्रसी दोनों के लक्षण एक साथ उत्पन्न होते है तो उसे खल्ली कहते है । इसमें तीव्र स्वरुप की वेदना उत्पन्न होती है ।

पादहर्ष :-

हृष्यते चरणौ यस्य भवेतां च प्रसुप्तवत् ।।
पादहर्षः स विज्ञेयः कफमारुतकोपजः ।

(अ. हृ. नि. १५/ ५६), (सु. नि. १/८१)

कफ तथा वात के संयुक्त प्रकोप से पादगत सुप्तता तथा झिनीझिनीवत वेदना उत्पन्न होने को पादहर्ष कहते है ।

पाददाह :-

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ।।
विशेषतश्चङ्क्रमिते पाददाहं तमादिशेत् ।

(सु. नि. १/ ८०), (अ. हृ. नि. १५/ ५६)

पित्त तथा रक्त के साथ संयुक्त हुआ वायु पादस्थान में स्थानसंश्रय करके, विशेषतः चंक्रमण समय में पैरों में दाह उत्पन्न करता है तो उसे पाददाह कहते है ।

तुनी:-

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते ।।

(सु. नि. १/ ८६)

प्रकोपित वायु से उत्पन्न भेदन स्वरुप की वेदना जब पक्वाशय तथा मूत्राशय से आरम्भ होकर गुद तथा उपस्थ तक जाती है, तब उसे तुनी कहते है ।

प्रतितुनी:-

गुदोपस्थित्थोता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी ।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ।।

(सु. नि. १/ ८७)

प्रतिलोम गति से प्रकोपित हुए वायु से उत्पन्न भेदन स्वरुप की वेदना जब गुद तथा उपस्थ से आरम्भ होकर पक्वाशय तथा मूत्राशय तक जाती है तब उसे प्रतितुनी कहते है।

वाताष्ठीला:-

पत्थर के समान कठोर ग्रंथि, जो उपर की ओर लम्बी तथा उन्नत होकर बर्हिमार्गो (मल/मूत्र मार्ग) का अवरोध उत्पन्न कर देती है, तो

उसे वाताष्ठीला कहते है ।

प्रत्यष्ठीला :-

एनामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनाम् ।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ।।

(सु. नि. १/ ११)

जब यही वाताष्ठीला वेदनाओं के साथ उदर में तिर्यक् उत्पन्न होकर मल, मूत्र तथा वात का अवरोध करता है तो उसे प्रत्यष्ठिला कहते है ।

अर्दित

अर्दित हेतू :-

शिरसा भारहरणादतिहास्यप्रभाषणात् ।
उक्त्रासवक्त्रक्षवथोः खरकार्मुककर्षणात् ।।
विषमादुपधानाच्च कठिनानां च चर्वणात् ।

(अ. हृ. नि. १५/३२)

अर्दित के निम्न हेतू है ।

- शिर पर अधिक भार उठाना ।
- बहुत हँसना या बोलना ।
- मुख को टेढ़ा करके छिंकना ।
- अतिकठिन ऐसा धनुष्य खिंचना ।
- सिरहाने को विषम होना ।
- कठिन वस्तुओं को चबाना ।

और अन्य वातकारक आहार-विहार का सेवन करना ।

अर्दित की सम्प्राप्ति :-

वायुर्विवृद्धस्तैस्तैश्च वातलैरुर्ध्वमास्थितः ।।
वक्रीकरोति वक्त्रार्धंमुक्तं ....।

(अ. हृ. नि. १५/ ३३)

उपरोक्त हेतू सेवन से प्रकोपित वायु शरीर के ऊर्ध्वतः स्थित होकर मुख के आधे भाग (वाम या दक्षिण) को टेढ़ा करके अर्दित व्याधी उत्पन्न कर देती है ।

अर्दित के लक्षण :-

..............हसितमीक्षितम् ।
ततोऽस्य कम्पते मूर्द्धा वाक्सङ्गः स्तब्धनेत्रता ।।
दन्तचालः स्वरभ्रंशः श्रुतिहानिः क्षवग्रहः ।
गन्धाज्ञानं स्मृतेर्मोहस्त्रासः सुप्तस्य जायते ।।
निष्ठीवः पार्श्वतो यायादेकस्याक्ष्णो निमीलनम् ।
जत्रोरुर्ध्व रुजा तीव्रा शरीरार्धेऽधरेऽपि वा ।।
तमाहुरर्दितं केचिदेकायाममथापरे ।

(अ. हृ. नि. १५/ ३४ -३७)

- मुख में एक भाग में टेढ़ापन आ जाने से हँसना, बोलना, अन्न भक्षण करना आदि क्रिया करते समय व्यक्ति को सिर टेढ़ा करना पडता है ।
- शिरः कम्प, वाक्ग्रह, नेत्रस्तब्धता, दंत-चालन, स्वरहानि, श्रवणहानि, क्षवग्रह (छिंक न आना), गंधज्ञानहानि, स्मृतिनाश, मोह, सुप्तता ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- ष्ठिवन या लालास्त्राव मुख के पार्श्वभाग से होते रहता है।
- रुग्ण सिर्फ एक ही आँख बन्द कर सकता है ।
- ऊर्ध्व जत्रुगत तथा शरीर के आधे भाग में तीव्र वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।

इस कुछ आचार्य एकायाम कहते है ।
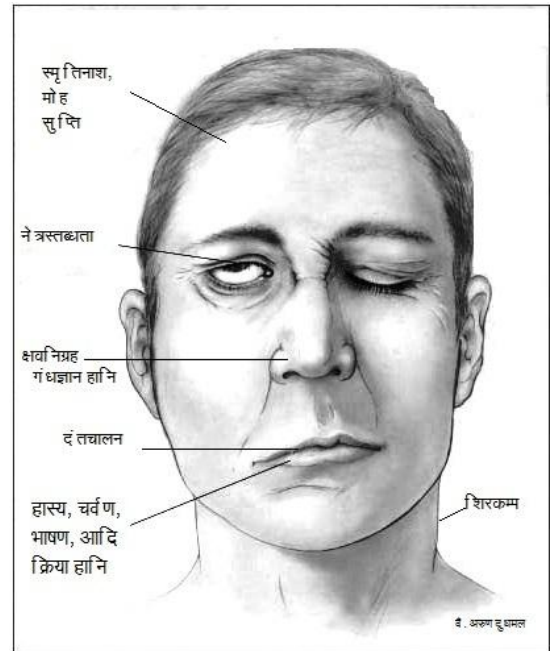
चरकोक्त अर्दितः-

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते ।
यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च ।
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्धे मुखं जिह्मं करोति च ।
वक्रीकरोति नासाभ्रूललाटाक्षिहनूस्तथा ।।
ततो वक्रं व्रजत्यास्ये भोजनं वक्रनासिकाम् ।
स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवयथुश्च निगृह्यते ।।
दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता कला सज्जति चास्य वाक् ।
दन्ताश्चलन्ति बाध्येते श्रवणौ भिद्यते स्वरः ।
पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डरुक् ।
अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात् तदर्दितम् ।

(च. चि. २८ / ३८- ४२)

चरकाचार्य ने अर्दित की सम्प्राप्ति निम्न तरह से स्पष्ट की है ।

प्रकोपित वात शरीर के अर्धभाग में जाकर उस स्थान के रक्त का शोषण करके हस्त, पाद या जानुसंधि में संकोच उत्पन्न कर देता है । मुख में वक्रता पैदा करता है । नासिका, ललाट, भ्रु, नेत्र, हनु आदि में वक्रता उत्पन्न करता है । चरकाचार्य ने अर्दित को मुख के साथ सार्वदैहिक स्वरुप दिया है। शरीर के वाम या दक्षिण शाखा कार्यहानि के **साथ या स्वतंत्र रुप से** मुख की भी क्रिया हानि होने को चरक ने अर्दित संबोधित किया है ।

पक्षाघात

गृहित्वाऽर्धं तनोर्वायु सिरा स्नायूर्विशोष्य च ।।
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ।।
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।
सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ।।

(अ. हृ. नि. १५/ ३८-४०)

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा ।।
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च ।।
गृहित्वाऽर्धं शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च ।
पादं सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तोदशुलकृत् ।
एकाङ्गरोगं तं विद्यात् सर्वाङ्गं सर्वदेहजम् ।।

(च. चि. २८/५३-५५)

एकांगरोग या सर्वांगरोग (पक्षाघात):-

- प्रकोपित वायु से शरीर का अर्धभाग (पक्ष अर्थात वाम या शाखा) पिडीत होने पर सिरा और स्नायु में अत्याधिक शोष उत्पन्न होता है।
- प्रकोपित वायु द्वारा संधि बंधनों में शैथिल्य उत्पन्न होने से किसी भी एक पार्श्व (वाम या दक्षिण शाखा) में क्रियाहानि या अल्पता उत्पन्न हो जाती है।
- इस कारण शरीर के आधे भाग में अकर्मन्यता तथा संज्ञानाश उत्पन्न होता है।
- हस्त-पाद आदि स्थानों में संकोच एवं सुचितोदवत वेदनाएँ उत्पन्न होती है ।
- **इस कुछ आचार्य एकांगरोग या पक्षवध कहते है ।**
- प्रकोपित वायु सम्पुर्ण शरीर में आश्रित होकर जब उभय हस्त-पाद में क्रिया हानि और संज्ञानाश उत्पन्न करता है, तो उसे सर्वांगरोग कहते है ।

हेतू सेवन से वातप्रकोप

प्रकोपित वायु का शरीर के ऊर्ध्वगामी (शिर) धमनीयों में स्थानसंश्रय

शरीर के अर्धभाग (पक्ष अर्थात वाम या शाखा) में पिडा उत्पन्न करके, सिरा और स्नायु में अत्याधिक शोष

संधि बंधनों में शैथिल्य

किसी एक पार्श्व (वाम या दक्षिण शाखा) में क्रियाहानि या अल्पता, शरीर के अर्ध भाग में अकर्मन्यता तथा संज्ञानाश उत्पन्न होना

हस्त-पाद स्थानों में संकोच तथा सुचि तोदवत वेदनाओं की उत्पत्ति

पक्षवध व्याधी की उत्पत्ति
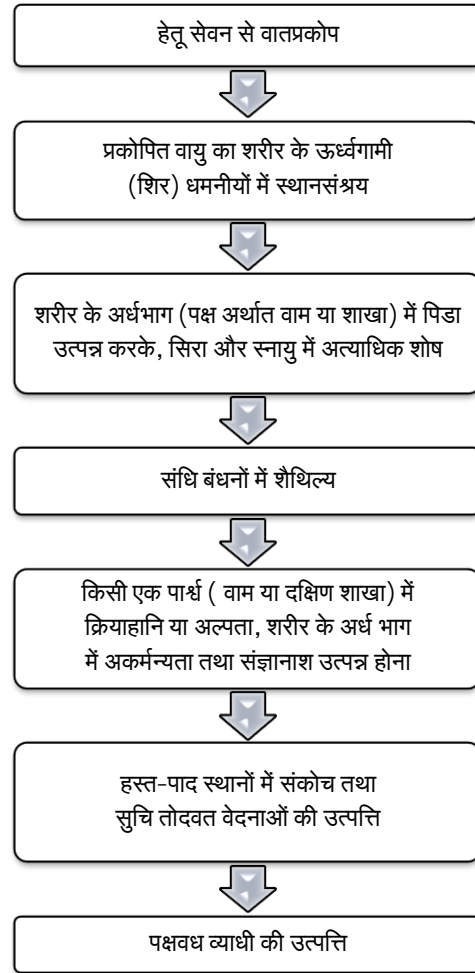
अधोगमाः सतिर्यग्गा धमनीरुर्ध्वदेहगाः।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते ।
तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ।।
यस्य कृत्स्नं शरीरार्धकर्मण्यमचेतनम् ।
ततः पतत्यसून् वाऽपि त्यजत्यनिलपीडितः ।।

(सु. नि. १/ ६०-६२)

प्रकोपित वायु शरीर के ऊर्ध्वतः जानेवाली धमनीयों में स्थानसंश्रय करके शरीर के किसी एक शाखा के सन्धि बंधनो में शिथीलता उत्पन्न करता है । इससे शरीर के सम्पूर्ण अथवा अर्ध भाग की चेष्टाओं का ऱ्हास या हानि हो जाती है । इस तरह से पक्षवध की सम्प्राप्ति सुश्रुताचार्यने वर्णन की है ।

पक्षवध का साध्यासाध्यत्व :-

शुद्धवातहतः पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमो मतः ।
कृच्छ्रस्त्वन्येन संसृष्टो विवर्ज्यः क्षयहेतुकः ।।

(अ. हृ. नि. १५/४१)

प्रकोपित वायु शरीर के अर्धभाग को पिडीत करके, शुद्ध वात

प्रकोप से (निरुपस्तंभित), दोषानुबंध से और एक शाखागत (संसृष्टज) उत्पन्न पक्षवध कष्टसाध्य होता है । क्षयजन्य पक्षवध असाध्य होता है ।
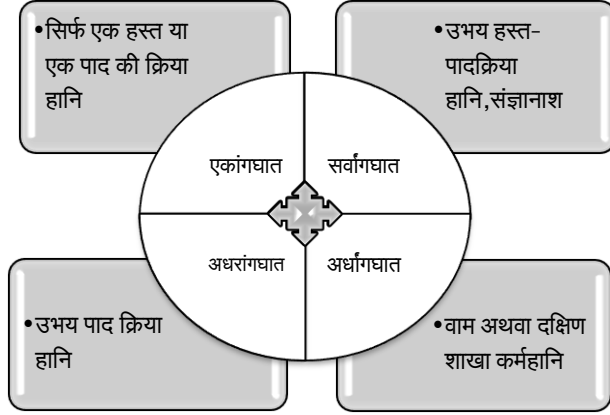
वातव्याधि का साध्यासाध्यता :-

सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः ।।
पक्षाघातोऽऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता ।
स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये ।।
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद् यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा ।
नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।।

(च .चि. २८/७२-७४)

- सन्धिच्युति, हनुस्तम्भ, कुञ्चन, कुब्जता, अर्दित, पक्षाघात, अंगशोष, पंगुता, खुड़वात, स्तम्भन, आढ़्यवात, मज्जागत वातरोग, अस्थिगत वातरोग, ये सब वातरोग गम्भीरता पूर्वक चिकित्सा करने पर कभी-कभी साध्य हो जाते है और कभी-कभी असाध्य होते है ।
- रोग नया हो, रुग्ण बलवान हो, उपद्रव उत्पन्न न हो, तो इनकी चिकित्सा सावधनता पूर्वक करने चाहिए ।
- इसके विपरीत लक्षणों से युक्त वातव्याधि असाध्य होते है ।

वातव्याधि प्रकरण समाप्त

क्लैब्य

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	मा. नि.
चि. ३०	शा. २	२५

व्याख्या :-

क्लीबः स्यात्सुरताशक्तः तद्भावः क्लैब्यमुच्यते ।

मैथुन क्षमता कम या नष्ट होने को क्लैब्य कहा जाता है । इसे नपुंसकता अथवा षंठ भी कहा जाता है ।

शुक्र दूषित हो जाने से क्लैब्य उत्पन्न होता है इस लिए शुक्र दुष्टि के हेतू और लक्षणों को क्लैब्य के हेतू और लक्षण समझने चाहिए।

चरक में शुक्र दुष्टि के निम्न कारण दिए है ।

शुक्र दुष्टि के हेतू:-

अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् ।
अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ।।
रुक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् ।
नारीणामरसज्ञानां गमनाज्जरया तथा ।।
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ।
भयात्क्रोधादभीचाराद्व्याधिभिः कर्शितस्य च ।।
वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां सम्प्रदूषणात् ।
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।।
शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु तद् वक्ष्यामि विभागशः ।

(च. चि. ३०/१३५-१३८)

निम्न कारणों से शुक्रवह स्त्रोतस में प्रकोपित वातादि दोष जाकर शुक्र धातु की दुष्टि करते है ।

- अति मैथुन या अति व्यायाम करना ।
- असात्म्य द्रव्यों का सेवन करना ।
- अकाल अर्थात वीर्य अपक्व रहने की अवस्था में (बाल्यावस्था) में मैथुन करना ।
- अयोनि मैथुन (हस्त-गुद-पशु आदि) करना ।
- सर्वथा मैथुन का त्याग करना ।
- रुक्ष-तिक्त-कषाय-लवण-अम्ल-उष्ण आहारों का अधिक सेवन करना ।
- अकामुक या अरसिक स्त्रियों के साथ मैथुन करना ।
- वार्धक्य उत्पन्न होना ।
- भय-शोक-चिन्ता-क्रोध आदि मनोविकारों से ग्रस्त रहना ।
- स्त्री के प्रति अविश्वास पैदा होना ।
- शस्त्र, क्षार तथा अग्नि चिकित्सा का विधीवत प्रयोग न करना।
- अभिचारण (मारण, मोहन आदि) के प्रयोग से पिड़ीत होना।
- दीर्घ काल से व्याधि से ग्रस्त होने कारण कृशता उत्पन्न होना ।
- मल-मूत्र-शुक्र आदि के वेगों का धारण करना ।
- बीजवाही स्त्रोतों में छेदन होना/करना ।
- रसादि धातुओं का दूषित होना ।

शुक्र आठ दोष :-

शुक्र में निम्न (आठ) प्रकार के दोष शुक्र में आ जाने से क्लैब्य उत्पन्न होता है ।

फेनिलं तनु रुक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ।।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाऽष्टमम् ।

(च. चि. ३०/१३९)

	दोष	शुक्र के लक्षण
१.	फेनिल	वीर्य झाग युक्त होना।
२.	तनु	वीर्य पतला होना।
३.	रुक्ष	वात दोष से स्निग्धता का अभाव होने से रुक्षता उत्पन्न होना।
४.	विवर्ण	स्वाभाविक सफेद वर्ण को छोडकर अन्य वर्ण प्राप्त करना।
५.	पूति	पूय युक्त होने दुर्गन्धता आना।
६.	पिच्छिल	कफ से दुष्ट को अति चिकनापन वीर्य में आ जाना।
७.	अन्यधातूपसंसृष्ट	रक्तादि धातुओं से मिश्रित वीर्य उत्पन्न होना।
८.	अवसादी	शुक्रवह स्त्रोतस में वायु से रुक्ष होकर शुष्क जाता है तो उसे अवसादीत शुक्र कहते है ।

वात दूषित शुक्र के लक्षण :-

फेनिलं तनु रुक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।।

भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते ।

(च. चि. ३०/१४०)

- वात दोष से दुष्ट शुक्र रुक्ष, झागदार, पतला होता है।
- शुक्र की प्रवृत्ति अल्प प्रमाण में और कष्टता से होती है ।

पित्त दूषित शुक्र के लक्षण :-

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ।

दहल्लिंङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ।।

(च. चि. ३०/१४१)

- पित्त से दुष्ट दाहयुक्त, पुयगन्ध का तथा नील-पीत वर्ण का शुक्र होता है ।
- इसका स्पर्श उष्ण होता है ।

कफ दूषित शुक्र के लक्षण :-

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवेत्यत्यर्थपिच्छिलम् ।

(च. चि. ३०/१४२)

कफ से शुक्र का मार्गावरोध होने से अत्याधिक पिच्छिल बन जाता है ।

रक्त मिश्रित शुक्र के लक्षण :-

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि ।

शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ।।

(च. चि. ३०/१४३)

स्त्रीयों के साथ अत्याधिक मैथुन करने से, अभिघातादि कारणों से क्षत हो जाने से रक्त मिश्रित शुक्र की प्रवृत्ति होती है।

अवसादीय शुक्र के लक्षण :-

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि ।

कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽऽष्टमम् ।।

इतिदोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ।

(च. चि. ३०/१४४)

- अधारणीय वेग जैसे मल-मूत्र-शुक्र आदि के वेगों को रोकने के कारण प्रकोपित हुआ वात शुक्र को मार्ग में अवरोधित कर देता है।
- इस कारण से निकला हुआ शुक्र वायु से शुष्क होकर कष्टता के साथ बाहर निकलता है ।
- शुक्र च्युति होने के बाद पुरुष अवसाद (थकान) का अनुभव करता है, इस लिए इसे अवसादीय शुक्र कहा है ।

शुद्ध शुक्र के लक्षण :-

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।।

रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ।

(च. चि. ३०/१४५)

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ।

शुक्रमिच्छन्ति, केचित् तु तैलक्षौद्रनिभं तथा ।।

(सु. शा. २/११)

- स्निग्ध, घन, पिच्छिल, मधुर, अविदाही (दाह न करने वाला), स्फटिक के जैसे लक्षण वाले शुक्र को शुद्ध शुक्र कहते है ।
- द्रव, मधुगन्धि, तैल तथा मध के समान दिखना ये गुण भी सुश्रुताचार्य ने कहे है ।

क्लैब्य के सामान्य लक्षण :-

संकल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ।

न याति लिंगशैथिल्यात् कदाचिद्याति वा यदि ।।

श्वासार्तः स्विन्नगात्रस्य मोघसंकल्पचेष्टितः ।

म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत् क्लीब्यलक्षणम् ।।

सामान्यलक्षणं ह्येतद् विस्तरेण प्रवक्ष्यते ।।

(च. चि. ३०/१५५-१५७)

क्लैब्य में निम्न सामान्य लक्षण उत्पन्न होते है ।

- मैथुन की कामना रखते हुए प्रिय एवं अनुकूल स्त्री के साथ मैथुन करते समय लिंग शिथिलता के कारण पुरुष मैथुन कर नहीं पाता है ।
- उसे श्वासकष्टता एवं स्वेदाधिक्य होने लगता है ।
- उसका शिश्न म्लान (शिथिल) और शुक्र विरहीत होता है ।

क्लैब्य के प्रकार:-

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसङ्क्षयात् ।।

क्लैब्यं सम्पद्यते तस्य श्रृणु सामान्यलक्षणम् ।

(च. चि. ३०/१५४)

	चरकोक्त क्लैब्य प्रकार	**सुश्रुतोक्त क्लैब्य**
१	बीजोपघातज क्लैब्य	आसेक्य
२	ध्वजोपघातज क्लैब्य	सौगंधिक
३	जरासंभवज क्लैब्य	कुंभिक
४	शुक्रक्षयज	ईर्षक
५		षंढ

चरकोक्त क्लैब्य के प्रकार:-

१)बीजोपघातज क्लैब्य:-

शीतरुक्षाल्पसङ्क्लिष्टविरुद्धाजीर्णभोजनात् ।

शोकचिन्ताभयत्रासात् स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात् ।।
अभिचारादविस्त्रम्भाद् रसादीनां च सङ्क्षयात् ।
वातादीनां च वैषम्यात् तथैवानशनाच्छ्रमात् ।।
नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मापचारातः ।
बीजोपघाताद् भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः।।
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ।
हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः ।।
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः ।
बीजोपघातजं क्लैब्यं.........।।

(च. चि. ३०/१५८-१६२)

बीजोपघातज क्लैब्य उत्पन्न होने के निम्न कारण है ।

- शीत, रुक्ष, अल्प, संक्लिष्ट (दूषित), संयोग या प्रकृति विरुद्ध तथा अजीर्णावस्था में आहार सेवन करने के बाद मैथुन करना ।
- शोक-चिन्ता-भय-त्रासन आदि से ग्रस्त रहते हुए मैथुन करना ।
- अभिचार (जारण, मारण, उच्च्याटनादि कर्म) कर्म से पीड़ित होना ।
- स्त्रीयों के प्रति अविश्वास रखना ।
- रसादि धातुओं का अनुलोम या प्रतिलोम क्षय होना ।
- लंघन या उपवास, अधिक श्रम करने से दोषों की विषम स्थिती शरीर में उत्पन्न होना ।
- सहवास में रुचि न रखनेवाले स्त्री के साथ मैथुन करना ।
- पंचकर्म के मिथ्या प्रयोग करना ।

बीजोपघातज (शुक्र क्षयजन्य) क्लैब्य के लक्षण:-

- पुरुष में पांडुता, दुर्बलता, अल्प प्राणता, अल्पहर्षता आ जाती है।
- वह स्त्रीयों के साथ मैथुन करने के लिए अनुत्साही रहता है।
- स्त्री के साथ मैथुन के लिए तयार होता है, फिर भी उसका लिंग शिथील ही रहता है ।
- ऐसा पुरुष हृद्रोग, पाण्डु, तमकश्वास, कामला, क्लम, छर्दि, अतिसार, शूल, कास और ज्वर से पीडित रहता है।

२)ध्वजोपघातज (ध्वजभंग) क्लैब्य के हेतू:-

....ध्वजभङ्गकृतं श्रृणु ।।
अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धासात्म्यभोजनात् ।
अत्यम्बुपानाद् विषमात् पिष्टान्नगुरुभोजनात् ।।
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद् व्याधिकर्षणात् ।
कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ।।
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ।
दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्नुताम् ।।
ईदृशीं प्रमदां मोहाद् यो गच्छेत् कामहर्षितः ।
चतुष्पादाभिगमनाच्छेफश्चाभिघातातः ।।
अधावनाद् वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ।
काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ।।
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ।

(च. चि. ३०/१६२-१६७)

ध्वजोपघातज क्लैब्य उत्पन्न होने के निम्न कारण है ।

- अत्याधिक अम्ल-लवण-क्षार-पिष्टमय-गुरु-द्रव पदार्थों का सेवन करना ।
- असात्म्य, विषम या विरुद्ध आहार का सेवन करना ।
- दहि-दूध का अधिक सेवन करना ।
- आनुप मांस सेवन करना ।
- जीर्णव्याधि से दीर्घकाल तक पीडित रहने से शरीर कर्षित होना ।
- कन्या (बालिका) के साथ समागम करना ।
- अयोनिगमन (गुद-हस्त-सुचीमुखी योनि) मैथुन करना ।
- शिश्न के उपर आघात होना ।
- मैथुनोपरान्त शिश्न का प्रक्षालन न करना ।
- शस्त्र, नख, दन्त से शिश्न के उपर क्षत हो जाना ।
- शुकों का अनुचित प्रयोग करना ।
- काष्ठादि से शिश्न पर प्रहार करना ।
- शुक्र वेग का विधारण करना ।

निम्न प्रकार के निन्दनिय योनि के साथ मैथुन करने से ध्वजोपघातज क्लैब्य उत्पन्न होता है ।

- जीर्ण योनिरोग से ग्रस्त,
- दीर्घकाल से समागम न किया हो,
- योनि से दुर्गन्ध आ रही हो,
- रजस्वला,
- दुष्ट या परिप्लुत (स्त्रावयुक्त) योनिरोग से पीडित,
- चतुष्पाद (पशु मैथुन) योनि

ध्वजोपघातज (ध्वजभंग) क्लैब्य के लक्षण:-

भवन्ति यानि रुपानि तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ।
श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ।।
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ।
मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ।।

पुलोकोदकसङ्काशः स्त्रावः श्यावारुणप्रभः ।
वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः ।।
ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा च्छर्दिश्चास्योपजायते ।
रक्तं कृष्णं स्त्रवेच्चापि निलमाविललोहितम् ।।
अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः ।
बस्तौ वृषणयोर्वाऽपि सीवन्यां वङ्क्षणेषु च ।।
कदाचित्पिच्छिलो वाऽपि पाण्डुः स्त्रावश्च जायते ।
श्वयथुर्जायते मन्दः स्तिमितोऽल्पपरिस्त्रवः ।।
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते ।
जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ।
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च ।
ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत् समुदाहृतम् ।।
एतं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं प्रचक्षते ।

(च. चि. ३०/१६८-१७५)

- मेढ्र में शोथ एवं वेदना उत्पन्न होती है ।
- शिश्न पर आरक्त वर्ण के स्फोट उत्पन्न होकर उनमें पाक हो जाता है और तीव्रता से व्रण उत्पन्न हो जाते है ।
- इन व्रणों से धोये हुए चावल के पानी जैसा स्त्राव बहने लगता है।
- कभी-कभी ये स्त्राव पिच्छिल, श्वेत, आरक्त, कृष्ण, नील वर्ण का या आविल एवं रक्तयुक्त होता है ।
- स्फोटों से कभी सम्पुर्ण लिंग का पाक हो जाता है ।
- लिंग के उपर मांसवृद्धि भी होती है ।
- कभी-कभी लिंग गोल आकार का और कठोर हो जाता है ।
- बस्ति, अण्डकोष, सिवनी इन स्थानों में अग्नि दहनवत वेदना होने लगती है ।
- बाद में उत्पन्न शोथ कम होने से लिंग में शैत्य आ जाता है ।
- शोथ में कभी जल्द या कभी देर से पाक हो सकता है ।
- पाक के बाद व्रण होकर उससे पिच्छिल और सफेद स्त्राव शिश्न से होने लगता है ।
- इस स्त्राव में क्लेदोत्पत्ति के कारण कृमि प्रादुर्भाव होता है ।
- इससे दुर्गन्ध और पूय स्त्राव आने लगता है ।
- कभी-कभी शिश्न मुण्ड तथा लिंग या अण्डकोष सड़ने के कारण गल भी जाता है ।
- कुछ विद्वानों द्वारा ध्वजभंग के पाँच प्रकार प्रतिपादित किये है।
- सार्वदैहिक स्वरुप में ज्वर, तृष्णा, भ्रम, मुर्च्छा और छर्दि ये लक्षण उत्पन्न होते है ।

३)जरासंभवज क्लैब्य (की अवस्था):-

क्लैब्यं जरासम्भवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छ्रुणु ।।
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते ।
अतिप्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ।।

(च. चि. ३०/१७६-१७७)

वार्धक्य के कारण प्रायः शुक्र धातु के क्षीण होने से यह जरासंभवज क्लैब्य उत्पन्न होता है ।

इस क्लैब्य की निम्न तीन अवस्थायें होती है।

१)जघन्य	२) मध्य	३) प्रवर

जरासंभवज क्लैब्य की संप्राप्तिः-

रसादीनां सङ्क्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात् ।
बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ।।
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात् क्लमात् ।
जरासम्भवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ।।
जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः ।
विवर्णो दुर्बलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ।।
एतज्जरासम्भवं हि.........।

(च. चि. ३०/१७८-१८०)

वार्धक्य काल में रसादि धातुओं का क्षय होने से, वाजिकरण या वृष्य औषधीयों का विधीवत प्रयोग न करने से, बल, वीर्य तथा इन्द्रियों का क्रमशः अत्याधिक क्षय हो जाता है। युवावस्था का ह्रास हो जाता है। मन्दाग्नि उत्पन्न होने के कारण आपेक्षित पूर्ण आहार का सेवन नहीं कर पाता है। अत्याधिक परिश्रम से, अनायास थकान से वार्धक्यजन्य नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है।

वार्धक्य से सभी धातु क्षीण होते है। दौर्बल्यता, वैवर्ण्यता और दिनता आ जाती है । वृद्धावस्था में इन शाररीक दुर्बलता के कारण व्यक्ति रोग ग्रस्त हो जाता है। ये सब जरासंभवज क्लैब्य के लक्षण है।

४)शुक्रक्षयजः-

......चतुर्थं क्षयजं श्रुणु ।
अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात् क्रोधाद् भयात् तथा ।।
ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान् सदा विशति यो नरः ।
कृशो वा सेवते रुक्षमन्नपानं तथौषधम् ।।
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद् यदि ।
असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ।।
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम् ।
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ।।

शुक्रावसानास्तेभ्योऽपि शुक्रं धामं परं मतम् ।
चेतसो वाऽतिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः ।।
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति सङ्क्षयम् ।
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ।।
शुक्रं तस्माद् विशेषण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ।
एवं निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ।।

(च. चि. ३०/१८१-१८७)

- अतिचिंता, शोक, क्रोध, भय, ईर्षा, उत्कण्ठा, मद, उद्वेग आदि से पीडित रहना ।
- कृश व्यक्ति द्वारा रुक्ष अन्नपान या औषधी का सतत सेवन करना ।
- दुर्बल व्यक्ति ने लंघन करना ।
- असात्म्य आहार द्रव्यों का सेवन करना ।

उपरोक्त कारणों से हृदयस्थ रसधातु क्षीण हो जाता है। तद्नंतर उसके रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र (अनुलोम गति से) क्षीण होने लगते है। अतिव्यवाय से शरीर का प्रबल तेज युक्त शुक्र धातु का क्षय (प्रतिलोम क्षय) हो जाता है। इस तरह अनुलोम या प्रतिलोम गति से शुक्र धातु का क्षय होने के कारण व्यक्ति रोग ग्रस्त होने लगता है। इस लिए आरोग्य की कामना करनेवाले व्यक्ति ने हमेशा शुक्र धातु की रक्षा करने चाहिए।

चरकाचार्यने इन चार प्रकार के क्लैब्य के अतिरिक्त जन्मजात क्लैब्य प्रकार अलग से वर्णन किया है।

जन्मजात क्लैब्यः-

मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ।
गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।।
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद् रेतश्चाप्युपहन्यते ।
तत्र सम्पुर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् ।।

(च. चि. ३०/१८९-१९०)

माता और पिता के बीजों में दोष आ जाने से, अजितेन्द्रिय व्यक्ति द्वारा पूर्वजन्म में किए पापकर्मो से वातादि दोष गर्भस्थ शिशु के शुक्रवह स्त्रोतस की सिराओं में शोष उत्पन्न करते है। शुक्रवह सिराएँ शोष से नष्ट हो जाती है। तब जन्म लेनेवाले पुरुष अर्भक के अंग-प्रत्यंग परिपुर्ण होकर भी वह नपुंसक होता है । इसे जन्मजात क्लैब्य कहते है ।

क्लैब्य का साध्यासाध्यत्व :-

केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ।
वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च ।।

(च. चि. ३०/१८८)

एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ।
चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः श्रृणु ।।

(च. चि. ३०/१९१)

- कुछ विद्वान ध्वजभंगज तथा क्षयज क्लैब्य को असाध्य मानते है।
- शिश्न का छेदन या वृषण का पाटन (निकाल देना) या लिंग सड़ जाना इन कारणों उत्पन्न हुआ नपुंसकत्व असाध्य होती है।
- शेष क्लैब्य साध्य होते है, लेकिन इनकी उपेक्षा न करते हुए तुरंत चिकित्सा करने चाहिए ।

सुश्रुतोक्त क्लैब्यः-

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।
सरेतस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्डसंज्ञितः ।।

(सु. शा. २/४४)

सुश्रुताचार्य ने पाँच प्रकार के क्लैब्यों का वर्णन किया है ।

१)आसेक्य	२)सौगन्धिक	३)कुम्भिक	४)ईर्ष्यक	५) षण्ड

इन पाँचों में से आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भिक और ईर्ष्यक ये चार क्लैब्य से ग्रस्त पुरुष शुक्रवान होते है, परंतु षण्ड नामक क्लैब्य से पिडीत पुरुष शुक्र हीन होता है।

१)आसेक्यः-

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् ।
सशुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ।।

(सु. शा. २/३८)

माता और पिता के अल्पवीर्य होने से उत्पन्न सन्तान को आसेक्य कहते है। उसका ध्वजोच्छ्राय (Erection of Penis) शुक्रप्राशन करने के बाद होता है।

२)सौगंधिकः-

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः ।
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ।।

(सु. शा. २/३९)

पुतियोनि विकार से पीड़ित योनि से जन्में हुए पुरुष का शिश्नोत्थान योनि और शिश्न की गंध सूँघकर हो जाता है । ऐसे क्लैब्य को सौगंधिक कहते है।

३)कुंभिकः-

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते ।
कुम्भीकः स च विज्ञेयः........।।

(सु. शा. २/४०)

जो स्त्रियों से गुदमैथुन करता है, वह कुम्भीक षण्ड कहलाता है।

४)ईर्ष्यक:-

....ईर्ष्यकं श्रृणु चापरम् ।।

दृष्टवा व्यवायमन्येषां व्यवाये य: प्रवर्तते ईर्ष्यक:

स च विज्ञेय:....।

(सु. शा. २/४०)

जो पुरुष दुसरों को व्यवाय करते हुए देखकर मैथुन करने के लिए प्रवृत्त होता है उसे ईर्ष्यक कहते है ।

५)षंढ:-

......षण्डकं श्रृणु पञ्चमम् ।।

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।

तत: स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञित: ।।

(सु. शा. २/४१-४२)

जब स्त्री के साथ पुरुष ऋतुकाल में स्त्री जैसा ही व्यवाय करता है तब जन्म लेनेवाले पुरुष की आकृती एवं वर्तन स्त्री जैसी हो जाती है तो उसे षण्ढ(क) कहते है।

क्लैब्य प्रकरण समाप्त

वंध्यत्व

32

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह	मा. नि.
चि. ३०			उ. तं. ३८	

पुरुष और स्त्री दोनों में भी वंध्यत्व यह विकृति उत्पन्न हो सकती है ।

यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् ।
विरोहित सन्दुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ।।
(च. चि. ३०/१३४)

- वर्षा ऋतु में बोया हुआ बीज कृमि, कीट या अग्नि आदि के कारण अगर दुष्ट हो जाता है तो अंकुरित हो नहीं पाता, उसी प्रकार से शुक्र दुषित शुक्र भी गर्भाशय में गर्भ को उत्पन्न कर नहीं पाता ।
- इस तरह का संदेश योनिव्यापद् प्रकरण में चरकाचार्य ने दिया है और यह स्पष्ट किया है कि, दुष्ट शुक्र अपत्य प्राप्ति के लिए असमर्थ होता है ।
- पुरुषों का वंध्यत्व मुख्यतः शुक्र अभाव, शुक्रदुष्टि तथा शुक्र क्षय के कारण उत्पन्न होता है ।
- दुष्ट शुक्र का वर्णन क्लैब्य, ध्वजभंग तथा शुक्दोष के अनुषंग से किया गया है।
- स्त्रीयों के वंधत्व का वर्णन योनिव्यापद् प्रकरण में विस्तार से संहिताकारों ने किया है ।
- योनिव्यापद् उत्पन्न करनेवाले कारण ही स्त्री-वंधत्व के कारण होते है ।

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसङ्ग्रहे ।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च श्रृणु ताः पृथक् ।
(च. चि. ३०/७-८)

बीस प्रकार के योनि व्यापद उत्पन्न होने के कारणों को निम्न तरह से वर्गीकृत किया है ।

१) मिथ्या आहार-विहार :-

मिथ्या आहार तथा विहार का सेवन करने से दोषों का प्रकोप होकर योनिव्यापद् उत्पन्न होते है ।

२) बीज दोष:-

माता के आर्तव या पिता के शुक्र में दूष्टि होने के कारण बीज दोषज योनिव्यापद् उत्पन्न होता है।

३) दैव योग :-

जब कार्य-कारण भाव समझ में नहीं आता तब उसे हम दैवयोग कह सकते है । दैव को योनिव्यापद् का कारण माना है, वंधत्व के अनुषंग से बहुत बार इसकी प्रचिती होती है।

योनिव्यापद् के बीस प्रकार:-

इन सभी प्रकार के योनि व्यापद में **वातज-वन्ध्या, पित्तज-वामिनी, पुत्रघ्नी तथा सन्निपातज-षण्ढी** इन प्रकारों में स्त्री वंध्यत्व उत्पन्न होता है ।

अ. क्र.	वातजः-५	पित्तज- ५
१	उदावर्ता	लोहितक्षया
२	**वन्ध्या**	**वामिनी**
३	विप्लुता	प्रस्रंसिनी
४	परिप्लुता	**पुत्रघ्नी**
५	वातला	पित्तला
अ. क्र.	**कफज-५**	**सन्निपातज-५**
१	अत्यानन्दा	**षण्ढी**
२	कर्णिनी	अण्डली
३	अचरणा	विवृता
४	अतिचरणा	सूचीवक्त्री
५	कफजा	त्रिदोषजा

१) वन्ध्या योनिः -

- वन्ध्या योनि वात प्रकोप से उत्पन्न होती है ।
- नियमित स्वरुप में मासिक रज प्रवृत्ती न होने के कारण इसे नष्टार्तव कहा है ।
- इसमें गर्भाधान नहीं हो पाता ।

२) वामिनी :-

- रज एवं शुक्र के संयोग जो योनि धारण नहीं करती , उसे उगल

देने से गर्भ धारणा हो नहीं पाती । इसे वामिनी योनि व्यापद् कहते है ।

३) पुत्रघ्नी :-

रौक्ष्याद् वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ।
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता ।
(च. चि. ३०/२८)

जातघ्नी तु यदानिलः ।
जातं जातं सुतं हन्ति रौक्ष्याद् दृष्टार्तवाद्भवम् ।
(अ. सं. उ. तं. ३८/४०)

- पुत्रघ्नी योनि पित्त प्रकोप से उत्पन्न होती है ।
- जब-जब गर्भाधान होता है तब तब रक्तक्षय के कारण गर्भपात हो जाता है ।
- वाग्भटाचार्य ने इसे जातघ्नी कहा है ।

४) षण्ढी :-

- षण्ढी योनि व्यापद् त्रिदोष दुष्टि से उत्पन्न होती है ।
- इसमें मासिक रजः प्रवृत्ती न होने के कारण गर्भाधान नहीं होता ।

इस प्रकार से इन चारों योनि व्यापद् में गर्भधान हो न पाने के कारण इन्हें **स्त्री वंधत्व** में लिया है ।

वंध्यत्व प्रकरण समाप्त

शुकदोष

33

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	मा. नि.
	नि. १४	उ. ३४	४८

व्याख्या:-

अक्रमाच्छोफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शुकजाः ।।

(मा.नि. ४८/२)

शूको जलशूकः, स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भवः सशूकः तथा शूक प्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक उच्यते ।

(मधूकोष)

कामवासना से ग्रस्त मूर्ख व्यक्ति अप्रयोगिक मार्ग से लिंगवर्धन करना चाहता है। लिंगवर्धन के लिए वह शूक नामक विषज जलीय प्राणी (पानी के मल से -जलमल) का उपयोग लिंग के उपर लेपनार्थ करता है। इस कारण से जो वातादि दोषज विकार लिंग में उत्पन्न होते है उन्हें शुक दोष कहते है ।

- सुश्रुताचार्य के मता नुसार शूक दोष अठरह (१८) प्रकार के होते है।
- वाग्भटाचार्य ने इनका समावेश गुह्यरोग में किया है।
- (लिंगार्श, निरुद्धमणि, निरुद्धप्रकश, अवपाटिका, निवृत, परिवर्तिका ये छः अतिरिक्त शुकदोष शारंगधर ने कहे है।)

१) सर्षपिका:-

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुग्नहेतूका ।
पिडका श्लेष्मरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ।।

(सु. नि. १४/४)

गुहस्य बहिन्तर्वा पिटिकाः कफरक्तजाः ।
सर्षपोन्मानसंस्थाना घनाः सर्षपिकाः स्मृताः ।

(अ. हृ. उ. ३४/११)

शूकों का दुरुपयोग करने से प्रकोपित वात तथा कफ दोष से लिंग के उपर पितवर्ण की सर्षप (सरसों) के आकार की पिडकाएँ उत्पन्न होती है; इन्हें सर्षपिका कहते है ।

२) अष्ठीला :-

कठिना विषमैभुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत् । (मा.नि. ४८/३)

कठिना विषमैरन्तैर्मारुतस्य प्रकोपतः ।
शूकैस्तु विषमसम्भुग्नैःपिडकाऽष्ठीलिका ।।

(सु. नि. १४/५)

विषमा कठिना भुग्ना वायुऽनाष्ठीलिका स्मृता ।।

(अ. हृ. उ. ३४/१६)

विषम और कठिन शूक योगों का प्रयोग करने से शिश्न पर उत्पन्न हुई कठोर पिटिका को अष्ठीला कहते है ।

३) ग्रथित :-

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितं नाम् तत् कफात् ।।

(सु. नि. १४/६)(मा.नि. ४८/३)

लिङ्गं शूकैरिवापूर्णं ग्रथिताख्यं कफोद्भवम् ।

(अ. हृ. उ. ३४/२१)

निरन्तर शूक योगों के प्रयोग करने पर प्रकोपित कफ दोष से उत्पन्न हुई ग्रंथिवत पिटिका को ग्रथित कहते है ।

४) कुम्भिका:-

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

(सु. नि. १४/६)(मा.नि. ४८/४)

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽऽशुजा ।।

(अ. हृ. उ. ३४/१३)

रक्तधातु और पित्त दोष के दुष्ट होने से शिश्न पर जामुन के वर्ण सदृश काले वर्ण की एवं गुठली के आकार की उत्पन्न हुई पिटिका को कुम्भिका कहते है ।

५) अलजी :-

तुल्यजां त्वलजी विद्याद्यथाप्रोक्तां विचक्षणः ।

(मा.नि. ४८/४)

अलजीलक्षणैर्युक्तामलजी च वितर्कयेत् ।

(सु. नि. १४/७)

अलजी मेहवद्विद्यात् ।

(अ. हृ. उ. ३४/१३)

प्रमेहपिटिका के अलजी पिटिकावत पिटिका शुक के प्रयोग से जब उत्पन्न होती है तो उसे अलजी कहते है ।

६) मृदित:-

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः ।।

(सु. नि. १४/७)(मा.नि. ४८/५)

मृदितं मृदितं वस्त्रसंरब्धं वातकोपतः ।

(अ. हृ. उ. ३४/१६)

हस्तमैथुन के समय शिश्न को दबाने से वातप्रकोप होने से लिंग पर उत्पन्न हुए शोथ को मृदित कहते है।

७) संमूढपिडका :-

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ।

(सु. नि. १४/८) (मा.नि. ४८/५)

पाणिभ्यां भृशसंव्यूढे संव्यूढपिटिका भवेत् ।।

(अ. हृ. उ. ३४/१५)

दोनों हाथों से अत्याधिक जोर लगाकर दबाने से शिश्न पर पिटिकाएँ उत्पन्न हो जाती है, तो उन्हें संमूढपिडका कहते है ।

८) अवमन्थ (अधिमन्थ -मा. नि.):-

दीर्घा बह्वश्च पिडका दीर्घन्ते मध्यतस्तु याः ।

सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदना-रोमहर्षकृत् ।।

(सु. नि. १४/९) (मा.नि. ४८/६)

पिटिका बहवो दीर्घा दीर्यन्ते मध्यतश्च याः ।।

सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षवान् ।

(अ. हृ. उ. ३४/१२)

प्रकोपित कफ और रक्त के दूषित हो जाने से रोमहर्ष एवं वेदनायुक्त, लम्बाकार अनेक पिटिकाएँ उत्पन्न होकर फट जाती है, तो उन्हें अधिमन्थ कहते है ।

९) पुष्करिका :-

पिडका पिडकाव्याप्ता पित्तशोणितसंभवा ।

पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ।।

(मा.नि. ४८/७)

पित्तशोणितशोणितसम्भूता पिडका पिडकाचिता ।

पद्मपुष्करसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा ।।

(सु. नि. १४/९)

.....पिटिका पिटिकाचिता ।।

कर्णिका पुष्करस्येव ज्ञेया पुष्करिकैति सा ।

(अ. हृ. उ. ३४/१४)

प्रकोपित पित्त और दुष्ट रक्त धातु से अनेक पिडकाऐं शिश्न पर उत्पन्न होती है, जो कमल कलिका के सदृश दिखती है। इन्हें पुष्करिका कहते है ।

१०) स्पर्शहानि :-

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् ।

(मा.नि. ४८/८) (सु. नि. १४/१०)

शूकदूषित रक्तोत्था स्पर्शहानिस्तदाह्वया ।।

(अ. हृ. उ. ३४/२१)

दूषित रक्तधातु से शिश्न के त्वचा में स्पर्श ज्ञान का अभाव उत्पन्न होता है । इसे स्पर्श हानि कहते है ।

११) उत्तमा :-

मुद्ग-माषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा तु या ।।

व्याधिरेषात्तमा नाम शूकाजीर्णनिमित्तजा ।

(मा.नि. ४८/८) (सु. नि. १४/११)

......दुत्तमां पित्तरक्तजाम् ।

पिटिकां माषमुद्गभां ....।

(अ. हृ. उ. ३४/१४)

शूकलेप का बार-बार प्रयोग करने पर दूषित रक्त तथा प्रकोपित पित्त से मूंग या उड़द के आकार की पिडका उत्पन्न होती है । उसे उत्तमा कहते है ।

१२) शतपोनक :-

छिद्रैरणुमुखैलिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ।।

वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः ।

(मा.नि. ४८/९) (सु. नि. १४/१२)

छिद्रैरणुमुखैर्यत्तु मेहनं सर्वतश्चितम् ।

वातशोणितकोपेन तं विद्याच्छतपोनकम् ।।

(अ. हृ. उ. ३४/२२)

दूष्ट रक्त तथा प्रकोपित वायु से अनेक छोटे-छोटे मुख वाले छिद्रों से लिंग व्याप्त हो जाता है तब इसे शतपोनक कहते है। यह चालनी जैसे दिखता है, इस लिए इसे शतपोनक कहा है।

१३) त्वक्पाक :-

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वर-दाहकृत् ।।

(मा.नि. ४८/१०) (सु. नि. १४/१२)

पित्तासृग्भ्यां त्वचः पाकस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान् ।

(अ. हृ. उ. ३४/२३)

ज्वर तथा दाह के साथ जब प्रकोपित पित्त और वात से लिंग की त्वचा में पाक हो जाता है तो उसे त्वक्पाक कहते है ।

१४) शोणितार्बुद :-

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम् ।

यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ।।

(मा.नि. ४८/११) (सु. नि. १४/१३)

सरागैरसितैः स्फोटैः पिटिकाभिश्च पिडितम् ।

मेहनं वेदना चोग्रा तं विद्यादसृगर्बुदम् ।।

(अ. ह्र. उ. ३४/२४)

अत्यंत पीड़ा युक्त कृष्ण तथा आरक्त वर्ण के शिश्न स्थान के पिड़का को शोणितार्बुद कहते है ।

१५) मांसार्बुद :-

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम् ।

(मा. नि. ४८/१२) (सु. नि. १४/१४)

मांसार्बुदं प्रागुदितं ....। (अ. ह्र. उ. ३४/२५)

शूक योगों के प्रयोग से लिंग स्थान के दूष्ट हुए मांस धातु में जब अर्बुद उत्पन्न होते है तो उन्हें मांसार्बुद कहते है।

१६) मांसपाक :-

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ।।

विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ।

(मा. नि. ४८/१२) (सु. नि. १४/१४)

मांसपाकः सर्वजः सर्ववेदनो मांसशातनः ।।

(अ. ह्र. उ. ३४/२३)

शूक योगों के प्रयोग से लिंग के मांस का जब शातन (क्षरण, झड़ना या गलना) होने लगता है तो तब उसे मांसपाक कहते है।

यह सन्निपातज होने के कारण इसमें तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण उत्पन्न होते है।

१७) विद्रधिः-

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ।।

(मा.नि. ४८/१३) (सु. नि. १४/१५)

......विद्रधिश्च त्रिदोषजम् । अ. ह्र. उ. ३४/२५)

शूक योगों के प्रयोग से जब विद्रधि के समान वेदना तथा वर्ण का स्त्राव उत्पन्न होता है, तब इसे शूक दोषज विद्रधि कहते है।

यह त्रिदोषज होकर इसके लक्षण विद्रधि के समान होते है।

१८) तिलकालक :-

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा ।

पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ।।

(मा.नि. ४८/१४)

कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते निरवशेषतः ।

सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात्तिलकालकान् ।।

(मा. नि. ४८/१५) (सु. नि. १४/१६-१७)

कृष्णानि भूत्वा मांसानि विशीर्यन्ते समन्ततः ।।

पक्वानि सन्निपातेन तान् विद्यात्तिलकालकान् ।

(अ. ह्र. उ. ३४/२५)

विषज जल शूक के योगों का प्रयोग करने पर अगर मांस पाक होकर वह काला या विविध वर्ण (श्वेत, नील, पित आदि) का हो जाता है तो उसे तिलकालक कहते है। इसमें शिश्न का मांस गलने लगता है।

तिलकालक सन्निपातज होने के कारण इसमें तीनों दोषों के संमिश्र लक्षण उत्पन्न होते है।

१९) अवपाटिका :-

दूरुढं स्फुटितं चर्मं निर्दिष्टमवपाटिका ।

(अ. ह्र. उ. ३४/१९)

शिश्नचर्म स्फुटित (फट) हो जाने के बाद उत्पन्न हुआ व्रण कठिनता से भर आता है तो तब उसे अवपाटिका कहते है।

२०) निरुद्धमणिः-

वातेन दूषितं चर्म मणौ सक्तं रुणद्धि चेत् ।।

स्त्रोतो मूत्रं ततोऽभ्येति मन्दधारमवेदनम् ।

मणेर्विकाशरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः ।।

(अ. ह्र. उ. ३४/१९-२०)

वात प्रकोप से दुष्ट शिश्नमणि के उपर की त्वचा चिपकने से मूत्रद्वार अवरोधित हो जाने पर मूत्र प्रवृत्ति वेदना विरहित लेकिन मंद-मंद होने लगती है।

इस प्रकार से उत्पन्न हुए मूत्रावरोध को (मणि अवरोध) निरुद्धमणि कहते है।

साध्यासाध्यत्व :-

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।

विद्रधिश्च न सिद्धयन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ।।

(मा.नि. ४८/१६) (सु. नि. १४/१८)

मांसोत्थमर्बुदं पाकं विद्रधिं तिलकालकान् ।

चतुरो वर्जयेदेषां शेषाञ्छीघ्रमुपाचरेत् ।

(अ. ह्र. उ. ३४/२६)

मांसार्बुद, मांसपाक, मांसविद्रधि और तिलकालक ये चार प्रकार के शुकदोष की चिकित्सा के लिए निषिद्ध (असाध्य) है ।

बाकी के शूक रोगों की चिकित्सा शीघ्र करने पर साध्य हो सकते है।

शुकदोष प्रकरण समाप्त

वृद्धि रोग

34

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय
चि. १२	नि. १२	नि. ११

सम्प्राप्ति:-

अध: प्रकुपितऽन्यतमो हि दोष: फलकोशवाहिनीभिप्रपद्य धमनी: फलकोषयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमित्याचक्षते ।।

(सु. नि. १२/४)

क्रुद्धो रुद्धागतिर्वायु: (वृद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायु:/ मा.नि.) शोफशूलकरश्चरन् ।। (अ. हृ. नि. ११/ २१)

मुष्कौ वङ्क्षणत: प्राप्य फल-कोषाभिवाहिनी:। प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करिति फलकोषयो: ।।

(अ. हृ. नि. ११/ २२)

विविध प्रकार के अहितकर आहार-विहारों के सेवन से, अपान वायु का अवरोधजन्य अथवा धातु क्षयजन्य प्रकोप हो जाता है । प्रकोपित वात के कारण वृक्षण स्थित फलकोशों से संवहन करने वाली धमनीयों में शोथ तथा शूल उत्पन्न होने से फलकोशों में वृद्धि रोग उत्पन्न होता है ।

वृद्धि रोग के पूर्वरुप :-

तासां भविष्यतां पूर्वरुपाणि-बस्तिकटीमुष्कमेढ्रेषु वेदना मारुतनिग्रह: फलकोशशोफश्चति ।।

(सु. नि. १२/५)

वृद्धि रोग के निम्न पूर्वरुप है ।

- इसमें अवरोधजन्य वात प्रकोप रहने के कारण बस्ति, कटी, मुष्क तथा मेढ्र इन स्थानों में वेदना उत्पन्न होती है ।
- फलकोश में शोथ उत्पन्न होता है।

वृद्धि रोग के प्रकार (संख्या सम्प्राप्ति) :-

वातपित्तश्लेष्मशोणितमेदोमूत्रान्त्रनिमित्ता: सप्तवृद्धयो भवन्ति । तासां मूत्रान्त्रनिमित्ते वृद्धो वातसमुत्थे, केवलमुत्पत्तिहेतूरन्यतम: ।।

(सु. नि. १२/ ३)

दोषास्त्र-मेदो-मूत्रान्त्रै: स वृद्धि: सप्तधा गद: ।। मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् ।

(अ. हृ. नि. ११/ २४)

वृद्धि रोग के निम्न **सात प्रकार** होते है ।

१)वातज	२)पित्तज	३)कफज	४)रक्तज
५)मेदोज	६)मूत्रज	७)अन्त्रज	

मूत्रज तथा अन्त्रज वृद्धि का कारण वात दोष ही होता है, सिर्फ हेतू भेद के अनुसार इनकी गिनती अलग की है ।

वातज वृद्धि :-

तत्रानिलपरिपूर्णां बस्तिमिवाततां परुषामनिमित्तानिलरुजां वातवृद्धिमाचक्षते,...।।

(सु. नि. १२/५)

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रुक्षो वातादहेतुरुक् ।

(अ. हृ. नि. ११/ २४)

- वृषण कोश की त्वचा रुक्ष हो जाती है ।
- वृषणकोश का स्पर्श पानी से भरे मषक जैसा लगता है।
- बिना किसी कारण के इसमें रुजा उत्पन्न होती है ।

पित्तज वृद्धि :-

....पक्वोदुम्बरसङ्काशां ज्वरदाहोष्मवतीं चाशुसमुत्थानपाकां पित्तवृद्धिं, ...।।

(सु. नि. १२/५)

पक्वोदुम्बरसङ्काश: पित्ताद्दाहोष्मपाकवान्।।

(अ. हृ. नि. ११/ २४)

- पित्तज वृद्धि में वृषणकोष पक्व औदुम्बर फल के सदृश दिखते है ।
- इसमें दाह, उष्मा और पाक रहता है ।

कफज वृद्धि :-

...कठिनामल्पवेदनां शीतां कण्डूमतीं श्लेष्मवृद्धिं, ...।।

(सु. नि. १२/५)

कफोच्छीतो गुरु: स्निग्ध: कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ।

(अ. हृ. नि. ११/ २५)

- वृषणकोषों का स्पर्श शीत एवं कठ़ोर होता है।

- उनमें गौरव उत्पन्न होता है तथा वृषणकोष की त्वचा स्निग्ध हो जाती है ।
- इनमें कण्डु तथा अल्प वेदना उत्पन्न होती है ।

रक्तज वृद्धि :-

...कृष्णस्फोटावृतांपित्तवृद्धिलिङ्गां रक्तवृद्धिं, ...।।

(सु. नि. १२/५)

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः ।।

(अ. हृ. नि. ११/ २५)

- रक्तज वृद्धि में वृषणकोष काले वर्ण के तथा विस्फोट युक्त हो जाते है।
- इसके अन्य लक्षण पित्तज वृद्धि के सदृश होते है ।

मेदज वृद्धि :-

...मृदुस्निग्धां कण्डूमतीमल्पवेदनां तालफलप्रकाशां मेदोवृद्धिं.....।।

(सु. नि. १२/५)

कफन्वमेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ।

(अ. हृ. नि. ११/ २६)

- मेदज वृद्धि के लक्षण प्रायः कफज वृद्धि के लक्षणों के समान होते है ।
- अण्डकोश का स्पर्श मृदु और आकार में ताड़ वृक्ष के फल सदृश होता है ।

मूत्रज वृद्धि :-

...मूत्रवृद्धिर्भवति, सा गच्छतोऽम्बुपूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति मूत्रकृच्छ्रवेदनां वृषणयोः श्वयथुं कोशयोश्चापादयति, तां मूत्रवृद्धिं विद्यात्, ...।।

(सु. नि. १२/५)

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः ।।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ्मृदुः ।
मूत्रकृच्छ्रमधः स्ताच्च वलयं फल-कोषयोः ।।

(अ. हृ. नि. ११/ २६- २७)

- जो व्यक्ति नित्य मूत्र वेग का धारण करते है, उसे मूत्रज वृद्धि होती है ।
- इसमें वृषणकोश चलते समय पानी से भरे मषक जैसे हिलने लगते है ।
- यह अल्प वेदनायुक्त तथा स्पर्श में मृदु होती है ।
- इसमें सकष्ट मूत्र प्रवृत्ती होती है ।
- वृषणकोश शोथ वलयाकार रहता है ।

अन्त्रज वृद्धि :-

...भारहरणबलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैर्वायुरभिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्येतरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्णसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरुपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातो बस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति, सशब्दमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते, तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ।।

(सु. नि. १२/ ६)

वातप्रकोपिभिहारैः शीततोयावगाहनैः ।।
धारणेरण-भारध्व-विषमाङ्गप्रवर्तनैः ।
क्षोभणैः क्षौभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ।।
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ।
कुर्याद्वङ्णसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ।।
उपेक्षमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मान-रुक्-स्तम्भवतीं स वायुः ।
प्रपीडितोऽन्तःस्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ।।
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ।

(अ. हृ. नि. ११/ २८-३१)

अन्त्रज वृद्धि के हेतू :-

वात प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करने से अन्त्रज वृद्धि उत्पन्न होती है। इसके निम्न हेतू होते है।

- शीतल जल में अवगाहन (बैठे रहना) करना ।
- मूत्रादि वेगों का वेग विधारण करना या असमय उन्हें प्रेरित करना ।
- अत्याधिक भारवहन करना ।
- अध्वगमन (पैदल चलना, चंक्रमण) करना ।
- अतिव्यायाम से अंगो में विषम गति निर्माण करना ।

सम्प्राप्तिः-

- उपरोक्त कारणों से प्रकोपित हुए वायु से क्षुद्रान्त्र में वैगुण्य उत्पन्न होता है ।
- प्रकोपित दोष तथा अन्त्र दोनों समुर्च्छित होकर वंक्षण संधि (स्थान) में ग्रन्थि सदृश शोथयुक्त अन्त्रज वृद्धि उत्पन्न करते है।

यथा समय योग्य उपचार न करने से वात प्रकोपक से निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

अन्त्रज के वृद्धि लक्षण :-

- उदर में आध्मान उत्पन्न होता है ।
- वृषणकोश में वेदना एवं शोथ उत्पन्न होता है।

- उदर में शूल और स्तम्भ उत्पन्न होता है ।
- अण्डकोश को दबाने से अन्त्र गल-गल शब्द करता हुआ उदर में अपने स्थान में चला जाता है, और दबाव निकालने पर वह फिर से वृषणकोश में चला आता है ।
- इसमें सभी लक्षण प्रायः वातज वृद्धि के समान होते है ।
- यह असाध्य होती है ।

ब्रघ्न/ वृद्धि :-

ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च ।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम् ।।
(च .चि. १२ /९४)

चरकाचार्य ने स्थानिक शोथ के अनुषंग से ब्रघ्न/ वृद्धि का वर्णन किया है

वृद्धि प्रकरण समाप्त

कास

संदर्भः-

चरक	सुश्रुत	अ.ह्रदय
चि. १८	उ. तं ५२	नि. ३

चरक एवं सुश्रुत ने श्वास, हिक्का और कास इन रोगों के हेतू और चिकित्सा में समानता होने के कारण हिक्का-श्वास अध्याय के बाद कास व्याधी का वर्णन किया है ।

वाग्भट ने रक्तपित्त के समान आशुकारी और सरक्त ष्ठिवन प्रवृत्ति कास (विशेषतः क्षत क्षयज) में उत्पन्न होने के कारण रक्तपित्त के बाद कास व्याधी का वर्णन किया है ।

कास की व्याख्या :-

कसनात् कासः । (च. चि. १८/८);

कासते अनेन इति कासः।

"कस गतौ" कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति, वायुरिति कासः ।

मुख से बाहर निकलते समय वायु से जब फुटे हुए कांस्य के बर्तन जैसा आवाज उत्पन्न होता है तब उसे कास कहते है ।

हेतू :-

प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः।

(च. नि. ८/ १९)

उक्ता ये हेतवो नृणां रोगयोः कासस्यापि च विज्ञेयास्त एवोत्पत्तिहेतवः।

धूमोपघाताद्रजसस्तथैव व्यायामरुक्षान्ननिषेवाणाच्च ।
विमार्गगत्वादपि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ।।

(सु.उ. ५२/३-४)

- धूमसेवन अर्थात दूषित हवा का सेवन करना।
- फुलों से निकलकर हवा में फैलनेवाले रजकणों के सम्पर्क में आना। (रजकण श्वासमार्ग में जाने से असात्म्यता उत्पन्न होने से श्वास-कास रोग उत्पन्न होते है।)
- अतिव्यायाम करना ।
- मलमूत्रादि वेगों का विशेषतः क्षवथू (छिंक) वेग का विधारण करना।
- अतिरुक्ष आहार द्रव्यें का सेवन करना ।
- अन्नसेवन करते समय अन्न (निवाला) अन्ननलिका की बजाय, प्राणनलिका में जाना। विशेष करके बातें करते हुए अन्नसेवन करने से ऐसा होता है ।
- जीर्ण प्रतिश्याय से कास की उत्पत्ति होती है।

कास की संप्राप्ति :-

व्याधी नाम	कास		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	प्राण, उदान	पाचक	अवलंबक
दूष्य	रसधातु		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	प्राणवह,		
स्त्रोतोदुष्टी	संग और विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	फुफ्फुस, कंठ		
उद्भवस्थान	आमाशय या पक्वाशय		
अधिष्ठान	उरः		
संचरण स्थान	प्राणवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	कास		
भेद (५)	वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, क्षयज		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	वातज, पित्तज, कफज	
	असाध्य	क्षतज, क्षयज	
	याप्य	जरा कास	

अधः प्रतिहतो वायुरुर्ध्वस्त्रोतः समाश्रितः ।
उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ।।
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् ।
आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ।।
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः ।

शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ।।
प्रतिघातविशेषेण तस् य वायोः सरंहसः ।
वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते ।।

(च. चि. १८/६-९)

हेतू सेवन से वात प्रकोप

प्राण की अनुलोम गति को उदान की ऊर्ध्व गति से अवरोध होना

प्रकोपित वायु का उरःप्रदेश हृदय एवं कण्ठ में अवरुद्ध होना

वायु द्वारा शिरःस्थ सभी स्त्रोतसों का संपुरण करना

शरीर में सर्वत्र आक्षेप उत्पत्ति

फुटे हुऐ कांस्यपात्र के आवाज जैसा आवाज कण्ठ से बाहर निकलना

कास रोग की उत्पत्ति
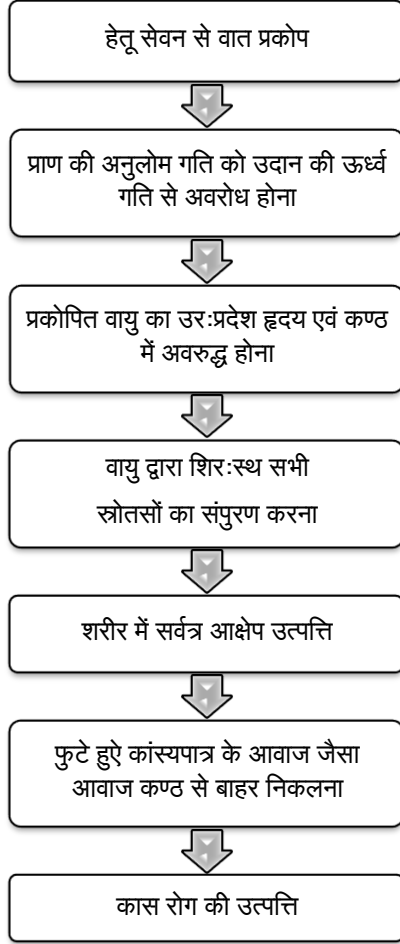
प्राणोह्युदानानुगतः प्रदुष्टः सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात्सहसा दोषः कासः स विद्विद्भिरुदाहृतस्तु ।।

(सु.उ. ५२/४,५)

......तत्राधो विहतोऽनिलः ।
ऊर्ध्व प्रवृतः प्राप्योरस्तस्मिन् कण्ठे च संसजन् ।।
शिरःस्त्रोतांसि सम्पूर्य ततोऽङ्गान्युत्क्षिपन्निव ।
क्षिपन्निवाक्षिणी पृष्ठमुरःपार्श्वे च पीडयन् ।।
प्रवर्तते स वक्त्रेण भिन्नकांस्योपमध्वनिः ।

(अ. हृ. नि. ३/ १९-२०)

- हेतू सेवन से प्रकोपित हुआ वात ऊर्ध्वगत होकर उरःप्रदेश में हृदय एवं कण्ठ में अवरुद्ध हो जाता है ।
- शिरःस्थ सभी स्त्रोतसों का संपुरण प्रकोपित वायु से होने से शरीर में सर्वत्र आक्षेप निर्माण होते है ।
- प्रकोपित वायु नेत्र को ऊर्ध्वतः खिंच लेता है तथा पृष्ठ, उर एवं पर्शुका इन स्थानों में वेदना उत्पन्न करता है।
- इन सभी लक्षणों को निर्माण करके फुटे हुए कांस्य के बर्तन से उत्पन्न हुए आवाज के समान आवाज वायु कण्ठ से बाहर निकलते समय उत्पन्न करता है, तब उसे कास कहते है।

कास के प्रकार :-

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा ।
पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ।।

(च. चि. १८/४)

स वातपित्तप्रभवः कफाच्च क्षतात्तथाऽन्यः क्षयजोऽपरश्च।
पञ्चप्रकारः कथितो भिषग्भिर्विवर्धितो यक्ष्मिविकारकृत् स्यात् ।।

(सु.उ. ५२/६)

पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः ।।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् । (अ. हृ. नि. ३/१७)

कास के एकुण ५ प्रकार होते है ।

१) वातज	२)पित्तज	३)कफज	४)क्षतज	५)क्षयज

- ये पाँचों कास उत्तरोत्तर बलवान होते है ।
- इनकी उपेक्षा करने से ये क्षय रोग में परिणत हो जाते है ।

कास के पूर्वरुपः-

पूर्वरुपं भवेत्तेषां शूलपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ।।

(च. चि. १८/५)

भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डूर्भोज्योपरोधो गलतालुलेपः।
सशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्निसादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि ।।
तेषां भविष्यतां रुपं कण्ठे कण्डूररोचकः ।।
शूकपूर्णाभकण्ठत्वं ....।

(अ. हृ. नि. ३/ १८)

कास में निम्न पूर्वरुप उत्पन्न होते है ।

- कण्ठ में कण्डु उत्पन्न होता है ।
- गल एवं तालु कफ से उपलिप्त रहते है तथा उनमें धान्य के तुसों के चुभने जैसी पीड़ा उत्पन्न होती है ।
- गले में गिलायु शोथ रहने के कारण भोजन गले से निगलते समय अवरोध उत्पन्न होता है ।(गिलनकष्टता)
- अग्निमांद्य उत्पन्न होने के कारण अन्नसेवन के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है ।

वातज कास :-

रुक्षशीतकषायाल्पप्रमिताशनं स्त्रियः ।
वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ।।
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम् ।
शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्न प्रताम्यतः ।।
निर्घोषदैन्यस्तननदौर्बल्यक्षोभमोहकृत् ।
शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्ताऽल्पतां व्रजेत् ।।
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति ।
ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ।।

(च. चि. १८/१०-१३)

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशुली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः ।
प्रसक्तमन्तःकफमीरणेन कासेत्तु शुष्कं स्वरभेदयुक्तः ।।

(सु.उ. ५२/८)

कुपितो वातलैर्वातः शुष्कोरःकण्ठवक्त्रताम् ।।
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलं मोहक्षोभस्वरक्षयान् ।
करोति शुष्कं कासं च महावेगरुजास्वनम् ।।
सोऽङ्गहर्षी कफं शुष्कं कासं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पता व्रजेत् ।

(अ. हृ. नि. ३/ २२-२३)

वातज कास के निम्न हेतू है ।

- रुक्ष, शीत (गुण), कषाय (रस),आदि वात प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करना ।
- अल्पाशन, प्रमिताशन, वेगविधारण या अतिमैथुन करना ।

इस कारणों से उत्पन्न वातज कास में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- हृदय, पार्श्व, उर, शिर, शंख, उदर आदि स्थानों में वेदना उत्पन्न होती है ।
- स्वरयंत्र एवं कण्ठ में अभिष्यंद्य उत्पन्न होने से स्वरभेद उत्पन्न होता है ।
- मुखशोष, दैन्य एवं क्षाम मुख ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- शरीर एवं मन का क्षोभ होता है ।
- रोमहर्ष, दौर्बल्य, मोह एवं बल-स्वर-ओज क्षीणता ये लक्षण उत्पन्न होते है ।
- उत्पन्न कास में शुष्क कफ रहने से सकष्ट एवं अल्पष्ठिवन प्रवृत्ति होती है ।
- अल्पष्ठिवन बाहर निकलने के बाद कास कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है ।
- स्निग्ध, अम्ल, लवण और उष्ण द्रव्यों का सेवन करने से कास शान्त हो जाता है ।
- भुक्तान्न के अंतिम काल में वायु की उर्ध्व गति बढ़ जाने से कासवेग प्रबल हो जाते है ।

पित्तज कास :-

कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम् ।
पित्तकासकरं क्रोधः संतापश्चाग्निसूर्यजः ।।
पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः ।
उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ।।
प्रततं कासमानश्च ज्योतीषीव च पश्यति ।
श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ।।

(च. चि. १८/ १४-१६)

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः ।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डुः परिदह्यमानः।।

(सु.उ. ५२/९)

पित्तात्पीताक्षिकफता तिक्तास्यत्वं ज्वरो भ्रमः ।
पित्तासृग्वमनं तृष्णा वैस्वर्य धूमकोऽम्लकः ।
प्रततं कासवेगेन ज्योतिषामिव दर्शनम् ।।

(अ. हृ. नि. ३/२४-२५)

निम्न कारणों से पित्तज कास उत्पन्न होता है ।

- कटु, उष्ण, विदाही, अम्ल, क्षार आदि पित्तकर द्रव्यों का अधिक सेवन करना ।
- क्रोध एवं संताप करना ।
- अग्नि तथा आतप सेवन करना।

पित्तज कास में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- कास के साथ कफयुक्त, पीतवर्ण की ष्ठिवन प्रवृत्ति बार-बार होती है ।
- नेत्र पीले वर्ण के होते है ।
- मुख का स्वाद तिक्त रस का हो जाता है ।
- उरः एवं कण्ठ से धूम निकलता है ।
- पीतवर्ण की और कटु रस एवं रक्त युक्त छर्दि उत्पन्न होती है।
- कण्ठ तक अम्ल पानी आमाशय से उदिरीत (अम्लक) होता है।
- कास के वेग निरंतर आते रहते है।
- कास वेग के समय आँखों के सामने तारे चमकने जैसा प्रतित होता है।
- तृष्णा, दाह, मोह, अरुचि, भ्रम, ज्वर, स्वरभेद एवं मुखशोष ये लक्षण उत्पन्न होते है।

कफज कास :-

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः ।
वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ।।
मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः ।

लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ।।
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम् ।
कासमानो ह्यरुग् वक्षः संपूर्णमिव मन्यते ।।

(च. चि. १८/ १७-१९)

प्र(वि)लिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तः कासेत् ना सान्द्रकफं कफेन।।

(सु.उ. ५२/१०)

कफादुरोऽल्परुङ्मूर्द्धहृदयं स्तिमितं गुरु ।
कण्ठोपलेपः सदनं पीनसच्छर्द्यरोचकाः ।।
रोमहर्षो घनस्निग्धश्वेश्लेष्मप्रवर्तनम् ।

(अ. हृ. नि. ३/ २६-२७)

निम्न कारणों से कफज कास उत्पन्न होता है।

- गुरु, अभिष्यन्दि, मधुर, स्निग्ध आदि कफकर गुणों से युक्त आहार का सेवन करना ।
- दिवास्वाप लेना तथा शरीर की चेष्टा कम करना।

कफज कास में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- अग्निमांद्य के कारण अरुचि उत्पन्न होती है ।
- आमाशय दुष्टि से छर्दि एवं उत्क्लेश उत्पन्न होता है ।
- संचित कफ से प्रतिश्याय उत्पन्न होता है जिसे पीनस कहते है।
- शरीर की गतिविधी (हालचाल) मंद (स्तिमित) होती है ।
- मुख का स्वाद मधुर होता है ।
- सर्वांग गौरव, रोमहर्ष, शिरःशूल एवं अंगसाद उत्पन्न होता है ।
- संचित कफ के कारण क्लेदाधिक्य एवं कण्ठोपलेप उत्पन्न होता है ।
- उरःस्थान तथा हृदय में गौरव की अनुभूति और मन्द वेदनाऐं उत्पन्न होती है ।
- कफज कास में घन, सान्द्र, स्निग्ध और मधुर रस की कफयुक्त ष्ठिवन प्रवृत्ति होती है ।

क्षतज कासः-

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरः क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ।।
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम् ।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ।।
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ।।
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः ।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात्क्षतोद्भवात् ।।

(च. चि. १८/२०-२३)

वक्षोऽतिमात्रं विहतं तु यस्य व्यायामभाराध्ययनाभिघातैः ।
विश्लिष्टवक्षाः स नरः सरक्तं ष्ठीवत्यभीक्ष्णं क्षतजं तमाहुः ।।

(सु.उ. ५२/११)

युद्धाद्यैः साहसैस्तैतैः सेवितैरयथाबलम् ।।
उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली।
कुपितः कुरुते कासं तेन सशोणितम् ।।
पीतं श्यावं च शुष्कं च ग्रथितं कुथितं बहु ।
ष्ठीवेत्कण्ठेन रुजता विभिन्नेनेव चोरसा ।।
सुचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णा वैस्वर्यकम्पवान् ।।
पारावत इवाकुजन् पार्श्वशूली ततोऽस्य च ।
क्रमाद्वीर्य रुचिः पक्ता बलं वर्णश्च हीयते ।।
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः।

(अ. हृ. नि. ३/२७-३२)

- अतिव्यवाय, भारवहन, अध्वगमन, द्वन्द्व युद्ध या घोड़ा-हाथी के साथ लड़ना आदि अति साहसजन्य कार्य (अपने शक्ति से अधिक) करने से रुक्ष शरीर के पुरुष में उरः स्थान में क्षत उत्पन्न होता है ।
- इस क्षत स्थान में प्रकोपित वात स्थानसंश्रय करके क्षतज कास उत्पन्न करता है।

क्षतज कास में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- शुरुवात की अवस्था में शुष्क कास रहता है।
- बाद में कुछ कालावधी व्यतित होने के बाद सरक्त ष्ठिवनयुक्त कास उत्पन्न होता है।
- कासवेग से कण्ठ तथा उर स्थान में अत्याधिक पीडा होती है।
- सम्पूर्ण शरीर में सूचितोदवत वेदना उत्पन्न होती है ।
- शरीर पर कहीं भी स्पर्श करने से उसे दुःखद अनुभूति होती है ।
- अग्निमांद्य, बल तथा वर्ण हानि उत्पन्न होती है ।
- अरुचि, क्षीणता, अंगभेद, पर्वभेद, ज्वर, तृष्णा, स्वर में विकृति आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।
- क्षतज कास से पीडित व्यक्ति सतत कबुतर के भाँति निरंतर कहरता रहता है ।
- ष्ठिवन का स्वरुप पीत, श्याव, शुष्क, ग्रथित, कुथित (सड़ा हुआ) और सरक्त रहता है ।

वाग्भटाचार्य ने इसमें पित्त के अनुबंध का उल्लेख किया है।

क्षयज कास के लक्षणः-

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।

घृणितां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देक्षयप्रदम् ।।
(च. चि. १८/२४)

कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ।
दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम् ।।
स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम् ।
अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः ।।
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः ।
पाणिपादतलैः श्र्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी ।।
ज्वरोमिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः।
भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ।।
(च. चि. १८/२५-२८)

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम्।।
(सु.उ. ५२/१२)

ससर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः वदन्ति ।
वायुप्रधानाः कुपिता धातवो राजयक्ष्मिणः ।।
कुर्वन्ति यक्ष्मायतनैः कासं ष्ठीवेत्कफं ततः ।
पूतिपूयोपमं पीतं विस्त्रं हरितलोहितम् ।।
लुच्येत इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च ।
अकस्मादुष्णशीतेच्छा बह्वाशित्वं बलक्षयः ।।
स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमद्दर्शननेत्रता ।
ततोऽस्य क्षयरुपाणि सर्वाण्याविर्भवन्ति च ।
(अ. हृ. नि. ३/३२-३५)

विषमाशन, असात्म्य आहार का सेवन, अतिव्यवाय, वेगावरोध करना। आदि कारणों से सुकुमार व्यक्ति में या सतत रंज, दुःख या विलाप करनेवाले व्यक्ति में प्रकोपित वातादि दोषों से रसादि धातुओं क्षय उत्पन्न होने से क्षयज कास उत्पन्न हो जाता है ।

क्षयज कास में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- रसादि धातु का क्षय होने से शरीर क्षीण हो जाता है ।
- दुर्गन्धित, हरित, पुय तथा रक्त युक्त ष्ठिवन क्षयज कास में उत्पन्न होता है ।
- कास वेग के समय रुग्ण को हृदय अपने स्थान से च्युत हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है ।
- कभी शीतानुभूति तो कभी उष्णानुभूति होती है ।
- रुग्ण बहुत आहार सेवन करता है लेकिन वह बलहीन और कृश ही रहता है।
- चहरे की त्वचा स्निग्ध एवं प्रसन्न दिखाई देती है।
- हस्त-पाद तल, स्पर्श में श्लक्ष्ण होते है ।
- रुग्ण दूसरों के सद्गुणों की ईर्ष्या तथा उनके प्रति घृणा करते रहता है।
- रुग्ण ज्वर, पार्श्वशूल, पीनस, अरुचि, अतिसार या विबंध, आदि त्रिदोष युक्त लक्षणों से पीडित रहता है।
- बिना कारण के स्वरभेद उत्पन्न होता है।

कास का साध्यासाध्यत्व :-

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ।।
नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ।।
(च. चि. १८/ २९-३०)

वृद्धमासाद्य भवेत्तु यो याप्यं तमाहुर्भिषसतु कासम् ।।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ।
(सु.उ. ५२/१३)

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
याप्यो वा बलिनां, तद्वत् क्षतजोऽभिनवौ तु तौ ।।
सिध्येतामपि सानाथ्यात्साध्या दोषैः पृथक् त्रयः ।
मिश्रा याप्या द्वयात्सर्वे जरसा स्थविरस्य च ।।
(अ. हृ. नि. ३/ ३६-३७)

- उपद्रव रहित वातज, पित्तज और कफज कास साध्य होते है ।
- नवीन और चतुष्पाद संपन्न रहने पर क्षयज तथा क्षतज कास साध्य हो सकते है ।
- अगर रुग्णबल अच्छा हो, रसादि धातु क्षीण न हो, अग्निबल अगर अच्छा हो तो क्षतज और क्षयज कास साध्य हो सकते है ।
- क्षीण व्यक्ति में क्षतज कास असाध्य और व्यक्ति बलवान वह तो याप्य होता है ।
- स्थविर अर्थात वार्धक्य में उत्पन्न होनेवाले सभी प्रकार के कास रोग याप्य होते है ।
- रसादि धातुओं का अत्याधिक क्षय हो जाने पर क्षतज और क्षयज कास घातक हो जाते है ।

कास के निदानार्थकर रोग :-

कासाच्छ्वासक्षयच्छर्दिस्वरसादादयो गदाः ।
भवन्त्युपेक्षया यस्मात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ।।
(अ. हृ. नि. ३/ ३८)

कास की उपेक्षा करने पर श्वास रोग उत्पन्न होता है। श्वास से क्षयरोग उत्पन्न होता है। क्षयरोग के कारण छर्दि और छर्दि से स्वरभेद

उत्पन्न होता है।

रोग	निदानार्थकर रोग
कास	श्वास
श्वास	क्षय
क्षय	छर्दि
छर्दि	स्वरभेद

धूमोपहत रोग :-

धुमोपघात इस हेतू से कास के अतिरिक्त निम्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो सकते है ऐसा सुश्रुताचार्य ने कहा है ।

अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि धूमोपहत लक्षणम् ।।
श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते ।
चक्षुषो परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ।।
सधूमकं निःश्वसिति घ्रेयमन्यन्न वेत्ति च ।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ।।
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति ।
धूमोपहत इत्येषः, श्रृणु तस्य चिकित्सितम् ।।

(सु . सू. १२/ २९-३२)

श्वासावरोध, क्षवयथु (छींक), नेत्र दाह, आरक्त नेत्रता, अत्याधिक आध्मान, कास, तृष्णा, सर्वांग दाह, ज्वर, उदासिनता ये लक्षण धुआँ, जहरिली वायु आदि दुषित हवा के सेवन से उत्पन्न होते है।

- बहिःश्वसन से धुआँ बाहर निकलता है।
- श्रवण, गन्ध या रस का ज्ञान हो नहीं पाता है ।
- मुर्च्छा आ सकती है और अन्त में मृत्यु भी हो सकता है ।

कास प्रकरण समाप्त

श्वास

36

संदर्भ:-

चरक	सुश्रुत	अ.हृदय	अ.संग्रह	मा. नि.
चि.१७	उ.त. ५१	नि. ४	नि. ४	

श्वास एवं हिक्का का महत्व :-

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणनाशु निकृन्ततः ।।
अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तौः पृथग्विधैः ।
अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ।।

(च. चि. १७/ ६-७)

संसार में अनेक रोग प्राणियों का प्राणहरण करके उन्हें मार डालते है, परंतु श्वास और हिक्का रोग जितनी शीघ्रता से प्राणहरण करते है, उतनी शीघ्रता से दूसरा कोई रोग प्राण हरण नहीं करता है । कोई भी रोग से पीडित रुग्ण जब मरणासन्न हो जाता है, तो उस समय उसे अत्यन्त कष्टकारक श्वास और हिक्का ये रोग होते है । इस लिए श्वास और हिक्का ये रोग अति महत्वपुर्ण होते है ।

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात् ।
व्यायामान्ग्राम्यधर्माध्वरुक्षान्नविषमाशनात् ।।
आमप्रदोषदानाहाद्रौक्ष्यादत्यपर्तपणात् ।
दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद्द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः ।।
अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् ।
रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ।।
पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ ।
निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ।।
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात् ।।
जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ।।
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात् ।
कण्ठोरसः प्रतीघाताद् विबन्धैश्च पृथग्विधैः ।।

(च. चि.१७ /११-१५)

विदाहिगुरुविष्टम्भिरुक्षाभिष्यन्दिभोजनैः ।
शीतपानासनस्थानरजोधूमानिलानलैः ।।
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः ।
आमदोषाभिघातस्त्रीक्षयदोषप्रपीडनैः ।।
विषमाशनाध्यनशनैस्तथा समशनैरपि ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ।।

(सु. उ. ५०/३-५)

यैरेव हिक्का बहुभिः सम्प्रर्तते ।
तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ।।

(सु.उ. ५१/३)

कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्ववा दोषकोपनैः।
आमातिसारवमथुविषपाण्डुज्वरैरपि ।।
रजोधूमानिलैर्मर्मघातादतिहिमाम्बुना ।

(अ.हृ. नि. ४/१-२)

निम्न प्रकार के वातादि दोषों के सामान्य प्रकोपक हेतूओं से श्वास एवं हिक्का रोग उत्पन्न होते है ।

- निष्पाव, माष, पिण्याक, तिल तैल आदि पदार्थों का सेवन करना ।
- पिष्टमय पदार्थों का, जलज-आनुप प्राणीयों के मांस का सेवन करना।
- दहि, दूध, विदाहकर, गुरु, रुक्ष, विष्टंभि, अभिष्यन्दी अन्नपान का सेवन करना ।
- विषमाशन, अध्यशन, समशन करना ।
- तिक्त तथा दाह करनेवाले पदार्थों का सेवन करना।
- रजकण, धूम, थंडी हवा, बर्फ का थंडा पानी पीना या आईस्क्रिम आदि थंडे पदार्थों का सेवन करना ।
- अतिचंक्रमण, अतिव्यायाम, व्यवाय, वेगावरोध करना।
- शरीर को अत्याधिक रुक्ष करनेवाले रुक्षन, स्वेदन, लंघन तथा पंचकर्मादि उपचार करना।
- पंचकर्मादि संशोधन कर्म का अतियोग होना/करना।
- विपरित द्वन्द्व गुणों का प्रयोग करना।
  (रुक्ष-स्निग्ध, उष्ण-शीत आदि विपरित गुणों के पदार्थ एकसाथ सेवन करना।)
- आमदोष, आनाह या आमतिसार, छर्दि, विष, पाण्डु, ज्वर, मर्मबाधा, प्रतिश्याय, क्षत, क्षयरोग, उदावर्त, रक्तपित्त, विसुचिका, अलसक, पाण्डु और विष सेवन आदि विकारों से पीड़ित होना।

श्वास के प्रकार :-

क्षुद्रकस्तकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चधा ।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ।

(सु.उ. ५१/५)

क्षुद्रस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चमः ।

(अ.हृ. नि. ४/२)

श्वास व्याधी के पाँच प्रकार होते है।

१) क्षुद्र	२)तमक	३)छिन्न	४)महा	५)ऊर्ध्व

श्वास की सम्प्राप्ति :-

व्याधी नाम	**श्वास**		
अशांश संप्राप्ति			
दोष	वात	पित्त	कफ
	प्राण, उदान	पाचक	अवलंबक
दूष्य	रसधातु,		
अग्नि	जाठराग्निमांद्य		
दुष्ट स्त्रोतस	प्राणवह		
स्त्रोतोदुष्टी	संग और विमार्ग गमन		
ख वैगुण्य	फुफ्फुस		
उद्भवस्थान	आमाशय या पक्वाशय		
अधिष्ठान	उरः		
संचरण स्थान	प्राणवह स्त्रोतस		
रोगमार्ग	मध्यम		
व्यक्ति	श्वास		
भेद (५)	ऊर्ध्व, छिन्न, महा, तमक, क्षुद्र		
साध्यासाध्यत्व	साध्य	क्षुद्र- साध्य	
	कष्टसाध्य	तमक	
	असाध्य	ऊर्ध्व, छिन्न, महा	
	याप्य	तमक	

यदा स्त्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासन्करोति सः ।।

(च. चि.१७ /४५)

विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथकफसंयुतः ।
श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते ।।

(सु.उ. ५१/४)

कफोपरुद्धगमनः पवनो विष्वगास्थितः ।
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टः स्त्रोतांसि दूषयन् ।।
उरःस्थः कुरुते श्वासमाशयसमुद्भवम् ।

- प्रकोपित वात की गति कफ से अवरुद्ध हो जाने से वह सम्पुर्ण शरीर में तिर्यग् गति से प्रसारित होकर उरः स्थान में स्थानसंश्रय करता है।
- उरःस्थ प्रकोपित वायु से प्राणवह, अन्नवह तथा उदकवह इन तीनों स्त्रोतसों की दूष्टि होने से आमाशय समुद्भव श्वास रोग की उत्पत्ति होती है।

हेतू सेवन

अग्निमांद्य से आम निर्मिती होकर साम क्लेदक कफ की उत्पत्ति

सामक्लेदक कफ के कारण फुफ्फुसगत अवलंबक कफ का साम होना

स्त्यान अवलंबक कफ प्राणवह स्त्रोतस में अवरोध होना एवं प्रकोपित वायु से प्राणवह स्त्रोतस रुक्ष, कठिण और संकुचित होना

प्राण तथा उदान वायु की गति प्रतिलोम होना

अवरोधित वायु (व्यान) सम्पुर्ण शरीर तथा उरः स्थान में तिर्यग् गति से प्रसारित होना

वायु द्वारा प्राणवह, अन्नवह तथा उदकवह इन तीनों स्त्रोतसों की दुष्टी

आमाशय समुद्भव श्वास रोग की उत्पत्ति

श्वास के पूर्वरुप :-

आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च ।
प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम् ।।

(च. चि.१७ /२०)

प्राग्रुपं तस्य हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिः परा ।
आनाहः पार्श्वयोः शूलं वैरस्यं वदनस्य च ।।

(सु.उ. ५१/६)

प्राग्रूपं तस्य हृत्पार्श्वशूलं प्राणविलोमता ।।
आनाहः शङ्खभेदश्च.........। (अ.हृ. नि. ४/४)

आनाह, पार्श्वशूल, हृत्शूल, प्राण की विलोम (विपरित) गति, भक्तद्वेष, अरति, शंख प्रदेश में भेदनवत पीडा तथा आस्यवैरस्य ये श्वास व्याधी के पूर्वरुप है ।

१) क्षुद्रश्वास :-

रुक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ।।
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ।।
नैन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुजम् ।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ।।

(च. चि.१७ /६५-६७)

किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते ।
निषण्णस्यैति शान्तिं च स क्षुद्र इति संज्ञितः ।।

(सु.उ. ५१/७)

.....तत्रायासातिभोजनैः ।
प्रेरितः प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वयं संशमनं मरुत् ।।

(अ.हृ. नि. ४/५)

- शारीरिक श्रम (आयास)करना ।
- अतिभोजन, रुक्ष अन्न के सेवन करना ।

उपरोक्त कारणों से वायु प्रकोपित होकर श्वास मार्ग में क्षुद्र श्वास उत्पन्न करता है ।

- यह क्षुद्रश्वास अन्य श्वास की तरह शरीर को बाधाकारक नहीं होता है ।
- इसके कारण अन्नपान सेवन, इन्द्रियों के कर्म आदि में विकृति उत्पन्न नहीं होती है ।
- क्षुद्र श्वास से उपद्रव उत्पन्न नहीं होते है।
- यह श्वास साध्य होता है ।

२) तमकश्वास :-

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ।।
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरुकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ।।
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ।।
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहुर्तं लभते सुखम् ।
अथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छन्कोति भाषितुम् ।
न चापि निद्रां लभते शयानः श्वासपीडितः ।
पार्श्वे तस्यावगृठाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ।।
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ।।
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लैष्मलैश्चाभिवर्धते ।
स याप्यस्तमकश्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ।।

(च. चि.१७ /५५-६२)

तृट्स्वेदवथुप्रायः कण्ठघुर्घुरिकान्वितः ।
विशेषाद्दुर्दिने ताम्येच्छ्वासः स तमको मतः ।।
घोषेण महताऽऽविष्टः सकासः सकफो नरः ।
यः श्वसित्यबलोऽन्नद्विट् सुप्तस्तमकपीडितः ।।
स शाम्यति कफे हीने स्वपतश्च विवर्धते ।

(सु.उ. ५१/८-१०)

प्रतिलोमं सिरा गच्छन्नुदीर्य पवनः कफम् ।
परिगृह्य शिरोग्रीवमुरः पार्श्वे च पीडयन् ।।
कासं घर्घुरकं मोहमरुचिं पीनसं तृषम् ।
करोति तीव्रवेगं च श्वासं प्राणोपतापिनम् ।।
प्रताम्येत्तस्य वेगेन निष्ठ्यूतान्ते क्षणं सुखी ।
कृच्छ्राच्छयानः श्वसिति निषण्णः स्वास्थ्यमृच्छति ।।
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुःश्वासी काङ्क्षत्युष्णं सवेपथुः ।।
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्द्धते ।
स याप्यस्तमकः साध्यो नवो वा बलिनो भवेत् ।।

(अ.हृ. नि. ४/६-१०)

- प्रकोपित कफ प्राणवह स्त्रोतस में लिप्त हो जाने से प्राण तथा उदान वायु के गति में अवरोध उत्पन्न होता है ।
- अवरोध के कारण प्राण तथा उदान वायु की गति प्रतिलोम हो जाती है।
- इस कारण प्रतिलोम हुए वायु से ग्रीवा तथा शिरःप्रदेश में ग्रह उत्पन्न होता है ।
- कफ से वायु संयुक्त होने के कारण पीनस (नासास्त्राव) तथा उरःस्थान में घुर्घुरक (Wheezing sound) उत्पन्न होते है।

- इस कफावरोध से अतिव तीव्र गति से श्वास चलता है, जो प्राणहर हो सकता है।
- श्वास वेग के समय आँखो के सामने अंधेरा छा (तमः प्रवेश) जाता है।
- बार-बार कास के वेग आते रहते है।
- कासवेग के कारण अत्यन्त कष्टप्रद वेदना उत्पन्न होती है।
- कास के उपरान्त कफ-ष्ठिवन होने पर श्वासावरोध कम हो जाता है, तब उसे सुखानुभूति होती है।
- बार-बार उत्पन्न हुए कासवेग के कारण कण्ठ तथा मुख में उध्वंस (Congestion) उत्पन्न होता है।
- श्वासवेग तथा कास के कारण रोगी कष्टपूर्वक कुछ एक शब्द ही बोल पाता है ।
- निद्रा अवस्था में (शयन स्थिती) में श्वास के वेग बढ़ जाते है।
- बैढ़ने से (आसन) तथा उष्ण आहार-विहार से श्वासवेग में सुखानुभूति मिलती है ।
- कपाल प्रदेश में स्वेदप्रवृत्ति होती है ।
- मुख शोष, पार्श्वग्रह आदि लक्षण उत्पन्न होते है ।
- आकाश में बादल आने पर, शीत वायु से, प्राग्वात (पुर्व दिशा से आने वाली वायु) तथा कफवर्धक (गुरु, स्निग्ध) पदार्थों के सेवन से श्वासवेग आते है या बढ़ जाते है ।
- एक वर्ष से पुराना तमक श्वास याप्य होता है ।
- एक साल से कम कालावधी वाला तमकश्वास साध्य होता है।

प्रतमक श्वासः-

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम् ।

(च. चि.१७ / ६३)

मूर्च्छाज्वराभिभूतस्य ज्ञेयः प्रतमकस्तु सः ।।

(सु.उ. ५१/१०)

प्रतमक : ज्वरमूर्च्छायुतः शीतैः शाम्येत्प्रतमकस्तु सः ।

(अ.हृ. नि. ४/११)

- ज्वर तथा मूर्च्छा युक्त तमकश्वास में शीत उपचार से अगर उपशय मिलता है तो उसे प्रतमक श्वास कहते है ।
- प्रतमक श्वास पित्त प्रधान होता है ।

संतमक श्वास :-

उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ।।
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।
मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात् संतमकं तु तम् ।।

(च. चि.१७ / ६३-६४)

- उदावर्त, रजकण, अजीर्ण, क्लिन्नदेह (साम कफ से उपलिप्त शरीर), कायनिरोधज (वेगावरोध) आदि कारणों से सन्तमक श्वास के वेग रात में (या तम गुण के प्राबल्य से) उत्पन्न हो जाते है ।
- रुग्ण को अंधरे से घेरा है ऐसा लगने के कारण इस श्वास को सन्तमक श्वास कहते है ।
- सन्तमक श्वास शीत उपचार से शांत होता है ।

३) छिन्नश्वास : -

यस्तु श्वसति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।
न वा श्वसति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ।।
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना ।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ।
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलेपन्नरः ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं प्रजहात्यसून् ।।

(च. चि.१७ /५२-५४)

आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नरः ।
सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत् ।।

(सु.उ. ५१/११)

छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नं मर्मच्छेदरुजार्दितः ।।
सस्वेदनमूर्च्छः सानाहो बस्तिदाहनिरोधवान् ।
अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचनः ।।
शुष्कास्यः प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतनः ।

(अ.हृ. नि. ४/११-१३)

छिन्न श्वास में निम्न लक्षण उत्पन्न होते है ।

- अपने संपूर्ण बल का प्रयोग करने पर ही रुग्ण रुक्-रुककर श्वास ले पाता है।
- हृदयादि मर्म में छेदनवत तीव्र पीडा होने के कारण रोगी श्वास ले नहीं पाता है।
- आनाह, स्वेदाधिक्य, मूर्च्छा एवं बस्तिदाह ये लक्षण उत्पन्न होते है।
- विप्लुताक्षः- आँसुओं से आँख भर आती है ।
- परिक्षीण :- शारीरिक बल हानि की होती है ।
- रक्तैकलोचना :- एक आँख आरक्त वर्ण की हो जाती है ।
- विचेता :- संज्ञानाश उत्पन्न होता है ।
- परिशुष्कता :- मेद तथा मांस का क्षय होने से शोष होता है।
- वैवर्ण्य :- (नष्टछाया या कान्ति-वाग्भट), शरीर का वर्ण श्याव-नील वर्ण का हो जाता है ।
- रोगी श्वास की पीड़ा से दीन हो जाता है ।
- वात प्रकोप के कारण असंबंध बातें (प्रलाप) करने लगता है।
- छिन्न श्वास शीघ्र मारक होता है ।

४) महाश्वास :-

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दु:खितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ।।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ।।
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ।।

(च. चि.१७ /४६-४८)

निःसंज्ञः पार्श्वशूलार्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान् ।
संरब्धनेत्रस्त्वायम्य यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः ।।

(सु.उ. ५१/१२)

महता महता दीनो नादेन श्वसति क्रथन् ।।
उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्तनयनाननः ।।
वक्षः समाक्षिपन् बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ।
शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्णशङ्खशिरोतिरुक् ।।

(अ.हृ. नि. ४/१३-१५)

- प्रकोपित वायु की ऊर्ध्व गति हो जाने से रुग्ण दीन हो जाता है।
- मदमस्त बैल की तरह जोर-जोर से उँचे शब्द के साथ दिन-रात श्वास लेने लगता है ।
- इस रोगी का ज्ञान और विज्ञान नष्ट हो जाता है ।
- नेत्र और मुख चंचल हो जाते है ।
- वह शब्द टूट-टूटकर (विशिर्णवाक्) बोलता है ।
- मल तथा मूत्र में प्रवृत्ति में अवरोध उत्पन्न होता है।
- कण्ठ में शोष और कर्ण-शिर-शंख में शूल उत्पन्न होता है ।
- महाश्वास से पीडित रोगी शीघ्र मर जाता है।

५) ऊर्ध्वश्वास :-

दीर्घं श्वसिति यस्तुर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्त्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ।।
उर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ।।
उर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ।।

(च. चि.१७ /४९-५१)

मर्मस्वायम्यानेषु श्वसन्मुढो मुहुश्च यः ।
ऊर्ध्वप्रक्षी हतरवस्तमूर्ध्वश्वासमादिशेत् ।।

(सु.उ. ५१/१३)

दीर्घमूर्ध्वं श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृत्तमुखस्त्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ।।
ऊर्ध्वदृग्वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परितः क्षिपन् ।
मर्मसु च्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक् ।।

(अ.हृ. नि. ४/१६-१७)

- श्वासप्रणाली के मुख कफ से उपलिप्त होने से वायु की गति अवरुद्ध होने के कारण श्वासकष्टता उत्पन्न होती है ।
- रुग्ण को श्वास अन्दर खिंचने के लिए अधिक कष्ट होता है।
- मुख को उपर करके रुग्ण ऊर्ध्व दिशा में ताकते रहता है।
- नेत्र को चंचलता से चारों ओर घुमाता है ।
- मुखशुष्कता, अरति, मोह और हृदयादि मर्मो में वेदनाओं से आक्रान्त होने के कारण कुछ बोल नहीं पाता है ।

श्वास का साध्यसाध्यत्व :-

साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ।।

(सु.उ. ५१/१४)

ऐते सिद्ध्येयुरव्यक्ता व्यक्ताः प्राणहरा ध्रुवम् ।

(अ.हृ. नि. ४/१८)

इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः ।
एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः ।
भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत् ।
उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ।।

(च. चि.१७ /६८-६९)

- छिन्न, महा तथा ऊर्ध्व श्वास अस्पष्ट अवस्था (अव्यक्त या अल्पव्यक्त लक्षण) में साध्य होते किन्तु उन्हें सम्पूर्ण व्यक्तता आने पर असाध्य हो जाते है ।
- चरकाचार्य के अनुसार महा, ऊर्ध्व एवं छिन्न श्वास प्राणनाशक होते है ।

श्वास प्रकरण समाप्त